(राष्ट्रीय शिक्षा नीति–2020 के अनुरुप एवं उत्तर प्रदेश के समस्त विश्वविद्यालय के एकीकृत पाठ्यक्रमानुसार)

गॉधी युग और जन आन्दोलन
(Era of Gandhi and Mass Movement)

डा. राजेश कुमार शर्मा
प्रोफेसर– इतिहास विभाग
राजकीय महाविद्यालय, रूधौली
बस्ती (उ0 प्र0)

नित्या प्रकाशन

प्रथम संस्करण 2025

प्रकाशक की लिखित अनुमति के बिना किसी भी रूप में इस पुस्तक या उसके किसी भाग को पुन: प्रकाशित नहीं किया जा सकता है ।

प्रकाशक की अस्वीकृति :– इस पुस्तक को प्रकाशित करते समय हर बात का उचित ध्यान रखा गया है । फिर भी अनजाने में हुई किसी भी गलती के लिए लेखक या प्रकाशक किसी भी तरह से जिम्मेदार नहीं है ।

किसी भी प्रकार की टिप्पणी या सुझाव सिर्फ लेखक या प्रकाशक को भेजा जा सकता है । अन्य स्थान पर नहीं।

कॉपीराइट @ **डा. राजेश कुमार शर्मा**

ISBN : 978-93-5857-586-6 (P)
978-93-5857-440-1 (E)

DOI : https://doi.org/10.65651/NP.9789358575866.2025.1-236

Price : Rs. 600.00

प्रकाशक और मुद्रक
नित्या प्रकाशन, भोपाल (म. प्र.)
Web: www.nityapublications.com
Email: info@nityapublications.com
lEidZ +91 900 929 1840

प्राक्कथन

इसमें कोई सन्देह कदापि नही है कि भारत में अंग्रेजों ने अपनी सत्ता को सुरक्षित और निरन्तर बनाये रखने के लिए अनेक कुटिल नीतियों का समय–समय पर सहारा लिया और इसके लिए अनेक तथ्यहीन और मनगढंत भ्रामक प्रचार कर भारत के स्वाधीनता संघर्ष के इतिहास को आनेवाली पीढ़ीयों के सामने प्रस्तुत किया। भारत के सांस्कृतिक इतिहास को तो अंग्रेजों ने बिल्कुल ही नकार दिया। भारत के स्वाधीनता संघर्ष की कड़ी में अनेक धाराओं का प्रस्फुटन हुआ था जिसमें गॉधीवादी राष्ट्रवाद की महत्वपूर्ण भूमिका रही। गॉधी के साथ–साथ अनेक क्रान्तिकारी राष्ट्रवादियों ने वेदों, उपनिषदों और गीता के संदेशों को आत्मसात कर निष्काम कर्मवाद का मार्ग दिखाते हुये देश के अभिमान और गौरव के लिए अपने प्राणों की आहुति दे दी। प्रस्तुत पुस्तक स्वाधीनता संघर्ष के विभिन्न आयामों और विचारों पर केन्द्रित है जिसमें मूल रूप से गॉधीवादी आन्दोलन और उसकी रूपरेखा का विस्तृत वर्णन किया गया है। यह पुस्तक उत्तर प्रदेश राज्य के विभिन्न विश्वविद्यालयों में लागू समान पाठ्यक्रम राष्ट्रीय शिक्षा नीति– 2020 के अन्तर्गत बी0ए0 तृतीय वर्ष, सेमेस्टर– VI पर आधारित है।

नयी शिक्षा नीति– 2020 के पाठ्यक्रम के निर्माण की अवधि में जब हम अपने सहयोगियों के साथ स्नातक स्तर के इतिहास विषय के पाठ्यक्रम पर विचार–विमर्श और विश्लेषण कर रहे थे, उसी दौरान हम सबने यह तय कर लिया था कि भारत के स्वाधीनता संघर्ष के इतिहास को एक नये दृष्टिकोण से देखना और समझना होगा और उसी के अनुरुप हमें एक पुस्तक को आकार देना होगा जिससे विद्यार्थी और आम जनमानस गॉधीजी के जन आन्दोलन और क्रान्तिकारी राष्ट्रवादियों के योगदान को समझकर सहज रुप से भारतीय स्वाधीनता संघर्ष के इतिहास को समझ सके।

हमने कोशिश की है कि राष्ट्रीय आन्दोलन और भारतीय स्वतंत्रता संघर्ष के इतिहास का प्रस्तुतीकरण सारगर्भित और सरलीकृत हो और उन नये चैप्टर्स को भी शामिल किया जाय जो अब तक स्नातक स्तरीय पुस्तकों में उपलब्ध नही थे। इतना अवश्य कहेंगे कि इस पुस्तक को हमने एक नये दृष्टिकोण से लिखने का प्रयास किया है जिससे कि स्नातक व स्नातकोत्तर स्तर के विद्यार्थी भी लाभान्वित हो और प्रतियोगी परीक्षाओं की तैयारी करने वाले विद्यार्थियों को भी इसका लाभ मिल सके। इस पुस्तक में दी गई जानकारी का अध्ययन करके विद्यार्थी और आम जनमानस यह समझ सकेंगे कि कितनी बडी कीमत चुकाकर भारतवासियों ने राष्ट्रवाद का बिगूल फूॅका और किन–किन विभिन्न चरणों से होकर हमने यह बेशकीमती आजादी हासिल की है। मेरा यह विनम्र निवेदन है कि भारत में राष्ट्रवाद को सिर्फ पढ़ने, लिखने या प्रश्नपत्रों के उत्तर तक ही सीमित न रहने दे। हम आशा करते है कि भारत की युवा पीढ़ी राष्ट्रीय चेतना के परिपेक्ष्य में भारतीय स्वाधीनता संघर्ष और इसके लिए किये गये बलिदान का अवलोकन करते हुये इसका समग्र मूल्यांकन करेगी।

प्रस्तुत पुस्तक हमारे परम आदरणीय गुरू प्रो0 हिमांशु चतुर्वेदी को समर्पित है जो वर्तमान समय में भारतीय इतिहास अनुसंधान परिषद के सदस्य के रूप में कार्यरत है।

इसके अतिरिक्त हम प्रोफेसर निधि चतुर्वेदी के प्रति हृदय से आभार प्रकट करते है जिनकी प्रेरणा और आशीर्वाद से हमने इस लेखन कार्य को पूरा करने का निश्चय किया। हम अपने महाविद्यालय के अपने अन्य सहपाठियों और विद्यार्थियों के प्रति भी आभार प्रकट करते है जिनके सहयोग के बिना यह कार्य पूरा नहीं हो सकता था।

हम नित्या पब्लिकेशन के डा0 जयकरण सिंह तथा उनके सहयोगियों के भी आभारी है, जिन्होने पुस्तक के प्रकाशन में विशेष रुचि ली और एक बेहतर ग्राफिक्स को डिजायन किया। आशा है कि यह पुस्तक विद्यार्थियों के साथ–साथ आम जनमानस के लिए भी उपयोगी साबित होगी। इस पुस्तक को और अधिक ज्ञानवर्द्धक तथा रूचिकर बनाने के लिए हम आपकी समस्त प्रतिक्रियाओं व सुझावों का स्वागत करेंगे।

डा. राजेश कुमार शर्मा
प्रोफेसर– इतिहास विभाग
राजकीय महाविद्यालय, रुधौली, बस्ती।

विषय सूची

यूनिट	शीर्षक	पृ0सं0
01	गॉधी का आगमन और असहयोग आन्दोलन। **Entry of Gandhi and the Non Co-operation Movement.**	01
02	भारत में क्रान्तिकारी आन्दोलन का उदय । (एच0आर0ए0, एच0एस0आर0ए0 और भगत सिंह के मुकदमा के विशेष सन्दर्भ में) **Rise of Revolutionary Movement in India. (With special reference to HRA, HSRA and trial of Bhagat Singh.)**	44
03	भारत से बाहर क्रान्तिकारी आन्दोलन का उदय। (गदर पार्टी के विशेष सन्दर्भ में)। **Rise of Revolutionary Movement outside India. (with special reference to Gadar Party.)**	85
04	साइमन कमीशन, नेहरू रिपोर्ट और सविनय अवज्ञा आन्दोलन। **Simon Commision, Nehru Report and The Civil dis-obedient Movement.**	104
05	भारत छोडो आन्दोलन, 1942। **The Quit India Movement, 1942.**	140
06	सांवैधानिक संकट : क्रिप्स मिशन और कैबिनेट मिशन। **Constitutional Crisis : Cripps and Cabinet Mission.**	165
07	सुभाष चन्द्र बोस और आजाद हिन्द फौज। **Subhash Chandra Bose and the Indian National Army.**	183
08	माउण्टवेटन योजना, विभाजन और स्वतंत्रता। **Mountbatten Plan, Partition and Independence.**	211

गॉधी का आगमन और असहयोग आन्दोलन।

Entry of Gandhi and the Non- Co-operation Movement.

भारत को स्वतंत्रता दिलाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाने वाले महात्मा गॉधी एक महान राजनीतिज्ञ व स्वतंत्रता सेनानी ही नही अपितु वह एक सामाजिक व धार्मिक चिन्तक भी थे। भारतीय राजनीति में महात्मा गॉधी के आगमन से राष्ट्रीय आन्दोलन को एक नई दिशा मिली। प्रथम विश्वयुद्ध के बाद भारतीय राजनीति में एक नये युग का आरम्भ हुआ जिसे ''गॉधी युग'' कहते है। 1917 से 1947 तक भारतीय राजनीति की बागडोर महात्मा गॉधी के हाथ में रही और भारतीय स्वतंत्रता संग्राम का उन्होने पथ–प्रदर्शन किया। राष्ट्रीय आन्दोलन को उन्होने नये हथियारों से लैस किया और उसे एक नवीन दार्शनिक आधार प्रदान किया। वस्तुतः गॉधीजी ने भारत की आत्मा को पहचाना, वह आत्मा जो गॉवों में निवास करती है। वस्तुतः उनका दृष्टिकोण था कि जब तक गॉवों में स्वतंत्रता की ज्योति नही फैलायी जाएगी तब तक राष्ट्र की बहुमुखी शक्ति एक बिन्दु पर नही मिल सकती। ऐसा नही करने पर विदेशी शासन को चुनौती देना सहज नही है। इसी से उन्होने किसानों, मजदूरों, अस्पृश्य जातियों के कन्धों को सबल बनाते और मिलाते हुये देश के धनी और शिक्षित वर्ग को लेकर हिन्दी–भारती के स्वर में स्वतंत्रता का शंखनाद किया।

आधुनिक भारतीय चिन्तकों में महात्मा गॉधी समाज–दर्शन के एक ऐसे पैगम्बर माने जाते है, जिन्होने अहिंसा, सत्य और नैतिकता पर आश्रित सही समाज की नींव मजबूत की। देवत्व को मनुष्यत्व के धरातल से मिला देनेवाले महामानव गॉधी का जीवनवृत्त बहुत ही अदुभूत है। महात्मा की संज्ञा प्राप्त करने में आखिर गॉधी में क्या विशेषताएॅ थी, यह प्रश्न उनके व्यक्तित्व से स्वयंसिद्ध हो जाता है। इस राष्ट्रपिता के जीवन का आत्मपक्ष उतना ही पवित्र है, जितना उनका लोकपक्ष। लोक कल्याण की भावना से अभिभूत गॉधी मानव की यथार्थ समस्याओं को सही रूप में ऑकने और उसका निदान ढूॅढने में सफल रहे और उस निदान को विश्व के हर मानव ने अपनी आत्मरूप में स्वीकार भी किया। महात्मा गॉधी भारत के ही नही बल्कि विश्व के हर मानवीय चेतना का सही मानवतावाद के रूप में प्रतिनिधित्व करते है।

प्रारंभिक जीवन –

महात्मा गॉधी का जन्म 2 अक्टूबर 1869 ई0 में काठियावाड के पोरबन्दर में हुआ। पोरबंदर, गुजरात कठियावड़ की तीन सौ में से एक रियासत थी। इनके पिता करमचंद गॉधी स्थानीय रियासत के दीवान थे। ऐश्वर्यपूर्ण परिवार में गॉधी के शैशव की शान बहुत निराली रही। उनका जन्म एक मध्यमवर्गीय परिवार में हुआ था, जो कि जाति से वैश्य था। उनके दादा उत्तमचंद गांधी पोरबंदर के दीवान थे। आगे चलकर 1847 में उनके पिता करमचंद गांधी को पोरबंदर का दीवान घोषित किया गया। एक–एक करके तीन पत्नी की मृत्यु हो जाने पर करमचंद ने चौथा विवाह पुतलीबाई से किया, जिनकी

कोख से गांधीजी ने जन्म लिया। मोहनदास की माँ का स्वभाव संतों के जैसा था। गांधीजी अपनी माँ के विचारों से बहुत प्रभावित थे।

गांधीजी की आरंभिक शिक्षा पोरबंदर में हुई जहाँ गणित विषय में उन्होंने अपने आपको काफी कमजोर पाया। कई वर्षों के बाद उन्होंने इस बात को स्वीकार किया कि वे झेंपू, शर्मीले और कम बुद्धि वाले छात्र हुआ करते थे। सात वर्ष की उम्र में उनका परिवार काठियावाड की अन्य रियासत राजकोट में आकर बस गया। यहाँ भी उनके पिता को दीवान बना दिया गया। यहाँ पर उन्होंने अपनी प्राथमिक शिक्षा पूर्ण की। बाद में हाईस्कूल में प्रवेश लिया। अब वे मध्यम श्रेणी के शांत, शर्मीले और झेंपू किस्म के छात्र बन चुके थे। एकांत उन्हें बहुत प्रिय था। विद्यालय की गतिविधियाँ या परीक्षाओं के परिणाम से ऐसा कोई संकेत नहीं मिला कि जिससे यह अनुमान लगाया जा सके कि वे भविष्य में महान बनेंगे। लेकिन विद्यालय में घटी एक घटना ने यह छिपा संदेश अवश्य दे डाला कि एक दिन यह छात्र आगे अवश्य जायेगा। हुआ यूं कि उस दिन स्कूल निरीक्षक विद्यालय में निरीक्षण के लिए आये हुए थे। कक्षा में उन्होंने छात्रों की 'स्पेलिंग टेस्ट लेनी शुरू की। मोहनदास शब्द की स्पेलिंग गलत लिख रहे थे, इसे कक्षाध्यापक ने संकेत से मोहनदास को कहा कि वह अपने पड़ोसी छात्र की स्लेट से नकल कर सही शब्द लिखें। उन्होंने नकल करने से इंकार कर दिया। बाद में उन्हें उनकी इस 'मूर्खता पर दंडित भी किया गया।

वैसे तो मोहनदास आज्ञाकारी थे, पर उनकी दृष्टि में जो अनुचित था, उसे वे उचित नहीं मानते थे। उनका परिवार वैष्णव धर्म का अनुयायी था। इस संप्रदाय में मांस भक्षण और धूम्रपान घोर पाप माने जाते थे। उन दिनों शेख महताब नाम का उनका एक सहपाठी था। महताब ने गांधीजी को यह विश्वास दिलाया कि अंग्रेज भारत पर इसलिए राज कर रहे हैं, क्योंकि वे मांस खाते हैं। उस छात्र के मुताबिक मांस ही अंग्रेजो की शक्ति का राज है। दोस्त के इस कुतर्को ने मोहनदास को मांस खाने के लिए राजी कर लिया। देशभक्ति के कारण उन्होंने पहली बार मांस खाने के बाद वे पूरी रात सो नहीं सके। बार–बार उन्हें ऐसा लगता जैसे बकरा पेट में मिमिया रहा हो लेकिन थोड़े–थोड़े फासले पर वे मांस का सेवन करते रहे। कालान्तर में माता–पिता को आघात न पहुँचे इसलिए उन्होंने मांस खाना बंद कर दिया और वे शाकाहारी बन गये। इस उम्र में उन्होंने धूम्रपान और चोरी करने का भी अपराध किया। लेकिन बाद में रोकर पश्चाताप करते हुए उन्होंने सारी बुरी आदतों से किनारा कर लिया। करमचंद के परिवार में जैन, हिंदू और मुस्लिम संस्कृतियों का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता था। विष्णुभक्त करमचंद की पत्नी पुतलीबाई स्वयं 'प्रणामी संप्रदाय' से थीं, जिसमें हिंदू और मुस्लिम आस्थाओं का अभूतपूर्व संमिश्रण था। इनके मूर्तिरहित मंदिरों में वैष्णव–ग्रंथों के साथ कुरान को भी समान सम्मान और आस्था के साथ रखा जाता था। करमचंद का परिवार काठियावाड़ के बहुसंख्यक जैनों के संपर्क में भी था, जिनके धर्म का मुख्य आधार अहिंसा रहा है। किंतु गांधीजी शायद ही धार्मिक व्यक्ति के रूप में विकसित हुए थे, क्योंकि घर में माता के पास सदैव रहनेवाली 'भगवद्गीता' भी उन्होंने पहली बार लंदन प्रवास के दौरान ही पढ़ी थी।

भारत में अपनी प्रारंभिक शिक्षा समाप्त कर मोहनदास बैरिस्टर बनने के लिए इंग्लैंड गये, जहाँ उनके सामान्य व्यक्तित्व में एक असाधारण मानव का बीज आरोपित हुआ।

सबसे पहले वह थियोसोफिस्टों के संपर्क में आये, जिनके परामर्श पर उन्होंने सर एडविन आर्नल्ड द्वारा अनुवादित 'भगवद्गीता' का अध्ययन किया। गीता के 'कर्म सिद्धांत' ने उनके अंदर एक आधुनिक कर्मयोगी की नींव डाल दी। आर्नल्ड की कविता ''दि लाइट ऑफ एशिया'' को पड़कर वे पहली बार बुद्ध की शिक्षाओं से परिचित हुए। बुद्ध की अहिंसा, कृष्ण के कर्मयोग से मिलकर गांधी के राजनैतिक दर्शन में बदल गई। मात्र 13 वर्ष की आयु में गॉधी का परिणय–प्रहार भी आ पहुँचा और कस्तूरबा बाई से उनका विवाह हो गया। ठीक इसके तीन वर्षों की अवधि बीतते–बीतते इनके पिता का देहान्त हो गया और उसके पश्चात उनकी माता ने धैर्य और साहस का पूर्ण परिचय देते हुये गॉधी के शिक्षा–दीक्षा का प्रबन्ध किया। कालान्तर में इंग्लैण्ड से बैरिस्टरी की उपाधि लेकर गॉधीजी ने बम्बई उच्च न्यायालय में अपनी वकालत प्रारंभ की। वकालत की मंथर गति में ही उन्हे एक व्यापारिक संस्थान की ओर से अफ्रीका जाने के लिए निमंत्रण मिला और अफ्रीका की यह यात्रा उनके जीवन का अमूल्य अध्याय बना।

गॉधीजी के जीवन पर अनेक महान व्यक्तियों और ग्रन्थों का प्रभाव पडा। विशेषकर गॉधीजी का व्यक्तित्व अपने माता–पिता के अनुकरण पर आधारित है। उनके माता–पिता वैष्णव थे अतः उनके घर का वातावरण धार्मिक बना रहा। उनपर महान दार्शनिक लियो टालस्टाय, रास्किन आदि का भी व्यापक प्रभाव पडा। टालस्टाय के प्रभाव से गॉधीजी के मस्तिष्क में शारीरिक श्रम की अनिवार्यता और महत्व का विचार प्रतिष्ठित हुआ। गॉधी 'अपने श्रम की रोटी' के सिद्धान्त के लिए टालस्टाय के ऋणी है। इसके अतिरिक्त वे रास्किन की पुस्तक ''अनटू दिस लास्ट'' से भी बहुत प्रभावित थे और उन्होने 'सर्वोदय' के नाम से इसका गुजराती में अनुवाद भी किया। रास्किन से प्रभावित होकर गॉधीजी ने बुद्धि की अपेक्षा चरित्र पर अधिक बल दिया। लेकिन जिस ग्रन्थ ने गॉधी को सबसे अधिक प्रभावित किया वह था– श्रीमद्भागवत गीता। वे अपनी समस्याओं का समाधान गीता में ढूँढते थे। गॉधी ने अपनी आत्मकथा ''माई एक्सपेरिमेंट विथ ट्रूथ'' में लिखा है कि – ''गीता के दूसरे अध्याय का मेरे उपर गहरा प्रभाव पडा और समय के साथ यह प्रभाव और भी गहरा होता गया और आज मैं इस पुस्तक को सत्य की खोज का सबसे उत्तम ज्ञान देने वाली पुस्तक मानता हूँ।'' इस प्रकार इन तीनों ने महात्मा गॉधी के जीवन और दर्शन को बहुत गहराई से प्रभावित किया।

गॉधी का दक्षिण अफ्रीकी प्रवास –

महात्मा गॉधी की विचारधारा और दर्शन को आधार प्रदान करने में उनके दक्षिण अफ्रीका के प्रवास काल और उसके अनुभवों का विशेष योगदान था। मात्र 24 वर्ष की आयु में गुजरात के एक व्यापारी दादा अबदुल्ला का मुकदमा लडने के लिए महात्मा गॉधी 1893 ई0 में दक्षिण अफ्रीका के एक शहर डरबन पहुँचे। यहॉ उल्लेखनीय है कि दक्षिण अफ्रीका की धरती पर कदम रखनेवाले वह उच्च शिक्षा प्राप्त पहले भारतीय बैरिस्टर थे।

वस्तुतः दक्षिण अफ्रीका के अंग्रेज गन्ने की खेती करने के लिए इकरारनामें के तहत भारतीय मजदूरों को लेकर गये थे और इस प्रकार 1860 ई0 में दक्षिण अफ्र ीका में भारतीयों का पहला जत्था पहुँचा था। शीध्र ही मजदूर के साथ–साथ मुस्लिम व्यापारी भी गये और इस प्रकार वहॉ भारतीयों के बसने का सिलसिला प्रारंभ हो गया। दक्षिण अफ्रीका में बसे भारतीयों में अधिंकाशतः अशिक्षित थे और पैसे वाले व्यापारी भी उतनी

ही अंग्रेजी समझ–बोल पाते थे जो व्यापार करने के लिए जरूरी था। दक्षिण अफ्रीका में एशियाई मजदूर नस्लीय उत्पीड़न तथा रंगभेद के शिकार थे। गांधीजी दो बार स्वयं नस्लीय भेदभाव के शिकार हुए। एक बार डरबन के न्यायालय में, जब यूरोपियन मजिस्ट्रेट ने उन्हें साफा उतारकर आने के लिए कहा और एक बार तब, जब उन्हें डरबन–प्रिटोरिया रेल यात्रा में आधी रात को एक यूरोपियन यात्री ने प्रथम श्रेणी के डिब्बे से निकाल दिया। गॉधीजी के पास प्रथम श्रेणी का टिकट था, फिर भी उन्हे जबरन उतार दिया और मजबूरन उन्हे प्रतीक्षालय में ठिठुरते हुये जाड़े की रात बितानी पडी। यद्यपि इन दोनों अवसरों पर गांधीजी ने स्वामिभान के साथ अन्याय का विरोध किया, किंतु दक्षिण अफ्रीका में बसे भारतीयें ने इसे अपनी नियति मान लिया था और इसके विरूद्ध आवाज उठाना और विरोध करना वे सपने में भी नहीं सोच सकते थे।

महात्मा गांधी ने प्रिटोरिया पहुँच कर भारतीयों की एक सभा आयोजित कर उनको अपनी आदतें सुधारने, अंग्रेजी सीखने और अपने अधिकारों की सुरक्षा के लिए अंग्रेजों के अत्याचार का विरोध करने की अपील की। उन्होंने प्रेस के माध्यम से भी अपना विरोध दर्ज कराया। 'नटाल एडवरटाइजर' को एक चिट्ठी में उन्होंने लिखा– "क्या यही ईसाइयत है, यही मानवता है, यही न्याय है, इसी को सभ्यता कहते हैं''? उन्होंने प्रिटोरिया में भारतीयों को रंगभेद की नीति के खिलाफ अपने अधिकारों के लिए संगठित होकर संघर्ष करने की प्रेरणा दी। गांधीजी के प्रोत्साहन से ही एक भारतीय द्वारा मुकदमा किये जाने के बाद ट्रेनों में पक्षपातपूर्ण व्यवहार करनेवाला कानून बंद किया जा सका।

मुकदमा समाप्त होने पर गॉधीजी भारत लौटने की तैयारी में थे, तभी उन्हें पता चला कि भारतीयों को मताधिकार से वंचित करनेवाला एक विधयेक नटाल विधानमंडल में पारित होनेवाला है। दक्षिण अफ्रीका में बसे भारतीयों की प्रार्थना पर विधेयक के खिलाफ आंदोलन का नेतृत्व करने के लिए गांधीजी महीने भर रुकने के तैयार हुये लेकिन नस्ल और रंगभेद के खिलाफ इस लडाई को लडने के लिए उन्हे वहॉ 20 वर्ष रूकना पडा। दक्षिण अफ्रीका में अपने प्रवास के दौरान उन्हे कई अनुभव प्राप्त हुये। उन्होने यह महसूस कर लिया कि गोरे अंग्रेज हर हाल में अपनी जातीय सम्प्रभुता कायम रखना चाहते है इसलिए पश्चिमी सभ्यता में पलकर आने के वावजूद भी उनके साथ इस तरह का व्यवहार किया गया। यूँ तो दक्षिण अफ्रीका में गॉधीजी के संघर्ष का एक लम्बा इतिहास है लेकिन इन 20 वर्षो के काल में गॉधीजी दक्षिण अफ्रीकी विधानमण्डलों तथा लंदन में उपनिवेशों का काम देखने वाले गृह सचिव और ब्रिटिश संसद को ज्ञापन और याचिकाएँ भेजते रहे। वे विभिन्न भारतीय समुदायों को संगठित करने और उनकी मॉगों का प्रचार करने का लगातार प्रयास करते रहे। इसके लिए उन्होने 1894 ई0 में ''नटाल भारतीय कांग्रेस'' का गठन किया और 1904 ई0 में ''इण्डियन ओपीनियन'' नामक एक समाचारपत्र निकालना शुरू किया। शायद गॉधीजी समझते थे कि भारतीय भी ब्रिटिश साम्राज्य के ही वाशिन्दे है और जब ब्रिटिश सरकार को सच्चाई का पता चलेगा तो वह भारतीयों के हित में जरूर कुछ न कुछ करेगी। लेकिन 1906 तक आते–आते उन्हे यह विश्वास हो गया कि संघर्ष के इन तरीकों से कुछ प्राप्त होने वाला नही है। अतः गॉधीजी ने अपने संघर्ष में एक नये शस्त्र का प्रयोग करने का निर्णय लिया।

सत्याग्रह आन्दोलन की शुरूआत –

1906 ई0 में गॉधीजी ने 'अवज्ञा आन्दोलन' शुरू किया जिसे सत्याग्रह का नाम दिया गया है। सत्याग्रह के इस अस्त्र का प्रयोग सबसे पहले 1906 के ट्रांसवाल अध्यादेश (Asiatic Registration Act) के विरूद्ध किया गया जिसके अनुसार प्रत्येक भारतीय को सरकारी दफ्तरों में अपने अगूँठे का निशान लगाकर पंजीयन करवाना आवश्यक था। 11 सितम्बर 1906 को जोहांसबर्ग के एंपायर थियेटर में भारतीयों की एक विशाल सभा कर इस कानून के उल्लंघन का आन्दोलन शुरू किया। पंजीकरण की अंतिम तिथि तक आते–आते ब्रिटिश सरकार ने गॉधीजी समेत 27 लोगों को बंदी बना लिया और उनपर मुकदमा चलाया गया। देखते ही देखते इस कानून का विरोध और तेज हो गया। लोगों के जहन से जेल का भय अब खत्म होने लगा और जेल को लोगों ने **'किंग एडवर्ड' का होटल** कहा गया। हालात गंभीर होते देख प्रधानमंत्री स्मट्स ने गॉधीजी से बातचीत कर यह वादा किया कि यदि भारतीय स्वेच्छा से अपना पंजीकरण कराऍ तो यह कानून वापस ले लिया जायेगा। गॉधीजी ने इस मान लिया और सर्वप्रथम अपना पंजीकरण कराया। स्मट्स के इस मौखिक वादे पर जब गॉधीजी ने सत्याग्रह वापस लिया तो इस अप्रत्याशित वापसी से क्षुब्ध होकर एक पठान ने गॉधीजी को पीटा भी था। लेकिन सरकार जब अपने वादे से मुकर गयी तो गॉधीजी के नेतृत्व में भारतीयों ने पंजीकरण प्रपत्रों को एकत्रित कर सार्वजनिक रूप से उसकी होली जलाई।

इसी बीच ब्रिटिश सरकार ने प्रवासी भारतीयों के प्रवेश को रोकने के लिए एक कानून बनाया। अनेक भारतीय इस कानून का विरोध करने के लिए नटाल से ट्रांसवाल गये जिन्हे गिरफ्तार कर लिया गया। इससे ट्रांसवाल के अन्य अनेक भारतीय भी आन्दोलनकारियों के साथ हो गये। 1908 ई0 में गॉधीजी समेत अनेक आन्दोलनकारी जेल में डाल दिये गये जहॉ उन्हे तरह–तरह से यातनाऍ दी गई। इन विषम परिस्थितियों में गॉधीजी ने सत्याग्रहियों के परिवारों के पुनर्वास और रोजी–रोटी के लिए अपने जर्मन शिल्पकार मित्र कालेनबाख की मदद से जोहांसबर्ग के निकट ''टालस्टाय फार्म'' स्थापित किया जो कालान्तर में ''गॉधी आश्रम'' के नाम से जाना गया। इस फार्म के लिए भारत से भी अनेक लोगों और पार्टियों ने मदद की और रतन टाटा ने 25000 रूपये भेजे थे। 1909 ई0 में पश्चिमी मूल्यों की आलोचना करते हुये 'हिन्द स्वराज्य' नामक पुस्तक लिखी जिसमें सभी क्षेत्रों में भारतीयों को आत्मनिर्भर होने की सलाह दी गई। 1913 ई0 में आव्रजन सम्बन्धी प्रतिबंध, नवागंतुकों के मामले निपटाते समय गैर–ईसाई भारतीयों के विवाह को अमान्य करने और भूतपूर्व अनुबंधित श्रमिकों पर तीन पौण्ड का कर लगाने के विरोध में एक बार फिर व्यापक पैमाने पर सत्याग्रह आन्दोलन शुरू हुआ। वस्तुतः भारतीय मजदूरों के लिए तीन पौण्ड का कर बहुत ज्यादा था। विवाह सम्बन्धी नये नियम से भारतीय महिलाऍ भी आन्दोलन में शामिल हो गयी और यह एक जनआन्दोलन बन गया। 28 अक्टूबर 1913 को गॉधीजी ने एक हड़ताल और देशव्यापी में 2000 मजदूरों, 122 महिलाओं और 50 बच्चों का नेतृत्व किया। इस दौरान व्यापक दमनचक्र का सहारा गोरी सरकार ने लिया जिससे समूचा भारतीय समुदाय तिलमिला उठा।

अन्ततः गॉधीजी का संघर्ष सफल हुआ और दक्षिण अफ्रीका की सरकार ने भारतीयों की मुख्य मॉगों को मान लिया। तीन पौण्ड का कर व पंजीकरण प्रमाणपत्र से सम्बद्ध कानून समाप्त कर दिये गये और भारतीयों को अपने रीति–रिवाज से विवाह करने की छूट मिल गई। 1893 में अफ्रीका जाने और जनवरी 1915 में अंतिम रूप से भारत आने तक गॉधीजी 1896 और 1901 में सिर्फ दो बार भारत आये थे लेकिन दोनो बार शीध्र ही उन्हे वापस अफ्रीका बुला लिया गया था। वहॉ उन्होने अनुशासित कार्यकर्ताओं को बडी सावधानी से प्रशिक्षण देकर विशिष्ट कानूनों के शान्तिपूर्ण प्रदर्शन करने, सामूहिक गिरफ्तारियॉ देने, हड़ताल करने और शानदार मार्च निकालने जैसे तरीकों को अपनाकर सफलता पाई थी। दक्षिण अफ्रीका में अपने संघर्ष के तरीकों से गॉधीजी को विश्वास हो गया था कि विरोधियों या शत्रुओं से अपनी मॉगे मनवाने का सबसे बडा अस्त्र 'सत्याग्रह' है। भारत लौटकर गॉधीजी ने अपनी इसी रणनीति को भारतीय स्वाधीनता संघर्ष में प्रयोग किया।

गॉधीजी की स्वदेश वापसी –

गॉधीजी दक्षिण अफ्रीका के अपने अनुभवों के कारण भारत में अपने राजनीतिक जीवन के आरंभ से ही अन्य राजनीतिज्ञों की अपेक्षा अखिल भारतीय स्तर पर अधिक मान्य हुये। जनवरी 1915 के आसपास गॉधीजी भारत लौटे और जनता ने बडी गर्मजोशी से उनका स्वागत किया। दक्षिण अफ्रीका में अपने संघर्षो और उनकी सफलताओं से अनपढ़ और देहाती भारतीय भी गॉधीजी के प्रति आदर का भाव रखते थे। गोखले ने पहले ही यह प्रचारित कर दिया था कि गॉधीजी में वह सारे गुण है जो वीरों और शहीदों में पाये जाते है। उनमें लोगों को सम्मोहित करने की अनोखी प्रतिभा है। गोपाल कृष्ण गोखले के राजनीतिक विचारों से प्रभावित होकर गॉधीजी ने उन्हे अपना राजनीतिक गुरू मान लिया।

गॉधीजी का भी मानना था कि किसी भी प्रकरण पर तबतक हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए जबतक हर स्थिति का अध्ययन न कर लिया जाय। इसलिए भारत आने के बाद लगभग एक वर्ष तक देश के विभिन्न हिस्सों का दौरा करते रहे और 1916 में अहमदाबाद में अपने साबरमति आश्रम को व्यवस्थित करने का प्रयास करते रहे। साबरमती आश्रम के प्रथम 25 वासियों में 13 तामिलनाडु के थे। यह एक ऐसी बात थी जो तब किसी भी अन्य नेता के सम्बन्ध में सोची भी नही जा सकती थी। दूसरे साल भी वे सक्रिय राजनीति से दूर ही रहे। उस समय होमरूल आन्दोलन समूचे भारत में जोरों पर था लेकिन गॉधीजी इसमें शामिल नही हुये। तात्कालीन प्रचलित किसी भी राजनीतिक धारा से गॉधीजी सहमत नही थे। इसके अतिरिक्त वह तात्कालीन संघर्ष के तरीकों से भी असहमत थे क्योंकि उनकी दृष्टि में केवल सत्याग्रह ही किसी संघर्ष का एकमात्र तरीका है।

किसानों के बीच गॉधीजी की लोकप्रियता में उनकी राजनीतिक शैली पर्याप्त सहायक साबित हुयी। उदाहरणस्वरूप– तीसरे दर्जे में यात्रा करना, आसान हिन्दुस्तानी भाषा में बोलना, 1921 के बाद लंगोटी पहनकर रहना, रामचरितमानस के बिंब–विधान को प्रयुक्त करना। प्रबल धार्मिक स्वर लिये हुये गॉधीजी जैसा नेतृत्व शायद उस काल की ऐतिहासिक आवश्यकता थी। गॉधीजी केवल जनता को उभारना नही चाहते थे बल्कि वे एक नियंत्रित जन–आन्दोलन चाहते थे जो उनके निर्धारित किये हुये मार्ग पर कठोरता

से चले। इस प्रकार अपने विशिष्ट छवि के कारण जल्दी ही वे जनता के साथ एकाकार हो गये। गॉधीजी की व्याख्या जनता ने अपने ढ़ंग से की, अपने स्वयं के प्राप्त अनुभवों से अर्थ निकाले और उनको निर्बल के बल का प्रतीक बना दिया।

गॉधी दर्शन –

गॉधीजी के समस्त जीवन दर्शन का मूलाधार है – सत्याग्रह और अहिंसा। यह सत्याग्रह और अहिंसा सम्बन्धी राजनीतिक विचार हेनरी डेविड थोरो, जान रास्किन, इमर्सन और लियो टालस्टाय से प्रेरित थे किन्तु इसमें पर्याप्त मौलिकता भी थी। उनका विचार था कि मानव जीवन का लक्ष्य सत्य की खोज है और चूँकि कोई भी अन्तिम सत्य को पा लेने का दावा नही कर सकता इसलिए किसी व्यक्ति का सत्य की अपनी अनिवार्यतः आंशिक समझ को हिंसा द्वारा दूसरों पर लादना पापपूर्ण है। वे बार–बार इस बात पर बल देते थे कि अन्याय के समक्ष अन्यायपूर्ण समर्पण करने से हिंसा का मार्ग अपनाना कहीं अच्छा है। वास्तव में अन्याय के प्रति प्रतिकार गॉधीजी के लिए समसामयिक समस्या थी। इसके पीछे उनका भावनात्मक लक्ष्य था– जनशक्ति का उत्थान। इसीलिए उन्होने एक तरफ अंग्रेजी सत्ता के विरूद्ध संघर्ष तथा दूसरी ओर रचनात्मक कार्यक्रम को देश के सामने रखा।

गॉधीजी की अवधारणा थी कि भारत में एक आदर्श समाज की स्थापना की जाय। अपनी इस अवधारणा को कार्यरूप देने के लिये जिस सम्प्रभुत्व समाज व राज्य का स्वरूप उनके मानस पटल पर था उसका आधार नैतिकता थी। आदर्श राज्य की कल्पना तो सहज हो सकती है परन्तु उनकी वास्तविक अनुभूति अत्यन्त कठिन कार्य है क्योंकि ऐसे समाज या राज्य तभी अस्तित्व में आ सकते है जब उस समाज या राज्य का रहनेवाला प्रत्येक व्यक्ति आदर्श हो। सत्य, अहिंसा एवं त्याग के मार्ग पर मननशील व्यक्ति ही ऐसी दशा को प्राप्त करने में सफल हो सकता है।

गाँधीजी के अहिंसा सम्बन्धी विचार–

गॉधीजी ने कहा कि अहिंसा का अर्थ पृथ्वी पर किसी वस्तु को विचार, शब्द या कर्म के द्वारा हानि न पहुँचाना है। अतः अहिंसा का अर्थ केवल भौतिक चोट पहुँचाना नही, जो आदमी मन में भी दूसरों की बुराई सोचता है वह भी हिंसक है। अहिंसा का यह अर्थ नहीं है कि गाजर, मूली न खाई जाय क्योंकि वह जीवित है। अहिंसा का अर्थ यह भी नहीं है कि नरभक्षी पशु को न मारा जाय। गॉधीजी का तो यहाँ तक कहना है कि अगर कोई व्यक्ति ऐसी बीमारी से ग्रस्त है, जो लाइलाज है और उसके जीवित रहने की संभावना कम ही है तथा वह स्वयं भी मृत्यु चाहता है तो उसे जहर देकर मारने में बुंराई नही है। उन्होंने स्वयं अपने बछडे को जहर देकर मार डाला क्योंकि वह लाइलाज था और असहनीय पीडा से युक्त था। परन्तु ऐसा करते समय निम्न बाते ध्यान में रखी जाय –

1. बीमारी लाइलाज हो।
2. सभी संबंधित लोगो को उसके बचने की कोई आशा न हो।
3. उसको किसी प्रकार नहीं बचाया जा सकता हो।

4. रोगी स्वयं अपनी इच्छा नही बता सकता या वह स्वयं यह समझता हो कि वह बच नही सकता है।

गांधीजी के सत्याग्रह सम्बन्धी सिद्धान्त –

गॉधीजी सत्याग्रह को आत्मा की शक्ति मानते थे। साहित्यिक दृष्टि से सत्याग्रह का अर्थ सत्य पर आग्रह करना या उस पर डटे रहना है परन्तु यह काम आसान नही है। सर्वप्रथम तो व्यक्ति को सत्य की खोज करनी होती है, जो आत्मा के अन्तःकरण से होता है। उसके बाद उस सत्य पर अटल रहना होता है। जो व्यक्ति हर परिस्थिति में सत्य पर डटे रहता है, वही सत्याग्रही होता है। कुछ लोग सत्याग्रह को दुर्बलो का साधन मानते है परन्तु यह गलत है। सत्याग्रही वही हो सकता है जिसमे आत्मा का बल हो। सत्याग्रही निडर होना चाहिये। इसके लिये मोटा–तगड़ा होना भी जरूरी नही है, इसके लिये तो नैतिक बल जरूरी है।

गाँधीजी का कहना था कि अगर कोई व्यक्ति अन्यायपूर्ण दमन को शान्ति से देखता रहता है तो वह असत्य को सत्य पर हावी होने का अवसर देता है, ऐसी दशा में वह सत्याग्रही नहीं हो सकता है। सत्याग्रह का अर्थ अन्याय को शान्ति से सहन करना नही है, अतः सत्याग्रह का लिए व्यक्ति का निडर होना आवश्यक है। क्योंकि उसके लिए बगैर मौत मरने के लिये तैयार रहना पडेगा। बगैर किसी को मारे स्वयं मर जाना ही बड़ा कठिन कार्य है। परन्तु यदि किसी में इतनी निडरता भी नही है तो उसे डर–डर कर भागने के बजाय मरना या मार देना चाहिए।

सत्याग्रह और अहिंसा में सबसे बड़ा अन्तर यह है कि अहिंसा भौतिक कार्यवाही या दबाव में विश्वास करती है और सत्याग्रह नैतिक शक्ति में। ऐतिहासिक दृष्टि से सत्याग्रह का व्यक्तिगत रूप से पहले भी प्रयोग किया जा चुका है परन्तु गाँधीजी ने उसका सामाजिक तथा राजनीतिक शस्त्र के रूप में प्रयोग किया है।

'यंग इंडिया' के 3 मार्च 1925 के अंक में गाँधीजी ने लिखा था – "मेरे लिये ईश्वर सत्य और प्रेम है, नैतिकता और सदाचार है। वह जीवन और प्रकाश का उत्कर्ष है, किन्तु वह इनसे भी परे है। ईश्वर सत्य और आत्मा की आवाज है। वह नास्तिकों की नास्तिकता भी है किन्तु वाणी और तर्क की पहुँच के वह परे है। जो उसका स्पर्श चाहता है, उसके लिये वह साकार है। जो श्रद्धावान और विश्वासी हैं, उनके लिये वह केवल अस्तित्व मात्र है।" गाँधीजी कहते हैं – "ईश्वर सदाचार का स्वरूप है; तुम नैतिक धर्म का पालन करो, भगवान तुम्हें, अपने आप से प्राप्त हो जायगा।..... जो अपने जीवन में प्रमाण खोजता है, उसे अपने भीतर श्रद्धा और जीवित धर्म का पालन करना चाहिए। किन्तु, श्रद्धा और विश्वास भी बाह्य प्रभावों से सिद्ध नहीं किये जा सकते। अतः ऐसे व्यक्ति को सृष्टि के नैतिक शासन में विश्वास करना चाहिए, सत्य और प्रेम के नियमों में आस्था रखनी चाहिए। जो ईश्वर केवल बुद्धि को संतुष्ट करता है, वह ईश्वर नहीं है। ईश्वर का ईश्वरत्व भक्त के हृदय पर शासन करने तथा उसे परिवर्तित करने में है। अपने भक्त के क्षुद्र से क्षुद्र कार्यों में भी उसे अपना रूप दिखलाना चाहिए।"

गाँधी–दर्शन में धर्म की वास्तविक अभिव्यक्ति सदाचार है। जो सदाचारी नहीं है, वह गाँधी मत से धार्मिक भी नहीं माना जा सकता। सदाचार से शांति का बड़ा गहरा संबंध

है। सदाचार से शांति और करुणा प्रस्फुटित होती हैं। इस संबंध में गाँधीजी कहते हैं – "ईश्वर की स्वीकृति का अर्थ है प्रेम, सत्य और विवेक को हृदय पर शासन करने देना तथा स्वार्थपरता, दुरिच्छा, अज्ञान और अविवेक तथा काम और क्रोध को दूर करना, धर्म का वास्तविक निचोड़ है नैतिकता का पालन। धर्म और नैतिकता परस्पर अविच्छिन्न हैं। फिर भी, बोये गये बीज के लिये जल जो महत्त्व रखता है, नैतिकता के लिये धर्म का वही महत्त्व है। नैतिकता के विकास से भी धर्म की वृद्धि होती है। अपने भीतर में जितनी ही पवित्रता लाता हूँ, ईश्वर मुझे उतना ही समीप मालूम होता है।

गाँधीजी लिखते हैं – "प्रार्थना धर्म का निचोड़ है। प्रार्थना याचना नहीं है। यह तो आत्मा की आकांक्षा का नाम है। प्रार्थना दैनिक दुर्बलताओं की स्वीकृति है, हृदय के भीतर चलने वाले अनुसंधानों का नाम है। यह आत्मशुद्धि का आह्वान है, यह विनम्रता को निमंत्रण देना है। यह मनुष्यों के दुख में भागीदार बनने की भी तैयारी है।

गाँधीजी के ये कथन शांति और अहिंसा से प्रत्यक्ष जुड़े नहीं दिखते हैं किन्तु, उनके ऐसे कथनों के आधार पर ही शांति, सत्य और अहिंसा की भूमि निर्मित होती है। महाकवि दिनकर ने 'संस्कृति के चार अध्याय' में लिखा है कि गाँधी अहिंसा को गवाँकर भारत को स्वाधीन करने के पक्षपाती नहीं थे। भारतीय स्वाधीनता बहुत बड़ा लक्ष्य थी, किन्तु उससे भी बड़ा ध्येय मानव–स्वभाव में परविर्तन लाना था, मनुष्य को यह विश्वास दिलाना कि जिन ध्येयों की प्राप्ति के लिये वह पाशविक साधनों का सहारा लेता है, वे ध्येय मानवोचित साधनों से भी प्राप्त किये जा सकते हैं।

गाँधीजी का उद्देश्य देशवासियों के कष्टों का निवारण उतना नहीं था, जितना मनुष्य के पाशवीकरण का विरोध था। घृणा, क्रोध और आवेश, ये पशुओं को भी होते हैं और वे भी अपने प्रतिपक्षी का सामना उन शस्त्रों से करते हैं, जो प्रकृति से उन्हें मिले हुए हैं। मनुष्य पशु से भिन्न है, अतः उचित है कि वह अपने उन आवेशों पर नियंत्रण लगाये और दैनिक जीवन की समस्याओं को सुलझाने में उन उपायों सें काम ले, जो पशुओं के लिये दुर्लभ, किन्तु मनुष्य के लिये सुलभ हैं।

श्री नरेश मेहता की एक कविता है 'वसंत।' उन्होंने उसमें लिखा है कि –

"फूल ? उसे रहने दो। वह तुम्हारा नहीं मेरा अस्त्र है,
तुम मेरे पुत्र के लिये अपनी बंदूक में गोलियाँ भर कर लाये हो ?
स्वागत है, लो–मैं तुम्हारे पुत्र के लिये, अपनी धरती का, एक सम्पूर्ण वसंत देता हूँ।"

यही दृष्टिकोण गाँधीजी का था –सत्य, अहिंसा, प्रेम और शांति के सम्पूर्ण वसंत को मनुष्यता के लिये उद्भावित करना। संक्षेप में, गाँधीजी ने काँटों को भी नर्मी से छूने का संदेश दिया है अर्थात् दुष्टों से भी शांतिपूर्ण व्यवहार और संवाद करने की नसीहत उनकी है।

रामधारी सिंह दिनकर ने गाँधी के बारे में यह बहुत महत्त्वपूर्ण बात कही है कि अहिंसा को लेकर गाँधी को जो संसार में सुयश प्राप्त हुआ, वह बुद्ध के सुयश से अधिक है क्योंकि बुद्ध ने यद्यपि, अहिंसा का पालन स्वयं किया तथा शिष्यों से भी करवाया, किन्तु संतों को अहिंसा व्रत के पालन में वह कठिनाई नहीं होती, जो गृहस्थ को होती है। फिर यह बात भी है कि व्यक्ति के लिये अहिंसा का पालन उतना दुस्साध्य नहीं होता,

जितना समष्टि के लिये होता है। अहिंसा परमधर्म के रूप में युगों से पूजित चली आ रही थी किन्तु गाँधीजी के पूर्व किसी ने भी, समष्टि के धरातल पर जनव्यापी महाआंदोलनों के भीतर से अहिंसा का प्रयोग नहीं किया था। गाँधीजी ने यह प्रयोग किया और उनके प्रयोग से संसार के असंख्य लोगों में यह आस्था उत्पन्न हुई कि अहिंसा की साधना सामूहिक कार्यों में भी चल सकती है।.

जैसा कि हमने पहले भी कहा है कि गाँधीजी का उद्देश्य मनुष्य को इस प्रकार रूपान्तरित कर देना था कि वह किसी भी बात में पशुता का भागीदार न रहे। उनका यह क्रांतिकारी उद्देश्य अहिंसा के प्रयोग में जितना निखरा, उतना और कहीं नहीं। अहिंसा नामक शब्द ही गाँधी–धर्म का निचोड़ है तथा हिंसा से पूरित विश्व में यह एक शब्द गाँधीजी का जितना व्यापक प्रतिनिधित्व करता है, उतना उनके सारे उपदेश मिलकर भी नहीं कर पाते। गाँधीजी की अहिंसा केवल अनाघात का ही पर्याय नहीं है, अपितु वह जीवों के प्रति आन्तरिक भक्ति और प्रेम को भी अभिव्यक्त करती है। इसी में तो शांति का पुंज छिपा है।

गाँधी–दर्शन में अहिंसा सत्य का ही दूसरा रूप है। मनुष्य गलतियाँ इसलिये करता है कि वह अज्ञान की अवस्था में है। अज्ञान से ज्ञान अथवा सत्य तक जाने के लिये विवेक चाहिये, तर्क और विचार चाहिये तथा इसके लिये उस बुद्धि की भी जरूरत है जो पूर्वाग्रह से पीड़ित नहीं है, जो अंधी होकर अपने ही पक्ष का प्रमाण खोजना नहीं चाहती, जो उस निष्कर्ष का भी स्वागत करने को तैयार है, जो उसके विपक्ष में है। ऐसी बुद्धि उसी व्यक्ति को हो सकती है, जो आत्मशुद्धि और आत्म विश्लेषण की योग्यता से युक्त है। जिसमें नैतिक बल की कमी है, वह सत्य को प्राप्त नहीं कर सकता। विचारों के स्वच्छ हो जाने पर सत्य का प्रेम प्रकट होता है।.... जब विचार सत्यवादी हो जाते हैं, तब मनुष्य की वाणी और क्रिया भी सत्यवादिनी हो उठती है। जिस मनुष्य में सम्पूर्ण मानवता के लिय हार्दिक प्रेम नहीं है, उसके विचार, वाणी और कार्य सत्य से परिचालित नहीं होंगे। मनुष्य सत्य इसलिये बोलता है कि अन्य मनुष्यों के प्रति उसमें आदर और प्रेम हैं। किसी से प्रेम भी करना तथा वाणी और क्रिया के द्वारा उसे धोखा भी देना, ये परस्पर विरोधी बातें हैं। जहाँ प्रेम है, सत्य वहीं निवास करता है तथा जहाँ प्रेम और सत्य रहते हैं, वहाँ क्रिया निश्चय ही अहिंसामय हो जाती हैं। वहीं शांति निवास करती है।

गाँधीजी की अहिंसा क्रोधी, द्वेषी या असत्यसेवी व्यक्ति की अहिंसा नही हो सकती। गाँधीजी उन लोगों से कभी सहमत नहीं हुए जो अहिंसा को सिद्धान्त नहीं मानकर नीति मानते थे। अहिंसा को गाँधी ने उपयोगिता के लोभ में आकर ग्रहण नहीं किया, अपितु इस भाव से ग्रहण किया कि वह मनुष्य का एकमात्र धर्म है, जैसे हिंसा पशुओं का स्वाभाविक धर्म है। पुशओं की तरह बात–बात में, हूल मारना, मनुष्य का धर्म नहीं हो सकता। उसकी गरिमा इस बात में है कि वह अपने ऊपर ऊँची नैतिकता का नियंत्रण स्वीकार करे, जिसका पशुओं को ज्ञान भी नहीं है। गाँधी कहते हैं – "सच्ची अहिंसा भय नहीं, प्रेम से जन्म लेती है, निस्सहायता नहीं, सामर्थ्य से उत्पन्न होती है। जिस सहिष्णुता में क्रोध नहीं, द्वेष नहीं, उसके समक्ष बड़ी से बड़ी शक्तियों को भी झुकना ही पड़ेगा।' चूँकि अहिंसा के पीछे द्वेष और दुर्भावना न होकर प्रतिपक्षी के प्रति भी प्रेम ही रहता है, इसलिये गाँधीजी कहते थे कि सत्याग्रहियों को इस भाव से

सत्याग्रह नहीं करना चाहिए कि उन्हें प्रतिपक्षी को नीचा दिखाना है, वरन् इस भाव से कि प्रतिपक्षी के हृदय की कटुता हटाकर उसके भीतर सद्भावना को जन्म देना है। अहिंसा वह साधन है जिससे संघर्ष के दोनों पक्षों का कल्याण होता है, दोनों के भीतर ऊँची मानवता प्रस्फुटित होती है। गाँधीजी कहते हैं कि अहिंसा हृदय की गहराई से आनी चाहिए, अतएव, यह आवश्यक है कि सत्याग्रही के मन में घृणा, क्रोध और प्रतिकार की भावना न रहे, जो भीतर तो इन दुर्भावनाओं को छिपाये हुए है और बाहर, केवल भय के मारे, हिंसक प्रहार करने से घबराता है, वह सच्ची अहिंसा का पालक नहीं है। उसे तो दम्भी और कायर समझना चाहिए। अहिंसा, वास्तव में शक्तिशाली और वीर का गुण हैं, कायरों का नहीं। दिनकर की पंक्ति है –

"क्षमा शोभती उस भुजंग को, जिसके पास गरल है।

उसको क्या, जो दंतहीन, विषहीन, विनीत, सरल है।।"

गाँधीजी ने कहा – मेरी अहिंसा अत्यंत क्रियाशील शक्ति है। उसमें कायरता तो क्या, दुर्बलता के लिये भी स्थान नहीं है।..... गाँधीजी तो यहाँ तक कहते हैं कि जहाँ सारा चुनाव केवल कायरता और हिंसा के बीच सीमित हो, वहाँ मैं हिंसा का समर्थन करूँगा।" मैं इस बिंदु पर दिनकर जी से सहमत हूँ कि जिस प्रकार अरविंद घोष ने मनुष्य की शक्तियों और उसके स्वभाव को विकसित करके उसे अति मनुष्य बनाने की कल्पना की थी, कुछ वैसी ही कल्पना महात्मा गाँधी में भी थी और उनका विचार था कि मनुष्य का वैयक्तिक एवं सामूहिक उद्धार इस बात में है कि वह अपने भीतर पशुता को छोड़कर उन गुणों की वृद्धि करे, जो उसे पशु से भिन्न करते हैं।

गाँधीजी की वाणी और प्रयोग से जो सिद्धान्त निकलता है, उसके अनुसार हिंसा केवल रक्तपात करने अथवा दूसरों को शारीरिक कष्ट पहुँचाने में ही नहीं है। उसका एक विकृत रूप दुराग्रही होना भी है। अपने मत पर अहंकारपूर्वक अड़ जाना भी हिंसा ही है। सत्य के मार्ग पर चलने वाला मनुष्य हठी नहीं होता। डॉ० दशरथ सिंह ने लिखा है कि सत्याग्रह के समान 'शांति सेना' की अवधारणा भी गाँधी–चिंतन की मौलिक देन है। इस धारणा का विकास वर्तमान हिंसक राज्य की सेना तथा पुलिस व्यवस्था के विकल्प रूप में है। शांति सेना द्वारा समाज में अहिंसक तरीके से शांति की स्थापना की जा सकती है। गॉधीजी की दृष्टि में हम यह सोचने को अभ्यस्त हो गये हैं कि हिंसा ही सब रोगों की दवा है। इसका फल यह हुआ है कि नागरिक शक्ति कमजोर पड़ती गयी है और वह दंड तथा सैन्य–शक्ति के आगे झुकती गयी है। जनतंत्र भी वस्तुतः दंडतंत्र बन गया है। नागरिक शक्ति यदि कमजोर हुई तो फिर फौजी तानाशाही ऊपर आयेगी, इसलिए शांति–सेना संगठन के माध्यम से गाँधी नागरिक जीवन में पुलिस तथा सेना का कम–से–कम प्रयोग करना जनतंत्र और व्यक्तिगत स्वतंत्रता के लिये आवश्यक मानते थे। वे शांति–सेना के माध्यम से समाज में भाईचारा, सौहार्द्र और सेवा की भावना का प्रचार करना चाहते थे।

गांधीजी का राम राज्य–

गाँधीजी ने अपने दर्शन में जिस राज्य व्यवस्था की संकल्पना प्रस्तुत की थी उसे रामराज्य के नाम से जाना जाता है। गॉधीजी के अनुसार– धार्मिक दृष्टि से रामराज्य का तात्पर्य है पृथ्वी पर ईश्वर का राज्य। राजनीतिक दृष्टि से यह पूर्ण प्रजातन्त्र है

जिसमे गरीबी एवं अमीरी तथा रंगभेद के आधार पर स्थापित असमानताओ का सदा–सदा के लिये अन्त हो जाता है। रामराज्य में भूमि तथा राज्य पर जनता का स्वामित्व होता है, न्याय शीघ्रता से मिलता है इसलिये प्रत्येक व्यक्ति को अपनी अभिरूचि, इच्छा एवं आवश्यकतानुसार पूजा–पाठ, विचार अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता, लेखन, व्यवसाय, जीवन यापन की स्वतन्त्रता प्राप्त होती है। नैतिक प्रतिबंध की स्वेच्छया आरोपित के राज्य के कारण ही यह सब संभव हो पाता है।

गाँधीजी के शब्दो में– ''मेरा स्वराज्य राजनीतिक स्वतन्त्रता तक ही सीमित नही है। मैं जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में धर्मराज के सत्य और अहिंसा के शासन को स्थापित हुआ देखना चाहता हूँ। दासता की जंजीरो में जकड़े रहना मनुष्य के गौरव के विरुद्ध है––– मेरे लिये देशभक्ति वही है जो कि मानवता के कल्याण में समर्थ है। मेरी जीवन योजना में साम्राज्यवाद के लिये कोई स्थान नहीं है। मैं मानव की ही नही समस्त जीवित प्राणियों की एकता में विश्वास रखता हूँ। मेरा ऐसा विश्वास है कि अगर व्यक्ति आध्यात्मिक दृष्टि से उॅचा उठता है तो समस्त संसार को इससे लाभ पहुंचता है। मै तो एक ऐसे भारत के निर्माण के लिये कार्यरत रहूंगा जिसमे गरीब से गरीब व्यक्ति भी यह अनुभव करे कि इस देश के निर्माण में उसकी प्रभावशाली आवाज है..... एक ऐसा भारत जिसमें सब जातियाँ पारस्परिक एकता और सदभावना के स्नेह सूत्र में बँधी हुयी मिल जुलकर रहेगी। ऐसे सुन्दर भारत में अश्पृश्यता, मद्यपान, नशीली वस्तुओं के सेवन के लिये कोई स्थान नही हो सकता है। महिलाओं को भी वही अधिकार प्राप्त होंगे जो पुरुषो को। मेरे स्वप्नों के भारत का यही रूप है।"

विद्वानों ने गांधी के रामराज्य को अहिंसक प्रकृति का नहीं माना है क्योंकि पूर्ण अहिंसक राज्य वास्तव में राज्य नही रह जाता। अहिंसक राज्य का आधार सत्याग्रह हो सकता है। स्वयं गाँधीजी ने भविष्य के अहिंसक राज्य की कोई रूपरेखा प्रस्तुत नही की है। बहुत सामान्य बात है कि साधक की शक्ति सम्पन्नता से साधन अहिंसक होना असंभव है।

गाँधीजी का आदर्श लोकतन्त्र सत्याग्रही ग्रामीण समाज के संघो पर स्थित है। यह ऐसा समाज होगा जो आत्मनिग्रह, संयम, त्याग और अहिंसा का पूर्णतः परिपालन करेगा। वे सामाजिक समानता, अपरिग्रह तथा श्रम द्वारा निरर्थक सामाजिक विद्वेष एवं प्रतिद्वन्दिता को समूल नष्ट कर देना चाहते थे। उन्होंने समाज में आर्थिक तथा सामाजिक समता लाने के लिये श्रम पर आधारित आजीविका, वर्णव्यवस्था पर अपरिग्रह की अवधारणा को अत्यन्त युक्तियुक्त तथा समीचीन बताया था।

शोषण, सामन्तवाद, जमींदार, जागीरदार तथा पूँजीवाद पर आधारित समाज गाँधीजी के विचार से सकल मानवता के लिये कुष्ठ रोग तुल्य था और यही कारण है कि वे कुटीर उद्योग के पक्षधर थे। उनकी मान्यता थी कि कारखानो तथा बडे–बडे आद्योगिक प्रतिष्ठानों की स्थापना से वर्गसंघर्ष उत्पन्न होगा तथा श्रमिकों एवं पूँजीपतियों के बीच खाई चौड़ी होगी तथा अहिंसा पर आधारित समाज का अवचिन्तन व्यर्थ होगा। महात्मा गाँधी ऐसे समाज के समर्थक रहे जिसमें लोकतांत्रिक समाज हो तथा ऐसा समाज स्वाबलम्बी तथा आत्मनिर्भर गाँवो में विर्निमित होगा।

गाँधीजी का आदर्श समाज भारी वाहनों, वकीलों, न्यायालयों आधुनिक चिकित्सकों तथा उनकी चिकित्सा पद्धति से रहित होगा। देशीय उपकरणों, वस्तुओं, यातायात साधनों का पूर्ण उपयोग होगा तथा नैतिकता पर जीवन यापन करना, व्यक्ति रोगादि के निवारण के लिये प्राकृतिक चिकित्सा यौगिक क्रिया आदि से तन–मन को स्वस्थ रखकर आत्मनियन्त्रण तथा आत्मसंयम का आचरण करना मानव हित में कार्य करेगा।

वैसे गाँधीजी का स्वयं विश्वास था कि उनका आदर्श समाज या रामराज्य सम्भव नही फिर भी हमारा प्रयास अवश्य उस दिशा मे होना चाहिये। अतः गाँधीजी का रामराज्य वह है जिसमे राजा–रंक के बीच कोई असमानता न हो तथा समाज में अहिंसा तथा सत्याग्रह का पूर्ण स्थान हो। मनुष्य अपना जीवन नैतिकता पर आधारित मूल्यों के परिपालन द्वारा बिताये। किसी भी मनुष्य को अपनी साध्य की प्राप्ति हेतु ऐसे साधनों का प्रयोग करना चाहिये जो औचित्यपूर्ण, शुभ और नैतिक हो। सूक्ष्म रूप से गाँधीजी के रामराज्य की विशेषता 'Greatest Good of the Greatest number' कहा जा सकता है।

वास्तव मे गांधीजी किसी राष्ट्र या जाति या व्यवस्था विशेष की सीमाओं से परे होकर महामानव थे, इसलिये उनका दर्शन–विचार भले ही किसी राष्ट्र के लिये पूर्णतया हितकारी न हो परन्तु जब पूरा विश्व एक होगा एवं सम्पूर्ण मानव की केवल एक ही जाति होगी तो उनका दर्शन एवं विचार ही एकमात्र समाज का निर्धारक होगा।

महाकवि रामधारी सिंह दिनकर ने 'संस्कृति के चार अध्याय' में यह लिखा है कि महात्मा गाँधी ने भारतीय संस्कृति पर इतनी अधिक दिशाओं में प्रभाव डाला है कि उनके समस्त अवदान का सम्यक मूल्य–निर्धारित करना अभी किसी के लिये संभव नहीं दिखता। खान–पान, रहन–सहन, भाव–विचार, भाषा और शैली, परिच्छेद और परिधान, दर्शन और सामाजिक व्यवहार एवं धर्म–कर्म, राष्ट्रीयता और अन्तर्राष्ट्रीयता, भारत में जो भी आचार या विचार प्रचलित हैं, उनमें से प्रत्येक पर कहीं न कहीं गाँधी की छाप है। यहाँ तक कि उनके आलोचकों और विरोधियों में भी ऐसे अनेक लोग हैं जिनकी पोशाक नहीं तो खान–पान में, विचार नहीं तो सामाजिक आचार में महात्मा गाँधी का प्रभाव मौजूद है।

चम्पारण, अहमदाबाद और खेडा आन्दोलन :

जनवरी 1915 ई0 में 46 वर्ष की आयु में जब महात्मा गॉधी भारत वापस लौटे तो उन्होने पूरे एक वर्ष तक देश का विभिन्न भागों का भ्रमण करते हुये भारतीयों को भारतीय सेना में शामिल होकर प्रथम विश्वयुद्ध में अंग्रेजों की मदद करने की अपील की जिसके कारण उन्हे ''सेना में भरती करनेवाला सार्जेण्ट'' भी कहा जाता था। प्रथम विश्वयुद्ध में अंग्रेजों के समर्थन के कारण ही ब्रिटिश सरकार ने 1915 ई0 में गॉधीजी को 'कैसर–ए–हिन्द' की उपाधि प्रदान की। साबरमती नदी के किनारे अवस्थित साबरमती आश्रम में वे संघर्ष की नई विधि के साथ प्रयोग का अभ्यास करते रहे और 1917–18 के दौर में उन्होने तीन संघर्षों –चम्पारण, अहमदाबाद और खेड़ा आन्दोलन का नेतृत्व किया। ये तीनों संघर्ष स्थानीय आर्थिक मॉगों से जोडकर लडे गये। इनमें से चम्पारण और खेड़ा आन्दोलन किसानों का आन्दोलन था और अहमदाबाद आन्दोलन आद्यौगिक मजदूरों से सम्बद्ध था।

चम्पारण सत्याग्रह, 1917 –

1917 ई0 में गॉधीजी के नेतृत्व में भारत में किया गया पहला सत्याग्रह 'चम्पारण सत्याग्रह' के नाम से जाना जाता है। चम्पारण आन्दोलन मूल तौर पर नील की खेती करने वाले किसानों के शोषण के खिलाफ था। बिहार के चम्पारण जिले के किसानों से अंग्रेज बागान मालिकों ने 19वीं शताब्दी के आरंभ में ही एक अनुबंध करा लिया था जिसके अन्तर्गत किसानों को अपनी जमीन के 3/20वें हिस्से पर नील की खेती करना अनिवार्य था। इसे इतिहास में ''तिनकठिया पद्धति'' कहा जाता था।

वस्तुतः 19वीं शताब्दी के अन्त तक आते–आते जर्मनी में रासायनिक रंगों अर्थात डाई की खोज और उसके प्रचलन से नील के बाजार में गिरावट आने लगी थी। इससे चम्पारण के गोरे बागान मालिक अपने कारखाने बन्द करने लगे। किसान भी मजबूरन नील की खेती से छुटकारा पाना चाहते थे लेकिन गोरे बागान मालिकों ने किसानों की इसी मजदूरी का फायदा उठाना चाहा। किसानों को अनुबन्ध से मुक्त करने के लिए लगान व अन्य गैरकानूनी अब्बाबों की दर मनमाने ढंग से बढ़ा दी गई। शोषण से तंग आकर किसानों ने नील की खेती करने और गैरकानूनी व अतिरिक्त कर देने से इनकार कर दिया। 1908 तक आते–आते इस शोषण के खिलाफ विरोध मुखर होने लगा परन्तु बागान मालिकों का लूट का यह कारोबार चलता रहा।

दक्षिण अफ्रीका में गॉधीजी के संघर्ष की कहानी सुनकर चम्पारण के अनेक किसानों ने अपने स्थानीय नेता राजकुमार शुक्ल से गॉधीजी को बुलाने और आन्दोलन का नेतृत्व सौंपने का आग्रह किया। परिणामस्वरूप राजकुमार शुक्ल के निमंत्रण पर महात्मा गॉधी चम्पारण आने और आन्दोलन का नेतृत्व करने को तैयार हो गये। 10 अप्रैल 1917 को गॉधीजी पहली बार पटना पहुॅचे जहॉ राजेन्द्र प्रसाद ने उनका स्वागत किया और पॉच दिन बाद 15 अप्रैल 1917 को वे मुजफ्फरपुर से चम्पारण के जिला मुख्यालय मातिहारी पहुॅचे। गॉधीजी और उनके सहयोगी जैसे ही चम्पारण पहुॅचे, मुजफ्फरपुर के कमिश्नर मोरशेड और चम्पारण के जिलाधिकारी ने उन्हे चम्पारण छोड़ने का आदेश दिया लेकिन उन्होने आदेश का उल्लंघन किया और इसके लिए वे किसी भी दण्ड को भुगतने के लिए तैयार हो गये। किसी अनुचित आदेश की अवज्ञा और शान्तिपूर्ण तरीके से प्रतिरोध, वास्तव में एक नई चीज थी। चूॅकि ब्रिटिश भारत सरकार अभी तक गॉधीजी को विद्रोही नही मानती थी इसलिए उसने स्थानीय प्रशासन को अपना आदेश वापस लेने तथा गॉधीजी को चम्पारण के गॉवों में जाने की छूट देने के निर्देश दिये।

गॉधीजी की यह प्रथम जीत थी और इस प्रकार वह अपने मिशन में लग गये। वह अपने सहयोगियों राजेन्द्र प्रसाद, ब्रज किशोर, डा0 अनुग्रह नारायण सिन्हा, महादेव देसाई, जे0बी0 कृपलानी, नरहरि पारिख और बिहार के अनेक बुद्धिजीवियों के साथ किसानों की हालत की विस्तृत जॉच–पड़ताल की और उनके बयान दर्ज किये। इस पूरे कार्य में स्थानीय किसान नेता राजकुमार शुक्ल सदैव उनके साथ बने रहे। इसी बीच सरकार ने भी जून 1917 ई0 में जॉच आयोग का गठन कर दिया और गॉधीजी को भी इसका सदस्य बनाया। इस जॉच का परिणाम यह हुआ कि न केवल तिनकठिया पद्धति की समाप्ति हुई बल्कि बागान मालिकों ने अवैध वसूली का 25 प्रतिशत वापस करने के लिए तैयार भी हो गये। कुछ लोगों ने यह आलोचना भी की कि गॉधीजी ने 100 प्रतिशत वापसी की मॉग क्यों नहीं की। लेकिन गॉधीजी की दृष्टि

में 25 प्रतिशत रकम वापस करना भी बागान मालिकों के लिए बहुत बड़ी बेइज्जती थी। इस प्रकार लगभग एक दशक के अन्दर ही गोरे बागान मालिकों ने चम्पारण छोड़ दिया।

गॉधीजी के चम्पारण सत्याग्रह का मनोवैज्ञानिक प्रभाव तिनकठिया पद्धति की समाप्ति से ज्यादा था। बेतिया के एस0डी0ओ0 ने 29 अप्रैल 1917 को अपनी रिपोर्ट में लिखा था कि गांधी "प्रतिदिन अज्ञानी जनसमुदाय की कल्पना को आसन्न स्वर्णयुग के स्वप्न दिखाकर रूपांतरित कर रहे हैं।" एक रैयत ने गांधीजी की तुलना रामचंद्र से की और जाँच समिति के समक्ष कहा कि "अब गांधीजी आ गये हैं तो काश्तकारों को राक्षस निलहों का कोई भय नहीं है।"

गॉधीजी चम्पारण आंदोलन को उसके सीमित लक्ष्य से आगे नहीं ले गये और बाद में नवंबर, 1918 में 'चम्पारण कृषि कानून' (Champaran Agricultural Act), 1918 के पारित होने के साथ यह लक्ष्य पूरा हुआ। फिर भी, इस कानून ने न तो निलहों के दमन को पूरी तरह रोका, न यह किसान प्रतिरोध को ठंडा कर सका। स्थानीय किसान नेता गांधीजी का नाम लेकर समर्थन जुटाते रहे और उन्होंने इस क्षेत्र को भावी गांधीवादी आंदोलनों का एक ठोस आधार बना दिया। इस तरह चम्पारण राष्ट्रवाद की एक दंतकथा बन गया, यद्यपि प्रतिरोध करनेवाले किसानों के साथ स्थानीय कांग्रेस नेताओं की कोई विशेष सहानुभूति नहीं थी, खासकर तब जब वे देशी जमींदारों के विरुद्ध खड़े होते थे। कुछ भी हो, इस आन्दोलन से गॉधीजी तथा उनकी अहिंसात्मक पद्धति का महत्व बढ़ा और वह एक वैश्विक नेता के रूप में उभरने लगे। चंपारण भारतीय स्वतंत्रता के इतिहास में एक रहस्योद्घाटन था। इसने सभी भौतिक शक्तियों से भी अधिक शक्तिशाली शक्ति के साथ शाही उत्पीड़न का मुकाबला करने की अब तक अनसुनी पद्धति को जन्म दिया। गांधीजी ने इसे 'सत्याग्रह' कहा। यह राष्ट्रव्यापी ध्यान आकर्षित करने वाला पहला किसान आंदोलन था और कई मायनों में, इसने भारत की जनता को ब्रिटिश उपनिवेशवादियों के खिलाफ मुक्ति संघर्ष में शामिल होने के लिए प्रेरित किया। चम्पारण सत्याग्रह की सफल नेतृत्व के बाद रविन्द्र नाथ टैगोर ने पहली बार गॉधीजी को 'महात्मा' कहा। चंपारण के नतीजे ने राजनीतिक स्वतंत्रता की अवधारणा और दृष्टिकोण को फिर से परिभाषित किया, जिससे पूरे ब्रिटिश–भारतीय समीकरण में एक जीवंत मोड़ आ गया। इस पूरे आन्दोलन को लेकर पत्रकार पुष्यमित्र ने 'चम्पारण 1917' के नाम से एक पुस्तक लिखी है जिसमें इस घटना का विस्तृत विवरण मिलता है।

खेड़ा सत्याग्रह, 1918 –

गुजरात के खेड़ा जिले में गॉधीजी ने अपने दूसरे किसान सत्याग्रह की शुरूआत की जहॉ उनके हस्तक्षेप को अधिक सफलता मिली। 11 मार्च, 1918 को गुजरात (तत्कालीन बॉम्बे प्रांत) के खेड़ा जिले में शुरू किया गया यह आंदोलन शुरू में किसानों ने स्वयं एक स्थानीय नेता मोहनलाल पंड्या की मदद से शुरू किया था। इसमें मुख्य रूप से खेड़ा का किसान–पाटीदार समुदाय शामिल था, जिसमें बाद में गांधीजी का नेतृत्व शामिल हुआ। उनकी मांग फसल की विफलता, कीमतों में वृद्धि और कर की दर में सरकार की असंवेदनशील वृद्धि की पृष्ठभूमि में राजस्व का भुगतान न करना था।

1917–18 ई0 में खेड़ा जिले के किसानों की फसलें नष्ट हो गयी तो खेड़ा के कुनबी–पाटीदार किसानों ने सरकार से लगान में छूट की मॉग की। यद्यपि भूमिकर नियमों में यह स्पष्ट कहा गया था कि यदि फसल 25 प्रतिशत नष्ट हो जाय तो भूमिकर में पूर्णतया छूट मिलेगी, किन्तु सरकार किसानों को कोई छूट देने को तैयार नहीं थी। अन्ततः गॉधीजी ने इस मामले में हस्तक्षेप किया और 'सर्वेण्ट्स ऑफ इण्डिया सोसायटी' के सदस्यों, विट्ठलभाई पटेल और गॉधीजी ने पूरी जॉच–पड़ताल के बाद यह निष्कर्ष निकाला कि किसानों की मॉग जायज है और राजस्व संहिता के तहत पूरा लगान माफ किया जाना चाहिए।

गॉधीजी ने पर्याप्त सोच विचार के बाद 'गुजरात सभा' नामक संस्था के माध्यम से खेड़ा आन्दोलन की बागडोर सॅभाली। गॉधीजी उस समय 'गुजरात सभा' नामक संस्था के अध्यक्ष थे। अपील और याचिकाओं का जब कोई असर नहीं हुआ तो गॉधीजी ने 22 मार्च 1918 को नाडियाड में एक आम सभा में किसानों से लगान न चुकाने की सलाह दी जबतक कि लगान में छूट नही मिलती। जो किसान लगान देने की स्थिति में थे उन्हे भी लगान देने से रोक दिया गया। इनका तर्क था कि यदि अमीर किसान लगान दे देंगे तो इससे गरीब किसानों पर दबाव बढ़ेगा। गॉधीजी ने किसानों को सम्बोधित करते हुये कहा कि सरकार के दमनकारी आदेश के खिलाफ जुझारू संघर्ष करो और सरकार को बता दो कि वह नागरिकों की राय के बिना हुकुमत नही चला सकती। खेडा जिले के युवा वकील बल्लभभाई पटेल, इन्दुलाल यागनिक तथा अन्य अनेक युवाओं ने गॉधीजी के साथ गॉवों का दौरा शुरू किया। गॉधीजी की अपील पर बड़ी संख्या में किसान सत्याग्रह में भाग लेने लगे और जेल जाने लगे। सरकार लगान न देनेवाले किसानों की सम्पत्ति कुर्क कर रही थी, उनके मवेशियों तक को उठा ले जा रही थी। गॉधीजी का कहना था कि जब सरकार लगान माफ कर देगी तो जो किसान लगान देने की स्थिति में है वह पूरा लगान दे सकते है। किसानों की स्थिति बदतर होती जा रही थी परन्तु किसानों ने अपना संघर्ष जारी रखा। इस बीच गॉधीजी को पता चला कि सरकार ने अधिकारियों को गुप्त निर्देश दिया है कि लगान उन्ही से वसूला जाय, जो देने की स्थिति में है। इस प्रकार गॉधीजी का मकसद पूरा हो गया और जून 1918 तक यह संघर्ष वापस ले लिया गया। फिर भी सरकार ने संभवतः 39 प्रतिशत कर वसूल ही लिया था और 559 गॉवों में से केवल 70 गॉवों पर ही इसका प्रभाव पड़ा था।

अहमदाबाद आन्दोलन, 1918 –

अहमदाबाद सत्याग्रह को अहमदाबाद मिल मजदूर हड़ताल के नाम से भी जाना जाता है। 1918 का अहमदाबाद कपड़ा मिल श्रमिक सत्याग्रह भारत के स्वतंत्रता संग्राम के दौरान मजदूर वर्ग के आंदोलन को आकार देने में एक महत्वपूर्ण घटना थी। यह 1918 के फरवरी–मार्च में अहमदाबाद में हुआ था, जिसका नेतृत्व मुख्य रूप से कपड़ा मिल श्रमिकों ने किया था, जो खराब कामकाजी परिस्थितियों के खिलाफ विरोध प्रदर्शन कर रहे थे। इस आंदोलन को तब गति मिली जब महात्मा गांधी इसमें शामिल हुए और श्रमिकों के पक्ष में बातचीत की। इस सत्याग्रह ने परिणाम सुरक्षित करने के साधन के रूप में भारतीय जनता के सामने "भूख हड़ताल" की शुरुआत की।

20वीं सदी की शुरुआत में कपड़ा मिलों सहित ब्रिटिश भारत के औद्योगिक प्रतिष्ठानों में काम करने की खराब स्थितियाँ और श्रमिकों का शोषण देखा गया। बंदरगाह, रेल और ब्रिटिश उद्यम तक पहुंच के कारण गुजरात में अहमदाबाद एक प्रमुख कपड़ा उत्पादन केंद्र के रूप में उभरा था। इसकी कपड़ा मिलों का स्वामित्व अंबालाल साराभाई जैसे भारतीय उद्योगपतियों के साथ–साथ ब्रिटिश मिल मालिकों के पास था। हालाँकि, मिल श्रमिकों को बेहद कठोर कामकाजी माहौल का सामना करना पड़ता था। अहमदाबाद में कपड़ा मिल श्रमिकों, जिनमें ज्यादातर गरीब किसान और ग्रामीण क्षेत्रों के प्रवासी थे, को बहुत कम मजदूरी दी जाती थी। साप्ताहिक 70 घंटे से अधिक काम के लिए उनका औसत वेतन लगभग 5 रुपये प्रति माह था। दमनकारी परिस्थितियों में कार्य दिवस 12–15 घंटों के बीच बढ़ गया। कठिन कार्यभार में महिलाओं और बच्चों से जबरन श्रम भी शामिल था। 1918 तक अहमदाबाद में कपड़ा मिल मजदूर, मिल मालिकों के बढ़ते मुनाफे के बीच अपनी दयनीय स्थिति पर गुस्से से उबल रहे थे।

मिल–मालिकों और मिल–मजदूरों के बीच आद्यौगिक विवाद का तात्कालीक कारण 'प्लेग बोनस' की समाप्ति थी, जो प्लेग से हो रही आधिकारिक मौतों के भय से मजदूरों को शहर छाड़ने से रोकने के लिए 1917 से दिया जाता था। मजदूर प्लेग बोनस के बदले मजदूरी में 50 प्रतिशत वृद्धि की मॉग कर रहे थे और मिल–मालिक 20 प्रतिशत से अधिक वृद्धि करने को तैयार नही थे। सामाजिक कार्यकर्ता अनसूया साराभाई तथा उनके भाई व अहमदाबाद मिल–मालिक सभा के अध्यक्ष अंबालाल साराभाई ने गॉधीजी को मध्यस्थता करके विवाद को हल करने के लिए फरवरी 1918 ई0 में आमंत्रित किया। गांधीजी ने 22 फरवरी 1918 को एक बैठक बुलाई, जहां मॉगों को अंतिम रूप दिया गया। पहले गॉधीजी ने मिल–मालिकों और मजदूरों को इस सारे मामले को एक ट्रिव्यूनल को सौंप देने पर राजी किया किन्तु बाद में मिल–मालिक अपने वादे से मुकर गये और हड़ताल पर पूरी पाबन्दी की मॉग की। उत्पादन लागत, मुनाफा और मिल–मजदूरों के जीवन निर्वाह खर्च का गहराई से अध्ययन करने के बाद गॉधीजी ने मजदूरों को राजी किया कि वे अपनी मजदूरी में बढ़ोतरी की मॉग को 50 प्रतिशत से घटाकर 35 प्रतिशत कर दे। किन्तु स्थिति तब बिगड़ गई जब अड़ियल मिल–मालिकों ने 22 फरवरी को मिलों में ताले लगाकर बुनकरों को बाहर कर दिया। इससे क्षुब्ध होकर मार्च 1918 में गॉधीजी के नेतृत्व में अहमदाबाद में मिल–मजदूरों ने अहिंसक आम हडताल कर दी। अगली सुबह हजारों कपड़ा मजदूरों और उनके परिवारों ने योजना के अनुसार मिलों के बाहर शांतिपूर्वक धरना दिया। एक सप्ताह से अधिक समय तक गांधीजी के नेतृत्व में अनुशासित अहिंसा के साथ विशाल हड़ताल लगातार जारी रही।

इसी हड़ताल के दौरान गॉधीजी ने 15 मार्च 1918 से सर्वप्रथम 'भूख–हड़ताल' के हथियार का प्रयोग किया। गांधीजी की उपस्थिति ने कार्यकर्ताओं को ऊर्जावान बनाया और शांति मार्च, "एक टेक" के नारे और पत्रक जैसी प्रभावी संचार रणनीतियों ने भी अनुशासित, अहिंसक जन कार्रवाई को संगठित करने में मदद की।

शुरुआत में अपनी जिद पर अड़े रहने के कुछ दिन बाद मिल मालिक धीरे–धीरे गांधी की मध्यस्थता के तहत बातचीत के लिए तैयार हो गए और वे सारे मामले को मध्यस्थता बोर्ड (Tribunal) में भेजने को राजी हो गये। इस प्रकार जिस मुद्दे को

लेकर हडताल शुरू हुई थी, अब वह समाप्त हो चुका था अत' हड़ताल भी खत्म हो गई। ट्रिब्यूनल ने 35 प्रतिशत बोनस का फैसला सुनाया। हालांकि कई लोगों ने इसे अपर्याप्त माना। गॉधीजी ने इस फैसले को अहिंसक दबाव की रणनीतिक जीत माना। अधिकारियों को उचित कामकाजी परिस्थितियों और श्रम कल्याण के सिद्धांतों को पहचानने के लिए भी मजबूर किया गया।

1918 की अहमदाबाद मिल हड़ताल एक छोटे स्तर का प्रयास होने के बावजूद भारत के स्वतंत्रता संग्राम के इतिहास में अत्यधिक महत्व रखती है। यह आन्दोलन अहमदाबाद के मजदूरों को संगठित करने में काफी सफल रहा। इसकी सफलता ने फरवरी 1920 में टेक्सटाइल लेबर एसोसिएशन जैसे मजबूत ट्रेड यूनियनों के गठन और विकास को प्रेरित किया जो अहिंसा, आत्मनिर्भरता और नियोक्ता–कर्मचारी सद्भाव के गॉधीवादी आदर्शों का पालन करते थे। जिस तरह चंपारण सत्याग्रह ने किसान वर्ग को शामिल किया, उसी तरह अहमदाबाद हड़ताल ने मजदूर वर्ग को राष्ट्रीय आंदोलन में शामिल किया। गॉधीजी द्वारा उपवास का प्रयोग भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन के भविष्य के कार्यक्रम में संभावित उपयोग के साथ एक शक्तिशाली और यहां तक कि जबरदस्त हथियार साबित हुआ।

चम्पारण, अहमदाबाद और खेड़ा आन्दोलन ने संघर्ष के गॉधीवादी तराकों को आजमाने का अवसर दिया था, साथ ही साथ गॉधीजी को जनता के नजदीक आने और उनकी समस्याएँ समझने का भी अवसर मिला था। स्थानीय लक्ष्यों को उठाकर गॉधीजी ने राष्ट्रव्यापी लोकप्रियता प्राप्त की, यद्यपि इन सभी आन्दोलनों में गॉधीजी को नेतृत्व के लिए तब आमंत्रित किया गया जब स्थानीय पहल से जनता की अच्छी खासी लामबंदी पहले ही हो चुकी थी। फिर भी इन आन्दोलनों से गॉधीजी को देश की जनता की ताकत और उसकी कमजोरियों का भी पता चला। उनकी रणनीति कारगर साबित हो सकती है, इसका अनुमान लगाने का भी मौका मिला। इन आन्दोलनों में गॉधीजी को समाज के विभिन्न वर्गो, खासकर युवा पीढ़ी का भरपूर समर्थन मिला और जल्द ही वे भारतीय जनता के प्रतीक बन गये।

रौलट सत्याग्रह –

1919 ई0 के आरम्भ तक अखिल भारतीय राजनीति में गॉधीजी का हस्तक्षेप अपेक्षाकृत कम रहा और वे अंग्रेजों की नीयत पर भरोसा भी करते रहे। लेकिन अनुभव और लोकप्रियता ने गॉधीजी को अदम्य साहसी बना दिया और इसी साहस और विश्वास के कारण उन्होने फरवरी 1919 में प्रस्तावित रौलट ऐक्ट के खिलाफ देशव्यापी आन्दोलन का आह्वान किया।

प्रथम विश्व युद्ध की समाप्ति पर भारतीयों को अंग्रेजों से अनेक आशाएँ थी लेकिन उनकी सारी आशाओं पर पानी फिर गया जब अंग्रेजों ने उन्हे स्वशासन का अधिकार नही दिया। इससे भारतीयों में निराशा बढने लगी और असन्तोष का बडे तीव्र रूप से प्रादुर्भाव हुआ। गरीबी, बीमारी, नौकरशाही के दमन–चक्र, सिपाहियों की भर्ती में सरकार द्वारा प्रयुक्त कठोरता के कारण भारतीय जनता में अंग्रेजी शासन के विरुद्ध पनप रहे असन्तोष ने उग्रवादी क्रान्तिकारी गतिविधियों को तेज कर दिया। युद्ध काल में क्रान्तिकारियों के दमन के लिए भारत सुरक्षा अधिनियम पारित किया गया था और

इसकी अवधि युद्धकाल तक ही थी। लेकिन युद्ध के बाद भी जिस तरह से भारतीयों में असन्तोष और क्रान्तिकारियों का प्रभाव बढ रहा था, उसे दबाने के लिए सरकार को कुछ सख्त कानून की आवश्यकता थी। सरकार को डर सताने लगा कि यदि क्रान्तिकारियों की शक्ति को समय रहते न कुचला गया तो वे भारत में अंग्रेजी राज के लिए घातक साबित हो सकते है। वास्तव में अंग्रेज क्रान्तिकारी गतिविधियों को दबाने के नाम पर भारतीयों के मौलिक अधिकारों का हनन करना चाहते थे। इसके अतिरिक्त सरकार रूस की ओर से भी सशंकित थी। अतः 1917 में ही न्यायाधीश सर सिडनी रॉलेट (Sir Sydney Rawlatt) की अध्यक्षता में ब्रिटिश सरकार ने एक सेडीसन समिति का निर्माण किया जिसका उद्देश्य इस बात की जॉच करना था कि भारत में किस प्रकार और किस सीमा तक क्रान्तिकारी आन्दोलन फैला हुआ है और किन उपायों द्वारा उनका अन्त किया जाना संभव है। दूसरे शब्दों में इस समिति के गठन का उद्देश्य क्रान्तिकारी घटनाओं और आन्दोलनकारियों को कुचलने के लिए एक प्रभावी योजना का निर्माण करना था। रॉलेट समिति ने अप्रैल 1918 ई0 में अपनी रिपोर्ट सरकार के सम्मुख प्रस्तुत किया जिसकी सिफारिश और संस्तुति पर अंग्रेजी सरकार ने केन्द्रीय विधानमण्डल में फरवरी 1919 में दो विधेयक प्रस्तुत किये जिन्हे रॉलेट बिल (Rowlatt Bill) कहते है। इस प्रस्ताव के आते ही इसके विरूद्ध सारे देश में विरोध होने लगे। सी0 वाई0 चिन्तामणि के शब्दों में इन दोनों विधेयकों का विरोध परिषद के गैर–सरकारी भारतीय सदस्यों, निर्वाचित सदस्यों और मनोनीत सदस्यों सबने समान रूप से किया। देशव्यापी असन्तोष और परिषद के सभी भारतीय सदस्यों के विरोध के वावजूद 17 मार्च 1919 को इनमें से एक विधेयक पारित कर दिया गया और कानून का रूप दे दिया गया। इसे ही भारतीय इतिहास में रॉलेट अधिनियम (Rowlatt Act) कहा जाता है।

रॉलेट अधिनियम द्वारा ब्रिटिश सरकार को जनता की स्वतंत्रता का अपहरण करके संदिग्ध व्यक्तियों को बन्दीगृहों में डालने का अधिकार प्राप्त हो गया। ब्रिटिश सरकार किसी भी भारतीय पर अदालत में बिना मुकदमा चलाये और बिना दण्ड दिये जेल में बन्द कर सके। आरोपी को अदालत में प्रत्यक्ष उपस्थित करने अर्थात बंदी प्रत्यक्षीकरण का जो कानून ब्रिटेन में नागरिक स्वाधीनताओं की बुनियाद था, उसे भी निलंबित करने का अधिकार सरकार ने रॉलेट कानून से प्राप्त कर लिया। इस प्रकार इससे इण्डियन एविडेन्स ऐक्ट (Indian Evidence Act) की उस धारा को समाप्त कर दिया गया जिसके अनुसार पुलिस अधिकारी के सामने दी गयी गवाही, सफाई की गवाही नही मानी जा सकती थी। कुल मिलाकर सरकार को पर्याप्त दमनकारी अधिकार मिल गया और भारतीयों की स्वतंत्रता निरर्थक एवं महत्वहीन हो गयी। इसी कारण रॉलेट ऐक्ट को 'काला अधिनियम' अथवा 'आतंकवादी और अपराध अधिनियम' की संज्ञा दी गयी। इस कानून को 'बिना वकील बिना दलील' का कानून अथवा 'काला कानून' भी कहा गया है। अंग्रेजी हुकूमत के इस कानून को भारतीय जनता अपने लिए अपमानजनक समझती थी। यह कानून ऐसे समय पर आया जब भारतीय जनता सांवैधानिक सुधारों का इंतजार कर रही थी।

रॉलेट ऐक्ट के विरोध में पूरे देश में आन्दोलन प्रारंभ हो गया और धरने–प्रदर्शन होने लगा। भारतीय राजनीतिक जनमत के सभी स्तरों पर रॉलेट ऐक्ट के प्रति गहरा असन्तोष था लेकिन सांवैधानिक प्रतिरोध का जब कोई असर नही हुआ तो गॉधीजी ने

सत्याग्रह करने का सुझाव दिया। इस प्रकार गॉधीजी ने 24 फरवरी 1919 को एक 'सत्याग्रह सभा' का गठन किया। इस सभा के स्वयंसेवकों ने रॉलेट कानून का पालन न करने, निषिद्ध वस्तुओं की सार्वजनिक रूप से बिक्री करके अपने आप को गिरफ्तार करवाने और जेल जाने की शपथ ली। स्वयंसेवकों ने देशव्यापी हडताल, उपवास और प्रार्थना सभाएँ आयोजित करने का फैसला लिया और प्रचार कार्य प्रारंभ हो गया। वस्तुतः संघर्ष का यह एक नया रूप था और इस सत्याग्रह ने भारतीयों में एक नया उमंग और उत्साह भर दिया। गॉधीजी ने राष्ट्रवादी कार्यकर्ताओं को गॉवों में जाने का आग्रह किया ताकि राष्ट्रवाद को किसानों, दस्तकारों और शहरी गरीबों की ओर मोडा जा सके। खादी इस रूपान्तरण का प्रतीक थी जो जल्दी ही सभी राष्ट्रवादियों की पहचान बन गई।

सत्याग्रह सभा के स्वयंसेवकों में ज्यादातर होम रूल लीग के युवा सदस्य थे, जो अंग्रेजी हुकूमत के खिलाफ संघर्ष करने के लिए बेताब थे। देशव्यापी हड़ताल, उपवास और प्रार्थना सभाओं के लिए पहले 30 मार्च 1919 की तिथि निर्धारित की गई परन्तु बाद में इसे 6 अप्रैल कर दिया गया। रॉलेट सत्याग्रह के आयोजन में जमनादास द्वारकादास, शंकरलाल बैंकर और बी0जी0 हर्नीमन जैसे बम्बई शहर के होमरूल कार्यकताओं ने अधिकांश धन और जन का इंतजाम किया। इस आन्दोलन में हिन्दुओं और मुसलमानों ने समान रूप से भाग लिया और उनमें अपार एकता देखने को मिली। आन्दोलन ने जो रूख अख्तियार किया वह अप्रत्याशित था। तारीख को लेकर कुछ गलतफहमी के कारण दिल्ली में 30 मार्च को हडताल आयोजित की गई जिसके दौरान काफी हिंसा भडकी। पुलिस ने गोलियॉ चलाई और 8 व्यक्ति घायल हुये। इस प्रकार की हिंसा में 5 युरोपीय नागरिकों की भी मृत्यु हुई। स्थिति को शान्त करने के लिए गॉधीजी दिल्ली जा रहे थे जबकि रास्ते में ही 9 अप्रैल 1919 ई0 को गिरफ्तार कर उन्हे बम्बई भेज दिया गया। गॉधीजी की गिरफ्तारी से जनता का रोष उमड़ पड़ा। सारे देश में हड़तालें हुई और लोगों ने उपवास किये। बम्बई पहुँचकर गॉधीजी ने देखा कि बम्बई और उनका अपना प्रदेश गुजरात आक्रोश की ज्वाला में जल रहा है। उन्होने वही रहकर जनता को शान्त कराने का निश्चय किया। लेकिन दूसरी तरफ पंजाब में स्थिति विस्फोटक होने लगी।

कांग्रेस की पंजाब जॉच–समिति की रिर्पोटों से पता चलता है कि सरकार की भड़कानेवाली और दमनकारी पाशविक गतिविधियों, जैसे भारी संख्या में सैनिकों की जबरन भर्ती, करों एवं युद्ध–ऋणों का बोझ और मूल्यों में अत्यधिक वृद्धि, गॉधीजी की गिरफ्तारी की अपफाहें और विश्वयुद्ध के बाद की आर्थिक शिकायतों के कारण पंजाब में एक स्वतः स्फूर्त विद्रोह हुआ। उधर ब्रिटिश सरकार ने दमन चक्र प्रारंभ कर दिया था और बडी कठोरता और निर्ममता से आन्दोलन को दबाया जाने लगा। सरकारी दमन और अत्याचार से जुझने वाले पंजाब में प्रतिरोध का यह मौका हिंसात्मक गतिविधियों के लिए एक अवसर साबित हुआ। जनता काफी उग्र हो चली थी और अमृतसर और लाहौर में तो स्थिति पर नियंत्रण पाना मुश्किल हो गया। सरकार चिन्तित हो गयी। गॉधीजी ने पंजाब में जाकर लोगों को समझाने–बुझाने का प्रयास करना चाहते थे पर सरकार ने उन्हे पंजाब में घुसने ही नही दिया। कांग्रेसी नेताओं के पंजाब में प्रवेश पर भी रोक लगा दिया गया। 9 अप्रैल 1919 को अमृतसर के स्थानीय नेताओं– डा0 सैफुद्दीन किचलू और डा0 सत्यपाल के नेतृत्व में रामनवमी के जुलूस में

मुसलमानों ने बडी संख्या में भाग लिया और उसी शाम इन दोनों स्थानीय नेताओं को गिरफ्तार कर लिया गया। अपने नेताओं की गिरफ्तारी के विरोध में अमृतसर में 10 अप्रैल को लगभग तीस हजार प्रदर्शनकारियों का एक जुलूस निकला। टाउनहाल के पास शान्तिपूर्ण प्रदर्शनकारियों पर गोली चलाये जाने की प्रतिक्रिया में ब्रिटिश शासन के प्रतीकों– पोस्ट आफिस, सरकारी कार्यालय आदि पर हमले हुये और टेलीग्राम तार काट दिये गये। इसी क्रम में पुलिस ने आन्दोलनकारियों पर गोली चलाई जिसमें 20 लोग मारे गये। प्रशासन ने सेना को बुला लिया और नगर का प्रशासन जनरल डायर के हाथों में सौंप दिया गया। जनरल डायर ने अमृतसर में जनसभाएँ आयोजित करने पर प्रतिबंध लगा दिया।

जालियॉवाला बाग हत्याकाण्ड (Jallianwala Bagh massacre), 1919

यदि किसी घटना ने भारतीय स्वतंत्रता संग्राम पर सबसे अधिक प्रभाव डाला था तो वह घटना जालियॉवाला बाग हत्याकांड ही था। आजादी की लड़ाई में भारतीयों के जान न्योछावर करने के एक से बढ़कर एक उदाहरण है लेकिन जालियॉवाला बाग की घटन कई मामलों में अलहदा है। घटना का विवरण सुनकर आज भी हम सभी के रोंगटे खडे हो जाते है। यह एक अंग्रेज जनरल के क्रूरता की हद पार कर जाने की दास्तां हैं तो भारतीयों में आजादी की छअपटाहट का भी अफसाना है।

अमृतसर की उत्तेजित जनता को कुचलने के लिए नगर को सेना के हवाले सौंप दिया गया था। 12 अप्रैल को शहर में सार्वजनिक सभा करने पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया जिसकी पूरी जानकारी जनता को नही करायी गयी। 13 अप्रैल को पंजाब की सबसे लोकप्रिय बैशाखी का त्योहार था। अपने स्थानीय नेताओं को रिहा कराने और आगे की रणनीति बनाने के उद्देश्य से अमृतसर के जालियॉवाला बाग में एक सभा आयोजित की गई जिसमें कुछ नेता भाषण देने वाले थे। यह बाग अमृतसर के स्वर्णमन्दिर के पास और शहर के बीच में अवस्थित है और उस समय चारों ओर दीवारों से घिरा हुआ था। इसमें आने जाने के लिए केवल एक संकरी गली थी। बाग में एक कुँआ भी था। हजारों की संख्या में स्त्री, पुरूष और बच्चे सभा में एकत्रित हुये थे। इनमें तो बहुत सारे लोग ऐसे भी थे जो अपने परिवार के साथ बैशाखी मेला का आनन्द लेने और सिर्फ घूमने के लिए आये थे। जनरल डायर को लगा कि यह सभा उसके आदेश की अवहेलना करके आयोजित की गई है। जब सभा शान्तिपूर्ण चल रहा था तो जनरल डायर ने 200 देशी और 50 गोरे सिपाहियों को साथ लेकर बाग के एकमात्र दरवाजे को रोक लिया और बिना कोई चेतावनी दिये अपने सैनिकों को राइफलों और मशीनगनों से अन्दर जमा भीड़ पर गोली चलाने का आदेश दिया। सेना ने गोली चलाना तभी बन्द किया जब कारतूस समाप्त हो गये। आतंकग्रस्त भीड तीतर–बितर होने लगी और सभी जान बचाने के लिए भागने लगे। लगभग 10 मिनट तक निहत्थी भीड़ पर गोलियों की बौछार होती रही। जनरल डायर तो एक हथियार लैस गाड़ भी गोली चलाने के लिए ले गया था, लेकिन तंग दरवाजे के कारण यह गाड़ी बाग में नही जा सकी। सभास्थल के चारों ओर ऊंची–ऊंची दीवारें थी जहॉ से तुरन्त भागना संभव भी नही था। भागने का कोई रास्ता नही होने के कारण कुछ लोग जान बचाने के लिए मैदान में मौजूद एकमात्र कुऍं में कूद गये और देखते ही देखते वह कुँआ भी लाशों से पट गया। बाग में लगी पट्टिका पर लिखा है कि 120 शव तो सिर्फ कुऍं से ही मिले।

आज इस कुऍ को 'शहीदी कुआँ' के नाम से जाना जाता है। शहर में कर्फ्यू लगे होने के कारण घायलों को इलाज के लिए कही नही ले जाया सका और लोगों ने तड़प–तड़प कर वहीं दम तोड़ दिया। सरकारी ऑकडों के मुताबिक लगभग दस हजार की निहत्थी भीड पर 1650 राउण्ड गोलियॉ चलाई गई जिसमें 379 लोग मारे गये और लगभग दो हजार लोग घायल हुये। गैर–सरकारी अनुमानों के अनुसार मरनेवालों की संख्या लगभग 1500 थी। भारतीय इतिहास में यह घटना 'जालियॉवाला बाग हत्याकांड' के नाम से जानी जाती है। इस जनसभा की मुखबिरी हंसराज नामक भारतीय ने की थी और उसके सहयोग से इस हत्याकांड की साजिश रची गयी थी।

हण्टर कमीशन के समक्ष बयान देते हुये श्री गिरधारी लाल ने बताया था कि – '' मैने सैकडों व्यक्तियों को वही मरे हुये देखा। सबसे खराब बात यह थी कि गोली उस दरवाजे की तरफ चलायी जा रही थी, जिससे होकर लोग भाग रहे थे। बहुत से लोग भागते हुये भीड़ में पैरो तले कुचले गये और मारे गये। कुछ की ऑखों पर गोलियॉ लगी थी, मेरा यह अनुमान है कि उस समय वहॉ एक हजार से ज्यादा मृतक और आहत व्यक्ति थे।''

जालियॉवाला बाग हत्याकांड से पूरा देश स्तब्ध रह गया। वहसी क्रूरता ने देश को मौन कर दिया। इस निर्मम हत्याकांड के बाद पूरे पंजाब में मार्शल ला लागू कर दिया गया और जनता पर जंगली किस्म के अत्याचार किये गये, जैसे – अंधाधुंध गिरफ्तारियॉ, यातनाऍ, सार्वजनिक रूप से कोड़े लगाना, भारतीयों को रेंगकर चलने के लिए मजबूर करना आदि। इस प्रकार विशेषकर अमृतसर की जनता पर अमानुषिक अत्याचार किये गये। गॉधीजी ने देखा कि पूरा माहौल हिंसा की चपेट में है तो 18 अप्रैल 1919 को उन्होने आन्दोलन वापस लेने की घोषणा कर दी।

हण्टर समिति (Hunter Committee)

सरकार के लाख प्रयत्न के बाद भी अमुतसर की घटनाओं पर अधिक दिनों तक पर्दा नही रह सका। देश के कोने–कोने से इसके विरोध में आवाजें उठने लगी। इसकी जॉच की अनवरत मॉग की जाने लगी। अपना विरोध व्यक्त करने के लिए रवीन्द्रनाथ टैगोर ने अपना 'सर' और 'नाईटहुड' (Knighthood) की उपाधि का परित्याग कर दिया। इसके अलावा, वायसराय की कार्यकारिणी के भारतीय सदस्य शंकरराम नागर ने कार्यकारिणी से इस्तीफा दे दिया था। इस हत्याकांड की विश्वव्यापी निंदा हुई और जनता की जोरदार मॉग पर सरकार को झुकना पड़ा। अन्ततः अत्यधिक दबाव में भारत सचिव एडविन माण्टेग्यू ने 1919 के अन्त में लार्ड हण्टर की अध्यक्षता में एक समिति बनाई जिसके सदस्य तीन अंग्रेज और दो भारतीय– चिमनलाल शीतलवाड और पंडित जगत नारायण थे।

जॉच समिति के सामने जनरल रेजीनॉल्ड डायर ने स्वीकार किया कि वह गोली चला कर लोगों को मार देने का निर्णय पहले से ही लेकर वहॉ गया था और वह उन लोगों पर चलाने के लिए दो तोपें भी ले गया था जो कि संकरे रास्ते से नही जा सकी थी। हण्टर समिति ने अपने जॉच की रिपोर्ट पेश की लेकिन यह कहा जा सकता है कि यह जॉच निष्पक्ष नही हुई। उसने अधिकारियों के नृशंस कार्यो पर पर्दा डालने का प्रयास किया। जॉच समिति की रिपोर्ट आने पर 1920 इ0 में जनरल डायर को पदावनत

करके कर्नल बना दिया गया। ब्रिटिश हाउस ऑफ कॉमन्स ने उसका निन्दा प्रस्ताव पारित किया परन्तु लार्ड सभा ने इस हत्याकांड की प्रशंसा करते हुये उसका प्रशस्ति प्रस्ताव पारित किया। कुल मिलाकर जनरल डायर के कार्य को उचित बताया गया लेकिन समिति ने इतना स्वीकार किया कि जनरल डायर ने अनुचित साधनों का प्रयोग किया था और अधिकारियों ने जनता पर पाशविक अत्याचार किया था।

जालियॉवाला बाग हत्याकांड की जॉच के लिए कांग्रेस ने अपने स्तर पर भी एक जॉच समिति का गठन किया। इस जॉच समिति के अध्यक्ष पण्डित मदन मोहन मालवीय और सदस्य महात्मा गॉधी, चितरंजन दास, मोतीलाल नेहरू, तैयब और डाक्टर जयकर थे। इस समिति ने भी अपनी रिपोर्ट में अधिकारियों के अमानुषिक कार्यो की घोर निन्दा की।

कुल मिलाकर पंजाब की घटनाओं की जॉच–पड़ताल का कोई विशेष परिणाम नहीं निकला। केवल जनरल डायर को नौकरी से अलग कर दिया गया लेकिन पंजाब के गवर्नर तथा भारत के वायसराय के कार्यो की सराहना की गयी। ब्रिटेन के लार्ड सभा में जनरल डायन को माफ कर देने के लिए एक प्रस्ताव लाया गया, उसे ब्रिटिश साम्राज्य का शेर कहा गया और उसे 'प्रतिष्ठा की तलवार तथा 2000 पौण्ड की भेंट दी गई जिससे भारतीयों के दिल पर गहरा आघात पड़ा तथा ब्रिटिश साम्राज्य के प्रति रही–सही राजभक्ति जाती रही।

जब जालियॉवाला बाग में यह हत्याकाण्ड हो रहा था, उस समय उधमसिंह वहीं मौजूद थे और उन्हे भी गोली लगी थी। वहीं उन्होने इस हत्याकांड का बदला लेने की प्रतिज्ञा की और उन्होने अपना नाम बदलकर 'राम मोहम्मद सिंह आजाद' रख लिया था। अन्ततः 21 वर्ष बाद 13 मार्च 1940 को उन्होने लंदन के कैक्सटन हॉल में इस घटना के समय पंजाब के लेफ्टिनेण्ट गवर्नर माइकल ओ डायर को गोली से भून दिया। यहॉ सूच्य है कि जनरल डायर, जिसने जालियॉवाला बाग में निहत्थी भीड पर गोली चलाने का आदेश दिया था, उसकी मौत 1927 में ही हो गयी थी। इस दुस्साहसिक प्रयास के दण्डस्वरूप उधमसिंह को 31 जुलाई 1940 को फॉसी पर चढा दिया गया। इस घटना ने तब 12 वर्ष की उम्र के भगत सिंह की सोच पर गहरा प्रभाव डाला था। इसकी सूचना मिलते ही तब 12 मील पैदल चलकर जालियॉवाला बाग पहुॅच गये थे।

वस्तुतः जालियॉवाला बाग हत्याकाण्ड भारतीय स्वाधीनता आन्दोलन की सर्वाधिक महत्वपूर्ण घटनाओं में से एक है। जालियॉवाला बाग हत्याकांड भारतीय धरती पर निर्दोष भारतीयों की सबसे बर्बर और सोची समझी हत्या की साजिश थी। इस भयावह घटना के बाद भी आजादी के लिए लोगों का हौसला पस्त नही हुआ अपितु सच तो यह है कि इस घटना के बाद आजादी हासिल करने की चाहत लोगों में और जोर से उफान मारने लगी। हालॉकि उन दिनों संचार और आपसी संवाद के वर्तमान साधनों की कल्पना भी नही की जा सकती थी, फिर भी यह खबर पूरे देश में आग की तरह फैल गई। आजादी की चाह न केवल पंजाब, बल्कि पूरे देश के बच्चे–बच्चे के सिर चढ़ कर बोलने लगी। उस दौर के हजारों भारतीयों ने जालियॉवाला बाग की मिट्टी को माथे से लगाकर देश को आजाद कराने का दृढ़ संकल्प लिया। इसके फलस्वरूप ही महात्मा गॉधी ने असहयोग आन्दोलन प्रारंभ किया। इतिहासकार ए0पी0जे0 टेलर ने जलियांवाला बाग हत्याकांड की घटना के विषय में लिखा कि "जलियांवाला बाग

जनसंहार भारतीय इतिहास में एक ऐसा निर्णायक मोड़ था कि इसके बाद भारत के लोग ब्रिटिश शासन से अलग हो गए।

इस प्रकार एक राजनीतिक अभियान के रूप में रॉलेट ऐक्ट विरोधी सत्याग्रह स्पष्ट रूप से असफल रहा क्योंकि वह अपने अकेले लक्ष्य को अर्थात रॉलेट ऐक्ट को निरस्त कराने के लक्ष्य को भी नहीं पा सका। उसमें हिंसा भी शामिल हो गयी, यद्यपि इसे अहिंसक होना चाहिए था। गॉधीजी ने माना कि अहिंसा के अनुशासन के लिए अपर्याप्त रूप से प्रशिक्षित जनता को सत्याग्रह का हथियार थमाकर उन्होनें भारी गलती की है। फिर भी, यह आन्दोलन महत्वपूर्ण था क्योंकि यह पहला राष्ट्रव्यापी जन–आन्दोलन था और कुछ सीमित वर्गों की राजनीति से जनता की राजनीति में भारतीय राष्ट्रवादी राजनीति के रूपान्तरण के आरंभ का सूचक था।

खिलाफत आन्दोलन, 1919 :

खिलाफत आन्दोलन भारत में मुख्य तौर पर मुसलमानों द्वारा चलाया गया राजनीतिक–धार्मिक आन्दोलन था। इस आन्दोलन का उद्देश्य सुन्नी इस्लाम के मुखिया माने जाने वाले तुर्की के खलीफा के पद की पुनर्स्थापना कराने के लिए अंग्रेजों पर दबाव बनाना था।

1919 से 1922 के मध्य अंग्रेजी सत्ता के विरुद्ध दो सशक्त जन आंदोलन चलाये गये– खिलाफत और असहयोग आंदोलन। खिलाफत और असहयोग दोनों आंदोलन पृथक–पृथक मुद्दों को लेकर प्रारंभ हुए थे और दोनों का प्रत्यक्ष रूप से कोई संबंध नहीं था, फिर भी, दोनों ने ही भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन को प्रोत्साहित करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई।

आंदोलनों की पृष्ठभूमि –

बीसवीं सदी के आरंभिक वर्षों से ही एक नया शिक्षित मुस्लिम नेतृत्व उभरने लगा था, जो सर सैयद अहमद खाँ की वफादारी की राजनीति और पुरानी पीढ़ी के कुलीनवाद से दूर होकर पूरे समुदाय का समर्थन पाने का प्रयास कर रहा था। मुहम्मद अली के 'कामरेड' (कलकत्ता), अबुल कलाम आजाद के 'अल–हिलाल' (कलकत्ता) या जफर अली खान के 'जमींदार' (लाहौर) जैसी मुस्लिम पत्र–पत्रिकाओं के अखिल–इस्लामी और ब्रिटिश–विरोधी स्वर ने मुस्लिम युवकों को आकृष्ट किया।

मुस्लिम समुदाय की लामबंदी के लिए 1910 में 'जीयतुल अंसार' (भूतपूर्व छात्र सभा) और 1913 में दिल्ली में एक कुरान मदरसा शुरू किया गया था। नये शिक्षित मुस्लिम नेतृत्व के साथ–साथ उलेमा भी एक नई राजनीतिक शक्ति के रूप में भारत के विभिन्न मुस्लिम समूहों के बीच एक अहम् कड़ी के रूप में उभर रहे थे।

प्रथम विश्वयुद्ध के पहले और उसके दौरान तीन राष्ट्रीय और अंतरराष्ट्रीय घटनाओं जैसे 1911–12 में इटली और बाल्कन के युद्धों में इंग्लैंड द्वारा तुर्की को सहायता न देना, अगस्त 1912 में अलीगढ़ में मुस्लिम विश्वविद्यालय बनाने के प्रस्ताव को हार्डिंग्स द्वारा अस्वीकार किया जाना, और 1913 में कानपुर में एक मस्जिद के साथ लगे चबूतरे को तोड़ने के परिणामस्वरूप होने वाला दंगा, के कारण हिंदू–मुस्लिम राजनीतिक एकीकरण के लिए एक व्यापक पृष्ठभूमि तैयार हुई।

1912 में तथाकथित 'यंग पार्टी ने मुस्लिम लीग पर कब्जा कर लिया और वे इसे अधिक आक्रामक बनाने की ओर ओर बढ़े; साथ ही राष्ट्रवादी हिंदुओं के साथ एक प्रकार के समझौते और अखिल–इस्लामवाद के प्रयास भी करने लगे थे। कांग्रेस तथा मुस्लिम लीग के बीच होनेवाले 'लखनऊ समझौता' (1916) से 'फूट डालो और राज करो' की ब्रिटिश नीति भी असफल हो चुकी थी। तुर्की का सुल्तान 'खलीफा' अर्थात् धार्मिक राजनीतिक क्षेत्र में मुसलमानों के प्रमुख के रूप में प्रतिष्ठित था। मुसलमानों का मानना था कि तुर्की की स्थिति पर आँच नहीं आनी चाहिए।

1911–12 में ट्राईपोलिटन और बाल्कन युद्धों के समय तुर्की की सहायता के लिए भारत में एक 'तुर्की राहतकोष' बनाया गया था और मार्च 1912 में एक चिकित्सा दल (टेड क्रेसेंट मेडिकल मिशन) भेजा गया था। अब्दुल बारी के लखनऊ स्थित फिरंगीमहल उलमा संप्रदाय के समर्थन से अली बंधुओं ने मुसलमानों के पवित्र जगहों की सुरक्षा के लिए धन जुटाने के उद्देश्य से 1913 में 'कुल–हिंद अंजुमने–खुद्दामे–काबा' (अखिल भारतीय काबा सेवक सभा) का संगठन किया था।

प्रथम विश्वयुद्ध में मुसलमानों का सहयोग लेने के लिए इंग्लैंड के प्रधानमंत्री लार्ड जार्ज ने भारतीय मुसलमानों से वादा किया था कि "यदि भारतीय मुसलमान इस महायुद्ध में अंग्रेजों का साथ देंगे, तो विजय के बाद अंग्रेज तुर्कीं की अखंडता को बनाये रखेंगे और अरब तथा मेसोपोटामिया के इस्लामिक धार्मिक स्थलों की रक्षा करेंगे।" जार्ज ने कहा था कि "हम इसलिए नहीं लड़ रहे हैं कि एशिया माइनर और थ्रेंस के समृद्ध और प्रसिद्ध भू–भागों को, जहाँ अधिकतर तुर्क जाति के लोग निवास करते हैं, तुर्की से छीन लें। "

प्रथम विश्वयुद्ध में मित्र–राष्ट्रों की विजय हुई और 1919 ई0 में तुर्की खलीफा का पद समाप्त कर दिया गया। 15 मई 1920 को तुर्की व मित्र राष्ट्रों के बीच सेवर्स की संधि हुई। सेवर्स संधि के उपरांत 10 अगस्त 1920 को मित्र राष्ट्रों ने तुर्की के पुराने आटोमान साम्राज्य को विघटित कर दिया और उसके कुछ प्रदेशों को स्वतंत्र कर दिया गया और कुछ पर इंग्लैंड तथा फ्रांस ने कब्जा कर लिया। तुर्की के सुल्तान के समस्त अधिकार छीन लिये गये, जिससे सुल्तान की स्थिति एक कैदी जैसी हो गई।

मुसलमानों ने भारत के वायसराय को अपनी पीड़ा बताई तो वायसराय ने दो–टूक जवाब दिया : "तुर्की उससे अधिक और किसी व्यवहार की आशा नहीं करता, जिसकी आशा जर्मनी के पक्ष में तलवार उठानेवाले अन्य देश करते हैं, उसे युद्ध में शामिल होने (अंग्रेजों के विरुद्ध) के परिणाम तो भुगतने ही होंगे।" अंग्रेजों के विश्वासघात से क्षुब्ध होकर खिलाफत की पुनर्स्थापना के लिए भारतीय मुसलमानों ने खिलाफत अर्थात खलीफा के पद की पुनर्स्थापना के लिए जो आंदोलन चलाया, उसे खिलाफत आंदोलन' कहते हैं।

भारतीय मुसलमानों को 1918 ई0 से ही अंग्रेजों की नीयत पर शक होने लगा था, क्योंकि अंग्रेजों के ही भड़काने पर अरबों ने अपने खलीफा के विरुद्ध विद्रोह किया था। दिसंबर 1918 ई0 में मुस्लिम लीग के दिल्ली सत्र ने उलेमा को आमंत्रित किया और मक्का के शरीफ हुसैन की कटु आलोचना की और माँग की कि मुस्लिम राष्ट्रों की अखंडता को अक्षुण्ण रखा जाए और इस्लाम के पवित्र एवं धार्मिक स्थलों को खलीफा

को लौटाया जाय। इस तरह खिलाफत आंदोलन की जमीन तैयार हुई थी, जो भारत के विभाजित मुस्लिम समुदाय में राजनीतिक एकता लाने के लिए चलाया गया पहला जन–आंदोलन था।

खिलाफत आंदोलन का आरंभ –

17 अगस्त 1919 को राष्ट्रीय स्तर पर 'अखिल भारतीय खिलाफत दिवस' मनाया गया और सितंबर 1919 में अली बन्धुओं– मौलाना मोहम्मद अली और शौकत अली, मौलाना अबुल कलाम आजाद, हकीम अमजल खॉ और हसरत मोहानी के नेतृत्व में एक खिलाफत कमेटी का गठन किया गया। खिलाफत आंदोलनकारियों की मुख्यतः तीन माँगें थीं–

1. मुसलमानों के धार्मिक स्थलों पर खलीफा के प्रभुत्व को पुनर्स्थापित किया जाए।
2. उसके युद्ध के पहले के इलाकों को उसी के पास रहने दिया जाए ताकि वह इस्लामी जगत के प्रमुख के रूप में अपनी स्थिति को बनाये रख सके और इस्लाम की रक्षा कर सके।
3. जजीरतुल अरब (अरब, सीरिया, इराक और फिलीस्तीन) पर मुसलमानों की संप्रभुता बनी रहे ।

खिलाफत के अखिल इस्लामी प्रतीक ने अखिल भारतीय इस्लामी लामबंदी का मार्ग प्रशस्त किया। खिलाफत आंदोलन अंग्रेज विरोधी भी था और इसने गांधीजी को इस ध्येय के समर्थन के लिए प्रेरित किया, ताकि मुसलमानों को भारतीय राजनीति की मुख्यधारा में लाया जा सके।

नवम्बर 1919 ई0 में मुस्लिम लीग ने अपने दिल्ली सम्मेलन में राजनैतिक प्रश्न के मुद्दे पर आंदोलन चलाने के लिए कांग्रेस को पूर्ण समर्थन देने का निश्चय किया। खिलाफत आंदोलन में नरमलीय और जुझारू दो धाराएँ विकसित हुईं। पहली धारा का केंद्र सेंट्रल खिलाफत कमेटी थी, जिसका संगठन बम्बई के चोटानी जैसे समृद्ध व्यापारियों ने किया था।

दूसरी घारा में निम्न मध्य वर्ग के पत्रकार और उलेमा सम्मिलित थे जिनका संयुक्त प्रांत, बंगाल, सिंघ और मालाबार के छोटे कस्बों और गाँवों में पर्याप्त प्रभाव था। बम्बई के नरमदलीय नेता आंदोलन को संयत सभाओं, ज्ञापनों ओर प्रतिनिधिमंडलों को लंदन और पेरिस भेजने तक ही सीमित रखना चाहते थे। गांधीजी ने नरमपंथियों और जुझारू तत्वों, दोनों के बीच मध्यस्थ की भूमिका का निर्वहन करके अपने–आपको महत्त्वपूर्ण बना लिया।

खिलाफत नेताओं के लिए गांधीजी हिंदू राजनीतिज्ञों से संपर्क की अनिवार्य कड़ी थे। खिलाफत नेता हिंदू–मुसलमान एकता के लिए बहुत उत्सुक थे क्योंकि असहयोग आंदोलन के लिए सेवाओं और परिषदों का बहिष्कार करना आवश्यक था जो हिंदुओं के सहयोग के बिना संभव नहीं था। हिंदुओं का सहयोग लेने के लिए दिसंबर 1919 में मुस्लिम लीग ने बकरीद पर गोकशी न करने का आह्वान किया।

गांधीजी ने खिलाफत आंदोलन को हिंदुओं और मुसलमानों में एकता स्थापित करने का ऐसा अवसर माना जो कि अगले सौ वर्षों तक नहीं मिलेगा। गांधीजी खिलाफत के प्रति पूर्ण समर्थित थे और इस मुद्दे को लेकर सरकार के विरुद्ध सत्याग्रह तथा असहयोग आंदोलन शुरू करना चाहते थे। तिलक धार्मिक मुद्दों पर मुस्लिम नेताओं के साथ संधि करने के पक्ष में नहीं थे, साथ ही वे 'सत्याग्रह' को एक राजनीतिक हथियार के रूप में प्रयोग किये जाने के प्रति भी आशंकित थे।

गांधीजी के दबाव में कांग्रेस ने हिंदू–मुस्लिम एकता स्थापित करने और मुस्लिम समुदाय को राष्ट्रीय आंदोलन की मुख्यधारा में लाने के लिए खिलाफत आंदोलन में मुसलमानों की सहायता करने के लिए गांधीजी के राजनैतिक कार्यक्रम को स्वीकृति प्रदान कर दी।

संघर्ष के संवैधानिक तरीकों पर से कांग्रेस का विश्वास धीरे–धीरे कम होता जा रहा था, विशेष रूप से पंजाब की घटनाओं के संबंध में हंटर कमिटि की भेदभावपूर्ण व दमनकारी सिफारिशों के कारण। गांधीजी ने कहा– "यह ठीक मेरी नैतिक जिम्मेदारी की भावना है जिसने मुझे खिलाफत के प्रश्न को हाथ में लेने तथा मुसलमानों के सुख–दुःख में उनका साथ देने के लिए प्रेरित किया है। यह पूरी तरह सत्य है कि मैं हिंदू–मुस्लिम एकता में सहयोग दे रहा हूँ और उसे प्रोत्साहित कर रहा हूँ।"

गांधीजी मई 1920 तक नरमपंथी बंबई समूह के ही पक्षधर बने रहे। दिल्ली में 22–23 नवंबर 1919 को अखिल भारतीय खिलाफत कांग्रेस में जुझारु समूह के हसरत मोहानी ने पहली बार अंग्रेजी माल का बहिष्कार करने का आह्वान किया, किंतु 24 नवंबर को गांधीजी ने हसरत मोहानी के प्रस्ताव को अस्वीकार कर दिया।

दिसंबर 1919 में गांधीजी व खिलाफत नेताओं से विचार–विमर्श के बाद हिंदुओं और मुसलमानों का एक संयुक्त प्रतिनिधिमंडल डा0 अंसारी की अध्यक्षता में 19 जनवरी 1920 को वायसाय चेम्सफोर्ड से खिलाफत के प्रश्न को हल करने की माँग की और एक प्रतिनिधिमंडल मुहम्मद अली जिन्ना के नेतृत्व में इंग्लैंड भेजा गया लेकिन असफलता ही हाथ लगी।

20 फरवरी 1920 को कलकत्ता में मौलाना अबुल कलाम आजाद की अध्यक्षता में खिलाफत सम्मेलन का आयोजन हुआ। 10 मार्च 1920 को संपूर्ण भारत में 'काला दिवस' के रूप में मनाया गया और उसी दिन गांधीजी ने घोषणा की कि खिलाफत का प्रश्न सांविधानिक सुधारों तथा पंजाब के अत्याचारों से अधिक महत्त्वपूर्ण है। गांधीजी ने ब्रिटिश सरकार को स्पष्ट चेतावनी दी कि अगर तुर्की के साथ शांति संधि की शर्तें भारतीय मुसलमानों को संतुष्ट नहीं करतीं, तो वे असहयोग आंदोलन शुरू कर देंगे।

24 मई 1920 को तुर्की के साथ सैब्र की संधि की कड़ी शर्तें प्रकाशित हुई और उसी माह 28 मई को पंजाब के उपद्रवों से संबंधित हंटर आयोग की बहुमतवाली रिपोर्ट भी आई। हाउस आफ लार्ड्स ने डायर की निंदा के प्रस्ताव को अस्वीकार कर दिया था और 'मार्निंग पोस्ट' ने जालियांवाला बाग के हत्यारे के लिए 26,000 पौण्ड की राशि एकत्र की थी।

केंद्रीय खिलाफत समिति की इलाहाबाद की सभा (1–3 जून 1920) में जुझारु तत्वों की विजय हुई जिन्हें अब गांधीजी का समर्थन प्राप्त था। असहयोग का एक चार चरणोंवाला कार्यक्रम घोषित किया गया– उपाधियों का त्याग, सिविल सेवाओं, सेना और पुलिस का बहिष्कार और अंततः करों की नाअदायगी। गांधीजी ने कांग्रेस पर पंजाब के अत्याचार', 'खिलाफत के अत्याचार और स्वराज के तीन मुद्दों पर केंद्रित कार्यक्रम बनाने के लिए जोर डाला। 9 जून 1920 को इलाहाबाद में एक सर्वदलीय सम्मेलन में सर्वसम्मति से स्कूलों, कालेजों और अदालतों के बहिष्कार का एक कार्यक्रम बनाया गया और गांधीजी को इस आंदोलन की अगुआई करने का अधिकार दिया गया।

गांधीजी ने 22 जून को वायसराय को एक नोटिस दिया कि, "कुशासन करनेवाले शासक को सहयोग देने से इनकार करने का अधिकार हर व्यक्ति को है। सम्राट की सरकार ने खिलाफत के मामले में कपट, अनैतिकता और अन्यायपूर्ण कार्य किया है..... . ऐसी सरकार के लिए मेरे मन में न आदर रह सकता है और न ही सद्भाव"। इस प्रकार खिलाफत आन्दोलन का गॉधीजी द्वारा चलाये गये असहयोग आन्दोलन में विलय हो गया। जब नवंबर 1922 में तुर्की में मुस्तफ़ा कमालपाशा ने सुल्तान ख़लीफ़ा मोहम्मद षष्ठ को पदच्युत कर अब्दुल मजीद आफ़ंदी को पदासीन किया और उसके समस्त राजनीतिक अधिकार अपहृत कर लिए तब ख़िलाफ़त कमेटी ने 1924 में विरोध प्रदर्शन के लिए एक प्रतिनिधिमंडल तुर्की भेजा। राष्ट्रीयतावादी मुस्तफ़ा कमाल ने उसकी सर्वथा उपेक्षा की और 3 मार्च 1924 को उसने ख़लीफ़ा का पद समाप्त कर ख़िलाफ़त का अंत कर दिया। इस प्रकार, भारत का ख़िलाफ़त आंदोलन भी अपने आप समाप्त हो गया।

असहयोग आन्दोलन, 1920–22 (Non co-operation Movement) :

बीसवीं सदी का दूसरा दशक का अंतिम वर्ष अर्थात 1920 भारतीय जनता के लिए निराशा और क्षोभ का वर्ष था। जनता उम्मीद लगाए बैठी थी कि प्रथम विश्वयुद्ध की समाप्ति के बाद अंग्रेजी हुकूमत उनके लिए कुछ करेगी, लेकिन रौलट ऐक्ट, जलियाँवाला बाग कांड और पंजाब में मार्शल लॉ ने उसकी सारी उम्मीदों पर पानी फेर दिया। जनता समझ गई कि अंग्रेजी हुकूमत दमन के सिवा उन्हे कुछ देने वाली नहीं है। 1919 के मांटेग्यू–चेम्सफ़ोर्ड सुधारों का लक्ष्य भी दोहरी शासन प्रणाली लागू करना था, न कि जनता को राहत देना। इससे भी असंतोष और उभरा। इसके अलावा मुसलमानों को महसूस होने लगा कि अँग्रेजी हुकूमत ने उन्हें भी धोखा दिया है। प्रथम विश्वयुद्ध में मुसलमानों का सहयोग लेने के लिए अँग्रेज़ों ने तुर्की के प्रति उदार रवैया अपनाने का वादा किया था, पर बाद में वे अपने वादे से मुकर गए।

भारत के मुसलमान तुर्की के खलीफा को अपना धर्मगुरु मानते थे। उन्हें लगा कि अब तुर्की के धर्मस्थलों पर खलीफा का नियंत्रण नहीं रह जाएगा। भारतीय मुसलमान इससे बहुत क्षुब्ध हुए। गाँधीजी और उन जैसे तमाम लोग, जो यह उम्मीद लगाए बैठे थे कि जलियाँवाला बाग कांड और पंजाब में उपद्रवों की निष्पक्ष जाँच होगी और ब्रिटिश सरकार तथा जनता इसकी एक स्वर से निदा करेगी, अब निराश हो चले थे। 'हंटर कमेटी' द्वारा इन घटनाओं की जाँच जिस तरह की जा रही थी और पूरे मामले की लीपा–पोती की जा रही थी, उससे ये लोग काफी क्षुब्ध थे। उधर ब्रिटिश संसद विशेषकर 'हाउस ऑफ लॉर्डस' में जनरल डायर के कारनामों को उचित करार दिया

गया था। ये सारी कारगुज़ारियाँ अँग्रेजी हुकूमत की मंशा का पर्दाफाश करने के लिए काफ़ी थीं।

अप्रैल 1920 तक ब्रिटिश सरकार के पास अपने गलत क़दमों को सही ठहराने के सारे तर्क समाप्त हो गए थे। खिलाफत नेताओं से साफ–साफ कह दिया गया था कि वे अब और अधिक उम्मीद न रखें। तुर्की के साथ 1920 में हुई संधि इस बात का सबूत थी कि तुर्की के विभाजन का फैसला अंतिम है। गाँधीजी को इससे भी गहरा दुःख पहुँचा क्योंकि वह खिलाफत नेताओं के दोस्त थे। नवंबर 1919 ई0 में खिलाफत सम्मेलन में उन्हें विशेष अतिथि के रूप में बुलाया गया था। गाँधीजी को भी अहसास हुआ कि अँग्रेजों ने धोखा दिया है। 1920 में गाँधीजी ने खिलाफ़त कमेटी को अँग्रेजी हुकूमत के खिलाफ अहिसक असहयोग आंदोलन छेड़ने की सलाह दी। 9 जून 1920 को इलाहाबाद में खिलाफत कमेटी ने इस सलाह को सर्वसम्मति से स्वीकार कर लिया और गाँधीजी को इस आंदोलन की अगुआई करने का अधिकार सौंपा। इसी बीच कांग्रेस को भी महसूस होने लगा था कि संवैधानिक तौर–तरीकों से कुछ हासिल होनेवाला नहीं है। पंजाब उपद्रवों की जाँच करनेवाली कमेटी की रिपोर्ट से भी कांग्रेस को निराशा ही हाथ लगी। कांग्रेस ने खुद इन घटनाओं की जाँच कराई और सच का पता लगाया। इस तरह ब्रिटिश हुकूमत के रवैये से क्षुब्ध कांग्रेस भी असहयोग आंदोलन का रास्ता अख़्तियार करने को तैयार थी। आगे की रणनीति तय करने को लेकर सितंबर 1920 में कांग्रेस का विशेष अधिवेशन आयोजित करने का फ़ैसला किया गया। देश की जनता भी अँग्रेज़ी हुकूमत से खार खाए बैठी थी। इससे पहले के चार दशकों के राष्ट्रीय आंदोलन ने जनता के एक बहुत बड़े तबके को राजनीतिक रूप से सक्रिय बनाया था। अँग्रेजी हुकूमत की धोखेबाज़ी और दमन से जनता कसमसा उठी थी। उसे लग रहा था कि अब चुप रहना कायरता होगी।

इसके अलावा आर्थिक कठिनाइयों ने भी जनता को संघर्ष के लिए प्रेरित किया। प्रथम विश्वयुद्ध के कारण महँगाई बहुत बढ़ गई थी। नगरों और कस्बों में रहनेवाले मजदूर, दस्तकार, मध्यवर्ग और निम्न–मध्यवर्ग सभी परेशान थे। खाद्यान्नों की कमी तो थी ही, कीमतें भी आसमान छू रही थीं। मुद्रास्फीति लगातार बढ़ती जा रही थी। विश्वयुद्ध समाप्त होने के बाद भी यह क्रम समाप्त नहीं हुआ। गाँवों में किसान और खेतिहर मज़दूर सुखा, महामारी और प्लेग से जुझ रहे थे। इन महामारियों की चपेट में आकर हजारों लोग मर गए। इस तरह शहरों–गाँवों और कस्बों में, सभी जगह अँग्रेजी हुकूमत के खिलाफ लोग कसमसा रहे थे। विरोध की इस ऊर्जा को सही दिशा देने भर की जरूरत थी।

गाँधीजी ने 22 जून को ही वाइसराय को एक नोटिस दिया था जिसमें लिखा था– "कुशासन करने वाले शासक को सहयोग देने से इनकार करने का अधिकार हर आदमी को है।" पहली अगस्त 1920 को आंदोलन छिड़ गया। पहली अगस्त को ही प्रातः बाल गंगाधर तिलक का निधन हो गया। तिलक के निधन पर शोक और आंदोलन की शुरुआत दोनों चीजें एक साथ मिल गई। पूरे देश में हड़ताल मनाई गई, प्रदर्शन हुए, सभाएँ आयोजित की गईं और कुछ लोगों ने उपवास रखा।

कांग्रेस का नया कार्यक्रम निश्चित करने के लिए सितंबर 1920 में कलकत्ता में कांग्रेस का अधिवेशन हुआ। इसकी अध्यक्षता लाला लाजपत राय ने किया। इस अधिवेशन में

गॉधीजी ने असहयोग का प्रस्ताव पेश करते हुये अंग्रेजी सरकार को ''शैतान'' कहा। लेकिन कई वरिष्ठ नेताओं के विरोध के बावजूद असहयोग आंदोलन को कांग्रेस ने मंजूरी दे दी और इसे अपना आंदोलन मान लिया। विरोधियों में प्रमुख थे– पण्डित मदन मोहन मालवीय, सी0 आर0 दास, श्रीमती एनी बेसेण्ट तथा खारपड़े जिनका विरोध विधान परिषदों (Legislative assembly) के बहिष्कार को लेकर था। कुछ ही दिन बाद इनके चुनाव होने वाले थे। लेकिन बहिष्कार के विचार से असहमति रखनेवालों ने भी कांग्रेस के अनुशासन का पालन किया और चुनावों में भाग नहीं लिया। ज्यादातर मतदाताओं ने भी इसका बहिष्कार किया।

पुनः दिसंबर 1920 में नागपुर में कांग्रेस का वार्षिक अधिवेशन हुआ जिसमें गॉधीजी के असहयोग प्रस्ताव को विचारार्थ रखा गया। इस समय तक कांग्रेस में अंदरूनी विरोध लगभग ख़त्म हो चुका था। विधान परिषदों के चुनाव हो चुके थे, इसलिए इसके बहिष्कार का विवादास्पद मुद्दा भी खत्म हो गया था। सी0आर0 दास ने ही इस सम्मेलन में अहसयोग आंदोलन से संबद्ध प्रस्ताव रखा जो काफी लंबा–चौड़ा था। यह प्रस्ताव पूर्ण बहुमत से स्वीकृत हुआ। इस आन्दोलन में कांग्रेस ने एक नया दृष्टिकोण अपनाते हुये वैधानिक साधनों का परित्याग किया और सरकार का सक्रिय विरोध करने का निश्चय किया।

असहयोग आन्दोलन का कार्यक्रम –

असहयोग आंदोलन के तहत निम्नलिखित कार्यक्रम निर्धारित किये गये थे –

1. सरकारी उपाधियों और प्रशस्तिपत्रों को लौटाना।
2. सरकारी स्कूलों, कॉलेजों, अदालतों आदि का बहिष्कार करना और इसके स्थान पर राष्ट्रीय स्कूलों और कॉलेजों की स्थापना करना।
3. यह भी कहा गया कि बाद में जनता को सरकारी नौकरियों से इस्तीफा देने और कानून की अवज्ञा–जिसमें कर अदायगी न करना भी शामिल हो के लिए भी कहा जा सकता था।
4. सरकारी दरबारों तथा उत्सवों, और सरकार के सम्मान में आयोजित उत्सवों में सम्मिलित न होना।
5. स्थानीय विवादों के निबटारे के लिए पंचायतों के गठन का भी प्रस्ताव रखा गया था।
6. स्थानीय संस्थाओं के मनोनीत सदस्रें को अपने–अपने पदों को रिक्त करना।
7. सैनिकों, क्लर्कों और श्रमिकों द्वारा विदेश में नौकरी नहीं करना।
8. विदेशी माल का बहिष्कार और स्वदेशी का प्रचार।
9. हाथ से कताई–बुनाई को प्रोत्साहन देने तथा हिंदू–मुसलिम एकता को बढ़ावा देने पर विशेष जोर देने की बात कही गई थी।
10. छुआछूत को मिटाने और हर हाल में अहिंसा का पालन करने का सख्त निर्देश था।

गाँधीजी ने आश्वासन दिया कि यदि इन कार्यक्रमों पर पूरी तरह अमल हुआ, तो एक वर्ष के भीतर ही आज़ादी मिल जाएगी। इस तरह नागपुर कांग्रेस सम्मेलन ने जनांदोलन के संविधान इतर तरीके अपनाने की घोषणा कर दी। क्रांतिकारी आंदोलनकारियों के तमाम गुटों ने इस आंदोलन को अपना समर्थन दिया।

आन्दोलन की प्रगति –

नए कार्यक्रमों पर अमल करने के लिए कांग्रेस के संगठनात्मक ढाँचे में भी कई परिवर्तन किए गए, और उद्देश्य भी बदल गया। पहले उद्देश्य था– संवैधानिक और वैधानिक तरीकों से स्वशासन की प्राप्ति, अब उद्देश्य था– अहिंसक और उचित तरीकों से स्वराज की प्राप्ति । गाँधीजी द्वारा तैयार कांग्रेस के नए संविधान ने भी कांग्रेस के चरित्र को काफ़ी हद तक बदला।

अब कांग्रेम के रोज़मर्रा के काम को देखने के लिए 15 सदस्यीय कार्यकारिणी गठित की गई। तिलक ने 1916 में ही इसका प्रस्ताव रखा था, पर नरमपंथी कांग्रेसियों के विरोध के कारण इसे मंजूरी नहीं मिली। गाँधीजी जानते थे कि किसी आंदोलन को लंबे समय तक चलाने के लिए कोई ऐसी कमेटी होनी चाहिए, जो साल भर सारा कामकाज देखती रहे। स्थानीय स्तर पर कार्यक्रमों को अमली जामा पहनाने के लिए प्रदेश कांग्रेस समितियों का गठन किया गया। इनका गठन भाषाई आधार पर किया गया, जिससे इनमें स्थानीय लोगों की ज्यादा–से–ज्यादा भागीदारी हो। इसके बाद कांग्रेस ने गाँवों–कस्बों तक पहुँचने का लक्ष्य बनाया। गाँवों और कस्बों में भी कांग्रेस समितियाँ गठित की गई। सदस्यता फीस चार आना प्रति वर्ष कर दी गई जिससे गरीब लोग भी सदस्य बन सकें। इस तरह कांग्रेस संगठन का दायरा भी बढ़ा और उसका विकेंद्रीकरण भी हुआ। कांग्रेस ने यह भी तय किया कि जहाँ तक संभव हो, हिंदी को ही बतौर संपर्क भाषा इस्तेमाल किया जाए।

कांग्रेस द्वारा इसको अपनाने के फलस्वरूप असहयोग आंदोलन में नई ऊर्जा भरी। जनवरी 1921 से पूरे देश में आंदोलन की लोकप्रियता बढ़ने लगी। गाँधीजी ने ख़िलाफ़त नेता अली बन्धुओं के साथ पूरे देश का दौरा किया, सैकड़ों सभाओं में भाषण दिए और राजनीतिक कार्यकर्ताओं से मुलाकात की, उनसे बातचीत की। पहले महीने में ही एक आँकड़े के अनुसार लगभग 90,000 छात्र–छात्राओं ने सरकारी स्कूलों और कॉलेजों को छोड़ दिया और राष्ट्रीय स्कूलों और कॉलेजों में भरती हो गए दाखिल ले लिया। उस समय देश में 800 राष्ट्रीय स्कूल और कॉलेज थे। शिक्षा का बहिष्कार पश्चिम बंगाल में सबसे अधिक सफल रहा। कलकत्ता के विद्यार्थियों ने राज्यव्यापी हड़ताल की। उनकी माँग थी कि स्कूलों के प्रबंधक सरकार से अपना रिश्ता तोड़ें। सी0आर0 दास ने इस आंदोलन को बहुत प्रोत्साहित किया और सुभाषचंद्र बोस 'नेशनल कॉलेज' (कलकत्ता) के प्रधानाचार्य बन गए। पंजाब में भी बड़े पैमाने पर शिक्षा का बहिष्कार किया गया। बंगाल के बाद इसी का नंबर था। लाला लाजपत राय ने यहाँ बड़ा काम किया, हालाँकि शुरू में वह इसके समर्थक नहीं थे। बंबई, उत्तरप्रदेश, बिहार, उड़ीसा, असम में भी इस कार्यक्रम पर काफ़ी अमल हुआ, लेकिन मद्रास में इसे कोई खास सफलता नहीं मिली।

वकीलों ने बड़े पैमाने पर अदालतों का बहिष्कार तो नहीं किया, लेकिन देश के जाने–माने वकीलों, जैसे सी0 आर0 दास, मोतीलाल नेहरू, एम0 आर0 जयकर, किचलू, वल्लभ भाई पटेल, सी0 राजगोपालाचारी, टी0 प्रकाशम और आसफ़ अली के वकालत छोड़ने से लोग बहुत प्रोत्साहित हुए। संख्या की दृष्टि से इस बार भी बंगाल पहले नंबर पर रहा, उसके बाद आंध्र. उत्तरप्रदेश, कर्नाटक और पंजाब।

बहिष्कार आंदोलन में सबसे अधिक सफल था– विदेशी कपड़ों के बहिष्कार का कार्यक्रम। कार्यकर्ता घर–घर जाकर विदेशी कपड़े इकट्ठे करते, स्थानीय लोग एक जगह इकट्ठे होते और इन कपड़ों की होली जलाई जाती। प्रभुदास गाँधी महात्मा गाँधी के साथ देश के दौरे पर गए थे। वे बताते हैं कि दूरदराज़ के स्टेशनों पर, जब गाड़ी खड़ी होती, तो "गाँधीजी स्टेशन पर खड़े लोगों से कहते कि आप लोग पूरा कपड़ा न सही, विरोध जताने के लिए अपनी पगड़ी, दुपट्टा या टोपी को ही उतार दीजिए। लोग फ़ौरन अपना दुपट्टा, टोपी या पगड़ी, जिसके पास जो होता, उतार देते। प्रभुदास गाँधी बताते हैं कि जैसे ही हमारी गाड़ी आगे बढ़ती, इन कपड़ों की होली जलाई जाती। ट्रेन की खिड़की से लपटें दिखाई देतीं। विदेशी कपड़े बेचनेवाली दुकानों पर धरना भी बहिष्कार आंदोलन में शामिल था। इसका नतीजा यह हुआ कि 1920–21 में जहाँ एक अरब दो करोड़ रुपए मूल्य के विदेशी कपड़ों का आयात हुआ था, वहीं 1921–22 में यह घटकर 57 करोड़ हो गया।

इस आंदोलन में एक और कार्रवाई, जो बहुत लोकप्रिय हुई, वह थी ताड़ी की दुकानों पर धरना। हालाँकि यह मूल कार्यक्रम में नहीं था। सरकार को इससे बहुत आर्थिक नुकसान पहुँचा और वह मजबूर होकर इसके प्रचार में जुट गई। वह बताने लगी कि ताड़ी पीने के कितने फायदे हैं। बिहार और उड़ीसा की सरकार ने तो इतिहास पुरुषों के नाम तक गिनाए कि कितने महान महान लोग शराब का सेवन करते थे (मूसा, सिकंदर, जूलियस सीज़र, नेपोलियन, शेक्सपीयर, ग्लैडस्टान, टेनीसन और बिस्मार्क का नाम लिया गया)।

मार्च 1921 में विजयवाड़ा में कांग्रेस सम्मेलन हुआ। कार्यकर्ताओं को आदेश दिया गया कि वे अगले तीन महीने तक अपना सारा ध्यान कोष इकट्ठा करने, सदस्य बनाने और चरखा बाँटने पर दें। सदस्यता का लक्ष्य एक करोड़ रखा गया था। यह लक्ष्य तो पूरा नहीं हुआ, लेकिन सदस्य संख्या 50 लाख तक पहुँचा दी गई। 'तिलक स्वराज फंड' अपने लक्ष्य से भी आगे निकल गया। एक करोड़ से ज्यादा रुपए इकट्ठे कर लिए गए। चरखे और खादी का खूब प्रचार हुआ। खादी तो राष्ट्रीय आंदोलन की प्रतीकं बन गई। छात्रों की एक सभा में गाँधीजी खादी पहनने की अपील कर रहे थे, तो कुछ लोगों ने शिकायत की कि खादी बहुत महँगी है। इसपर गाँधीजी ने सुझाव दिया कि कम कपड़े पहनिए, गाँधीजी ने खुद उस दिन से धोती पहनना छोड़ दिया, लंगोटी पहनने लगे और जीवन भर अधनंगे फकीर की तरह रहे।

जुलाई 1921 में सरकार के सामने एक नई चुनौती आ खड़ी हुई। 8 जुलाई को कराची में खिलाफ़त सम्मेलन में मुहम्मद अली ने घोषणा की कि किसी भी मुसलमान का सेना में रहना धर्म के ख़िलाफ़ है। उन्होंने लोगों से कहा कि वे इस संदेश को हर मुसलमान सैनिक तक पहुँचाएँ। इस भाषण के तुरंत बाद मुहम्मद अली अपने साथियों समेत

गिरफ़्तार कर लिए गए। इस गिरफ़्तारी का नतीजा यह हुआ कि इसके विरोध में आयोजित सभाओं में इस अपील को बार–बार दोहराया गया, उसका खूब प्रचार हुआ।

4 अक्तूबर को गाँधी समेत कांग्रेस के 47 वरिष्ठ नेताओं ने एक बयान जारी कर मुहम्मद अली के बयान की एक तरह से पुष्टि तो की ही, साथ ही यह भी कहा कि हर भारतीय नागरिक और सैनिक का कर्तव्य है कि वह दमनकारी सत्ता से अपना नाता तोड़ ले, उसे किसी तरह का सहयोग न दे। अगले दिन कांग्रेस कार्यकारिणी ने इसी तरह का एक प्रस्ताव पास किया और 16 अक्तूबर को पूरे देश में विभिन्न कांग्रेस समितियों की बैठक में इसको मंजूरी दी गई। सरकार ने अपनी हार मान ली, बहुत बेइज़्ज़ती हुई, उसने इस घटना को अनदेखा कर दिया।

केरल के मालाबार में फरवरी 1921 से ही असहयोग आन्दोलन फैलने लगा था। स्थानीय नेताओं की गिरफ्तारी तथा खिलाफती सभाओं ने इनकी धार्मिक भावनाओं को उग्र कर दिया था। जुलाई 1921 ई0 में इन्होने हिंसात्मक विद्रोह किये किन्तु ब्रिटिश सरकार ने इन्हे दबा दिया। इसके बाद मोपला मुसलमानों ने 21 अगस्त 1921 को ब्रिटिश सरकार और उनके सहयोगी हिंदू जमीदारों के खिलाफ हथियारबंद विद्रोह शुरू कर दिया जिसमें सैकड़ो निर्दोषों की जान चली गयी। इस घटना को कुछ मार्क्सवादी इतिहासकार 'मोपला विद्रोह' के नाम से सम्बोधित करते है।

वस्तुतः सोलहवीं सदी में सबसे पहले पुर्तगाली व्यापारी मालाबार तट पर पहुंचे। पुर्तगालियों ने पाया कि मोपला एक कारोबारी समुदाय है। मोपला या मोप्पिला नाम मलयाली भाषा के मुसलमानों के लिए इस्तेमाल किया जाता है, जो उत्तरी केरल के मालाबार तट पर रहते थे। शहरी इलाकों में केंद्रित समुदाय को पुर्तगालियों ने स्थानीय हिंदू आबादी से काफी अलग पाया। पुर्तगाली अपनी कारोबारी ताकत को बढ़ाने में जुटे तो उन्हें महसूस हुआ कि मोपला कड़े प्रतिद्वंद्वी हैं। ऐसे में नए आर्थिक मौके तलाशने के लिए मोपला तेजी से राज्य के आंतरिक हिस्सों की ओर बढ़े। वहीं मोपला समुदाय के पलायन से स्थानीय हिंदू आबादी और पुर्तगालियों के बीच धार्मिक पहचान के लिए टकराव पैदा हो गया। 19वीं सदी आते–आते ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कंपनी ने इलाके में अपनी जड़ें मजबूती से जमाईं। इसी दौरान ब्रिटिश विरोधी भावनाओं और मुस्लिम धर्मगुरुओं के भड़काऊ भाषणों से प्रेरित मोपला समुदाय ने एक हिंसक विद्रोह शुरू कर दिया। ब्रिटिश और हिंदू जमींदारों दोनों के खिलाफ मोपला समुदाय ने उत्पीड़न की शिकायत की थी। कुछ लोग इसे धार्मिक कट्टरता का मामला बताते हैं, वहीं बहुत से लोग इसे ब्रिटिश सत्ता के खिलाफ संघर्ष के रूप में देखते हैं। कुछ ऐसे भी हैं जो मालाबार के मोपला विद्रोह को जमींदारों के खिलाफ एक किसान विद्रोह मानते हैं।

इसके बाद प्रिंस ऑफ वेल्स की भारत यात्रा 17 नवंबर 1921 को शुरू हुई थी। जिस दिन वे बम्बई आए पूरे भारत में हड़ताल थी। उसी दिन गाँधीजी ने बम्बई में एलफिस्टन मिल के अहाते में मज़दूरों की सभा में भाषण किया। विदेशी कपड़ों की होली जलाई गई। लेकिन दुर्भाग्य से इसी दिन बंबई की सड़कों पर खून–खराबा हो गया। गाँधीजी की सभा से लौटनेवालों और प्रिंस के स्वागत समारोह में भाग लेनेवालों में संघर्ष हो गया। शहर में दंगा भड़क उठा और इसके ज़्यादातर शिकार हुए पारसी, ईसाई और एंग्लो–इंडियन। इन्हें अँग्रेज़ी हुकूमत का समर्थक माना जाता था। तीन दिनों तक हिसात्मक वारदातें होती रहीं। हिंसा और पुलिस द्वारा गोली चलाए जाने में

58 व्यक्ति मारे गए। गाँधीजी जब तीन दिन तक अनशन पर बैठे, तब कहीं जाकर हिंसा की आग ठंडी पड़ी। गाँधीजी इन हिंसात्मक वारदातों से बहुत क्षुब्ध हुए।

'प्रिंस ऑफ वेल्स' जहाँ भी गए, वीरान सड़कों और बंद दरवाज़ों ने ही उनका स्वागत किया। असहयोग आंदोलनकारियों का हौंसला बढ़ता ही जा रहा था। कांग्रेस की स्वयंसेवी संगठन दिन–प्रतिदिन शक्तिशाली होती जा रही थी, मानो समानांतर पुलिस दस्ते का गठन हो रहा हो। वर्दी और काम के तरीके देख, सरकार का चिंतित होना स्वाभाविक था। कांग्रेस ने प्रदेश कांग्रेस समितियों को यह इजाजत दे दी थी कि जब भी उन्हें लगे कि जनता कानून अवज्ञा आंदोलन के लिए तैयार है, वे आंदोलन छेड़ सकती हैं। मिदनापुर (बंगाल) और गुंटूर जिले (आंध्र प्रदेश) के चिराला–पिराला और पेडानंडीपाड तालुका में तो कर अदा न करने का आंदोलन छिड़ ही गया था।

असहयोग आंदोलन कुछ अन्य गतिविधियों पर अप्रत्यक्ष रूप से भी प्रभाव डाल रहा था। अवध (उत्तर प्रदेश) में किसान सभा और किसान आंदोलन 1918 से ही जोर पकड़ते जा रहे थे। इस दौरान जवाहरलाल नेहरू भी अवध के देहातों में घूम–धूम कर असहयोग का प्रचार कर रहे थे जिससे किसान आन्दोलन को इसे बल मिला। कुछ ही दिनों में यह पता लगाना मुश्किल हो गया कि बैठक किसान सभा की है या असहयोग आंदोलनकारियों की। केरल में मलाबार में असहयोग आंदोलन और खिलाफत आंदोलन ने खेतिहर मुसलमानों को उनके भूस्वामियों के खिलाफ संघर्ष छेड़ने के लिए उकसाया, लेकिन दुर्भाग्य से आंदोलन ने यहाँ कहीं–कहीं सांप्रदायिकता का रुख अख्तियार कर लिया।

असम में चाय बागान के मज़दूर हड़ताल पर चले गए। सरकार ने जब हड़ताली मज़दूरों पर गोली चलाई तो स्टीमर पर काम करने वाले मज़दूर भी हड़ताल पर चले गए। असम–बंगाल रेलवे कर्मचारियों ने भी हड़ताल कर इनका साथ दिया। बंगाल के राष्ट्रवादी नेता जे0एम0 सेनगुप्त ने इस दौरान महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। मिदनापुर में एक ज़मींदारी कम्पनी के खिलाफ़ काश्तकारों की हड़ताल का नेतृत्व किया, कलकत्ता मेडिकल कॉलेज के एक छात्र ने आंध्र में वन–कानून के खिलाफ आंदोलन छेड़ा। राजस्थान में किसानों और आदिवासियों ने आंदोलन छेड़ा। पंजाब में अकालियों ने गुरुद्वारों पर भ्रष्ट महंतों के कब्ज़े के खिलाफ आंदोलन छेड़ा। इस अकाली आन्दोलन का नेतृत्व करतार सिंह झब्बर, मास्टर तारा सिंह, बाबा खड़ग सिंह द्वारा किया गया। भारतीय इतिहास में इसे ही 'चाभी समस्या' का नाम दिया गया है। यह वास्तव में देशव्यापी असहयोग आंदोलन का ही एक हिस्सा था। तमाम दमन के बावजूद अकाली आंदोलनकारी अहिसा के रास्ते से डिगे नहीं। मन्दिर प्रवेश आन्दोलन भी इसी काल में चला जिसका नेतृत्व श्री नारायण गुरू, नानू आसन तथाटी0के0 माघवन द्वारा किया गया। इस तरह के हज़ारों उदाहरण दिए जा सकते हैं। हमारा कहने का मकसद सिर्फ इतना है कि असहयोग आंदोलन ने तमाम स्थानीय आंदोलनों को जन्म दिया और जो पहले से चल रहे थे, उन्हें और बल मिला। बात दीगर है कि ये आंदोलन कहीं–कहीं असहयोग आंदोलन की नीतियों और अहिंसा के सिद्धांत से मेल नहीं खाते थे।

इस प्रकार असहयोग आन्दोलन का स्वरूप काफी व्यापक और विस्तृत हो गया। इससे पूर्व भारत में इतना बड़ा जनआन्दोलन कभी नही हुआ था। डा0 राजेन्द्र प्रसाद के शब्दों

में – ''जब से भारत का सम्बन्ध ब्रिटेन के साथ स्थापित हुआ है तबसे जनता का क्षोभ और उत्साह इस सीमा तक पहले कभी नहीं पहुँचा था....।''

सरकार का दमन–चक्र –

सरकार और कांग्रेस में कोई समझौता न हो सकने के कारण परिस्थिति और भी बिगड गयी। ऐसी हालत में सरकार समझ गई कि अब मामले को अनदेखा करने से काम चलने वाला नहीं है, दमन का रास्ता अख्तियार करना ही होगा। सितंबर 1920 में जब आंदोलन शुरू हुआ था, सरकार का मानना था कि दमन से विद्रोह की आग और भड़केगी तथा जो लोग मारे जाएँगे, उन्हें जनता शहीद का दर्जा देगी। मई 1921 में नए वाइसराय लॉर्ड रैडिंग ने गाँधीजी से मुलाकात की और गाँधीजी से कहा कि वे अली भाइयों को अपने भाषणों में हिसा भड़काने वाली बातें न कहने के लिए मनाएँ। सरकार का उद्देश्य था– गाँधीजी और अली भाइयों में आपसी फूट डालना। लेकिन वह इसमें असफल हुई और गाँधी–रैडिंग वार्तालाप यहीं पर समाप्त हुआ। दिसंबर आते–आते सरकार को महसूस हो गया कि मामला हाथ से निकलता जा रहा है। उसने अपनी नीतियों में परिवर्तन की घोषणा की। स्वयंसेवी संगठनों को गैर–कानूनी घोषित किया गया और इसके सदस्यों को गिरफ्तार किया जाने लगा।

सबसे पहले सी0आर0 दास को गिरफ्तार किया गया और बाद में उनकी पत्नी बासंती देवी को। इस गिरफ्तारी का बंगाल में व्यापक पैमाने पर विरोध हुआ और हज़ारों लोगों ने गिरफ्तारियाँ दीं। अगले दो महीने के भीतर देश में लगभग 30 हज़ार लोग गिरफ्तार किए गए। बाद में तो बड़े नेताओं में केवल गाँधीजी ही बाहर रह गए थे। दिसंबर के मध्य में मालवीयजी के माध्यम से बातचीत करके मामला सुलझाने की कोशिश की गई, पर इसके साथ जो शर्तें जुड़ी थीं, खिलाफत आंदोलनकारियों के हितों के विरुद्ध थीं। अतः गाँधीजी ने इसे स्वीकार नहीं किया। वैसे भी ब्रिटेन की सरकार समझौते के पक्ष में नहीं थी और उसने वायसराय को आदेश दिया कि वह वार्तालाप को वहीं समाप्त कर दे। दमन का दौर चलता रहा और बैठकों, सभाओं पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया। प्रेस और अखबारों पर भी प्रतिबन्ध लगा दिया गया।

सरकार द्वारा चलाये गये दमन–चक्र के प्रतिक्रियास्वरूप दिसम्बर 1921 के अहमदाबाद अधिवेशन में कांग्रेस ने सविनय अवज्ञा आन्दोलन चलाने का निश्चय किया और इसके लिए महात्मा गॉधी को कार्यकारी अधिकारी नियुक्त किया गया। 1 फरवरी 1922 को महात्मा गॉधी ने वायसराय को एक पत्र लिखा जिसमें उन्होंने सरकार के कठोर दमन नीति की निन्दा की और उसे यह चेतावनी दी कि यदि 7 दिनों के अन्दर वह अपनी नीति में परिवर्तन नहीं करती है तो वह 'कर नहीं दो आन्दोलन' (No Tax Compaign) आरंभ करेगी।

चौरी–चौरा की घटना –

अभी सात दिन का समय बीता भी नही था कि 4 फरवरी 1922 ई0 को गोरखपुर जिले के चौरी–चौरा नामक स्थान में एक भयंकर घटना घट गई जिसे इतिहास में 'चौरी–चौरा काण्ड' के नाम से जाना जाता है। उक्त तिथि को आन्दोलनकारियों की एक भीड़ ने 21 सिपाहियों और एक थानेदार को थाने में बन्द कर दिया और थाने में आग लगा दी। इस घटना की सूचना मिलते ही गॉधीजी ने आन्दोलन वापस लेने की

घोषणा कर दी और अन्ततः 12 फरवरी 1922 को असहयोग आन्दोलन समाप्त हो गया। आइए पूरी घटना की पृष्ठभूमि और वास्तविकता को समझने का प्रयास करते है–

उत्तरप्रदेश के गोरखपुर जिले में चौरी और चौरा नाम के दो गांव थे। रेलवे के एक अधिकारी ने दोनों को मिलाकर एक किया था। जनवरी 1885 में यहॉ एक रेलवे स्टेशन की स्थापना की गई थी। इसके पहले तक वहॉ रेलवे प्लेटफार्म और माल–गोदाम के अलावा चौरी–चौरा नाम की कोई जगह नहीं थी। 1885 के बाद चौरा गांव में एक बाज़ार शुरू हुई थी। चौरा गांव के थाने से एक मील की दूरी पर छोटकी डुमरी गांव है। जनवरी 1921 में इस गांव में कांग्रेस के वालंटियरों अर्थात स्वयंसेवकों के एक मंडल की स्थापना हुई। शुरुआत में वालंटियरों की भर्ती में बहुत तेजी नहीं थी लेकिन फिर गॉधीजी ने असहयोग आंदोलन को मुसलमानों के खिलाफत आंदोलन के साथ मिला दिया। गांधीजी का यह निर्णय संगठनात्मक रूप से काफी ठीक साबित हुआ। अब बड़ी संख्या में मुसलमान भी इस आंदोलन में शामिल होने लगे थे।

जनवरी 1922 में चौरा के रहने वाले लाल मुहम्मद सांई ने गोरखपुर कांग्रेस खिलाफत कमेटी के हकीम आरिफ़ को डुमरी मंडल के लोगों को संबोधित करने के लिए बुलाया। स्वदेशी आंदोलन में जुड़ने वालों को कई कसमें खिलाई जाती थीं, उन्हीं में से एक कसम ये भी थी– खद्दर पहनने की। हकीम आरिफ ने मंडल के लोगों से कहा कि कपास की खेती करो, उसका सूत कातो, और उसी के बने कपड़े पहनो। आरिफ़ ने लोगों को सम्बोधित करते हुये कहा कि अपने झगडे खुद निपटाऍ, पुलिस के पास न जाओ और भी बहुत सी बातें स्वयंसेवकों को समझायीं। कार्यकर्ताओं से चंदा और चुटकी जमा करने को कहा गया और इस बात का भी आश्वासन मिला कि स्वराज आने के बाद लगान बहुत कम देना पड़ेगा। इसके अलावा आरिफ़ ने संगठन में कुछ पदाधिकारी नियुक्त कर दिए. और वापस लौट गए। यहां चुटकी का मतलब समझ लीजिए, दरअसल, आंदोलन के समय गांधीजी ने सभी देशवासियों को सलाह दी थी कि वे रोज़ अपने खाने के अनाज में से सिर्फ़ एक मुट्ठी देश के लिए अलग रख लें जिसे बाद में कांग्रेस के स्वयंसेवक घर–घर जाकर इकट्ठा कर लेते थे, इसे ही 'चुटकी' कहा जाता था। ये चुटकी–चुटकी जमा किया गया अनाज आंदोलन के समय स्वयंसेवकों के काम आता था। हकीम आरिफ के जाने के अगले दिन से ही मंडल में स्वयंसेवक शामिल करने का काम शुरू कर दिया गया था।

चौरी–चौरा की घटना से लगभग 10–12 दिन पहले डुमरी के करीब 30 से 35 स्वयंसेवकों ने मुंडेरा बाज़ार में धरना दिया। इस बाज़ार का मालिक था संत बक्स सिंह। संतबक्स के आदमियों ने स्वयंसेवकों को बाज़ार से खदेड़ दिया। स्वयंसेवकों ने तय किया कि अगली बार वे और ज्यादा संख्या में आएंगे। इसके बाद स्वयंसवकों की संख्या बढाने पर काम तेज किया गया। जब संख्या 300 से ज्यादा हो गई थी तो उनका शारीरिक प्रशिक्षण भी भी व्यवस्था कर दी गई जिसकी जिम्मेदारी एक रिटायर्ड फौजी भगवान अहीर ने संभाला। भगवान अहीर प्रथम विश्वयुद्ध में ब्रिटिश सेना की तरफ से इराक में लड़ा था।

मुख्य घटना से करीब चार दिन पहले कांग्रेस के मंडल कार्यकर्ता डुमरी में एक बड़ी सभा आयोजित करते हैं। सभी स्वयंसेवकों को यह निर्देश दिया गया था कि अपने

साथ भीड़ लाएँ क्योंकि संख्या कम हुई तो पुलिस पिटाई कर सकती है और उन्हे गिरफ्तार भी किया जा सकता है। इस प्रकार सभा में करीब 4000 लोग शामिल हुए। गोरखपुर से आए कुछ नेताओं ने अपने भाषण में गॉधी और मुहम्मद अली की बातें कीं और लोगों से उनकी बताई गई राह पर चलने की अपील की। सभा ख़त्म हुई तो एक बड़े से चरखे के साथ तहसील दफ्तर, थाना और बाजार के आस–पास एक बड़ा जुलूस निकाला गया। इस बार किसी ने कोई रोक–टोक नहीं की।

इस सभा की सफलता से उत्साहित कार्यकर्ताओं ने दूसरे दिन यानी 1 फरवरी, दिन बुधवार को फिर से संतबक्स की मुंडेरा बाजार में धरना देने की योजना बनाई। करीब 60 से 65 स्वयंसेवक नज़र अली, लाल मुहम्मद सांई और मीर शिकारी के नेतृत्व में बाजार पहुंचे लेकिन संत बक्स सिंह के आदमियों ने एक बार फिर उन्हें डांट–डपट कर भगा दिया। लेकिन वापस जाने से पहले इन कार्यकर्ताओं ने संत बक्श सिंह के कर्मचारियों को चेतावनी दी और कहा कि शनिवार को वे और भी ज्यादा लोगों के साथ आएंगे और तब फिर उनसे बात करेंगे।

4 फरवरी 1922 यानी शनिवार के दिन सुबह आठ बजे लगभग 800 लोग एक जगह जमा हुए। चर्चा हो रही थी कि बदला कैसे लिया जाए। दूसरी तरफ चौरा थाने के दरोगा गुप्तेश्वर सिंह को इस मामले की खबर थी। उसके मुखबिरों ने उसे बताया था कि इस मीटिंग में कुछ अहम फैसले हो सकते हैं। अतः गुप्तेश्वर सिंह ने गोरखपुर से अतिरिक्त सिपाही बुला लिए थे जिनके पास बंदूकें भी थीं। उसने मीटिंग में भी अपने कुछ आदमियों को भेजा और कार्यकर्ताओं को समझाने की कोशिश की गई लेकिन कार्यकर्ताओं ने बात नहीं मानी। तय हो गया कि चाहे खतरा जो भी हो, मुंडेरा बाज़ार को बंद कराया जाएगा और सभी कार्यकर्ता इसके लिए तैयार थे।

कुछ ही देर बाद सभा ने एक जुलूस की शक्ल ले ली। 'महात्मा गांधी की जय' के नारे लगाते हुये ढ़ाई से तीन हजार की भीड़ चौरा थाने की ओर बढ़ रही थी। रास्ते में उन्हें संत बक्स सिंह के यहां काम करने वाला कर्मचारी अवधु तिवारी, जिसने उन्हें पिछली बार मुंडेरा बाज़ार से भगाया था, मिल गया। अवधु तिवारी ने इस बार पुलिस की बंदूकों का डर बताया लेकिन जुलूस के नेताओं ने उस पर कोई ध्यान नहीं दिया और आगे बढ़ गए। शीघ्र ही दरोगा गुप्तेश्वर सिंह अपने बंदूकधारी सिपाहियों और चौकीदारों के साथ खड़ा दिखाई दिया। नेता और स्वयंसेवक पहले कुछ ठिठके लेकिन उन्हें अपने संख्याबल पर भरोसा था अतः आगे बढ़ने लगे। इधर इलाके के ज़मींदार सरदार उमराव सिंह के मैनेजर हरचरण सिंह ने पुलिस और नेताओं के बीच मध्यस्थता की कोशिश की। नेताओं ने आश्वासन दिया कि वे शांतिपूर्वक मुंडेरा बाज़ार चले जाएंगे। हरचरण ने दरोगा और सिपाहियों को उनके रास्ते से हटने के लिए कह दिया लेकिन इसके बाद जैसे–जैसे जुलूस आगे बढ़ने लगी, बहुत से लोग जो भोपा और मुंडेरा की शनिवार को लगने वाली साप्ताहिक बाज़ारों में आए थे, वो भी जुलूस में शामिल हो गए। इस प्रकार जुलूस में शामिल लोगों की संख्या बहुत बढ़ गई थी।

कुछ देर बाद जुलूस थाने के सामने से गुजरा। माहौल बिगड़ने की आशंका देखते हुए दरोगा ने जुलूस को अवैध मजमा घोषित कर दिया जिससे भीड़ भड़क गई। पुलिस और भीड़ के बीच झड़प शुरू हो गई। उसी दौरान थाने के एक सिपाही ने बड़ी गलती करते हुये एक आंदोलनकारी की गांधी टोपी उतार ली उसे पैर से कुचलने लगा। उस

दौर में गांधी टोपी और महात्मा गांधी भारत की आजादी के प्रतीक माने जाने लगे थे। गोरखपुर के आसपास के इस पिछड़े इलाके में गॉधी को लेकर यहां तक बातें चला करती थीं कि वो चमत्कारी हैं। उस वक़्त के स्थानीय अखबारों में ऐसी कई घटनाएं छपती थीं जिनमें गॉधी के चमत्कार की बात होती थी। लिहाजा गॉधी टोपी को पैरों तले रौंदे जाते देख आंदोलनकारियों का पारा सातवें आसमान पर पहुंच गया और आंदोलनकारियों का विरोध और तेज हो गया। हालात से घबराकर पुलिसवालों ने जुलूस में शामिल लोगों पर फ़ायरिंग शुरू कर दी। गोलीबारी में 11 आंदोलनकारियों की मौत हो गई और कई अन्य घायल हो गए।

फायरिंग करते–करते पुलिसवालों की गोलियां खत्म हो गईं और वो थाने की तरफ़ भागे। गोलीबारी से भड़की भीड़ ने पुलिसवालों को दौड़ाना शुरू कर दिया। पुलिस वाले थाने पहुंचे और कहा जाता है कि भीड़ से बचने के लिए पुलिस वालों ने खुद को थाने के मुख्य दरवाजे को अन्दर से बंद कर लिया। तभी आंदोलनकारियों में से कुछ लोगों ने किसी दुकान से केरोसीन तेल का टिन उठा लिया और थाने पहुंचकर मूंज और घास–पतवार रखकर थाने में आग लगा दी। दरोगा गुप्तेश्वर सिंह ने भागने की कोशिश की, तो भीड़ ने उसे भी पकड़कर आग में फेंक दिया। दरोगा के अलावा सब–इंस्पेक्टर पृथ्वी पाल सिंह, बशीर खां, कपिलदेव सिंह, लखई सिंह, रघुवीर सिंह, विशेसर यादव, मुहम्मद अली, हसन खां, गदाबख्श खां, जमा खां, मंगरू चौबे, रामबली पाण्डेय, कपिल देव, इन्द्रासन सिंह, रामलखन सिंह, मर्दाना खां, जगदेव सिंह, जगई सिंह को भी आग के हवाले कर दिया गया। उस दिन अपना वेतन लेने के लिए थाने पर आए चौकीदार वजीर, घिंसई, जथई और कतवारू राम को भी आंदोलनकारियों ने जलती आग में फेंक दिया। कुल मिलाकर बाईस पुलिसवाले जिंदा जलाकर मार दिए गए।

किसी तरह एक सिपाही मुहम्मद सिद्दीकी वहां से भागने में कामयाब हो गया। वह भागता हुआ पड़ोस के गौरी बाजार थाने पहुॅचा लेकिन वहां के दरोगा नदारद थे। उनकी गैरमौजूदगी में मोहम्मद जहूर नाम का एक सब–ऑर्डिनेट थाने के इंचार्ज की जिम्मेदारी संभाल रहा था। जहूर को सिद्दीकी ने सारा घटनाक्रम बताया और उसने जनरल डायरी में केस दर्ज कर लिया। इसके बाद जहूर और सिद्दीकी पास के कुसुम्ही रेलवे स्टेशन पहुंचे और वहां से गोरखपुर जिला प्रशासन को सारी घटना की सूचना दी, जिस पर आगे कार्रवाई हुई।

चौरी–चौरा कांड में पुलिस ने सैकड़ों आंदोलनकारियों पर केस दर्ज किया था। केस की सुनवाई गोरखपुर जिला कोर्ट में हुई थी। पुलिस रिपोर्ट के मुताबिक़ इस दंगे में करीब 6000 लोग शामिल थे जिनमें से करीब 1000 लोगों से पूछताछ की गई और आखिर में 225 लोगों पर मुकदमा चलाया गया। स्वयंसेवकों में से एक मीर शिकारी को सरकारी गवाह बनाया गया और वहां के सेशन जज एच0ई0 होल्म्स ने 9 जनवरी 1923 को अपना फैसला सुनाते हुये 172 आरोपियों को फॉसी की सजा सुनाई, 2 लोगों को 2 साल की कैद की सजा दी और 47 आरोपियों को संदेह का लाभ देते हुए बरी कर दिया था।

गोरखपुर जिला कांग्रेस कमेटी ने जज के इस फैसले के खिलाफ इलाहाबाद हाईकोर्ट में अपील दायर की। स्वयंसेवकों की तरफ से मामले की पैरवी कांग्रेस के बड़े नेता

और वकील मदन मोहन मालवीय कर रहे थे। हाईकोर्ट के दो जज चीफ सर ग्रिमउड पीयर्स और जस्टिस पीगॉट ने अपने फैसले में 19 आरोपियों को फॉसी की सजा सुनाई और 16 लोगों को काला पानी भेजने का आदेश दिया। इनके अलावा बचे लोगों को भी कुछ साल की सजा दी गई जबकि 38 लोगों को केस से बरी कर दिया गया था।

गोरखपुर जिला कोर्ट ने जहॉ 172 आरोपियों को गुनहगार मानते हुए फॉसी की सजा सुनाई थी, वहीं हाईकोर्ट ने विक्रम, दुदही, भगवान, अब्दुल्ला, काली चरण, लाल मुहम्मद, लौटी, मादेव, मेघू अली, नजर अली, रघुवीर, रामलगन, रामरूप, रूदाली, सहदेव, मोहन, संपत, श्याम सुंदर और सीताराम के लिए फांसी की सजा पर मुहर लगाई। मदन मोहन मालवीय की यह बहुत बडी जीत थी। 19 लोगों को 2 से 11 जुलाई 1923 के दौरान फॉसी दे दी गई।

चौरी चौरा की घटना की सूचना मिलते ही महात्मा गॉधी ने असहयोग आंदोलन को स्थगित करने की घोषणा कर दी थी। गॉधीजी की इस घोषणा से अधिकांश आंदोलनकारी स्तब्ध रह गये। सबका यही मानना था कि जब आंदोलन पूरे जोशो–खरोश से चल रहा था, तब इसे रोकने की क्या जरूरत थी? कुछ का कहना था कि अगर आंदोलन रोकना ही है तो सिर्फ गोरखपुर के इलाके में रोक दिया जाता, पूरे देश में क्यों? लेकिन महात्मा गांधी पूर्ण अहिंसा में विश्वास करने वाले थे। उनके लिए यह घटना बेहद दुखदायी थी यही वजह थी कि उन्होंने आंदोलन पूरी रोक दिया था।

आन्दोलन की समाप्ति –

असहयोग आन्दोलन को समाप्त करने की गॉधीजी के निर्णय ने एक विवाद खड़ा कर दिया। एक ऐसा विवाद, जिस पर आज भी संगोष्ठियों और सम्मेलन में बहस होती है। मोतीलाल नेहरू, चितरंजन दास, सुभाष चन्द्र बोस आदि अन्य नेता यह खबर सुनकर भौचक्कें रह गये। उन्हे यह समझ नही आ रहा था कि एक दूरदराज के गॉव के कुछ लोगों के गलत हरकतों का खामियाजा पूरा देश क्यों भुगते ? असहयोग आन्दोलन के स्थगन पर मोतीलाल नेहरू ने कहा कि– "यदि कन्याकुमारी के एक गाँव ने अहिंसा का पालन नहीं किया, तो इसकी सज़ा हिमालय के एक गाँव को क्यों मिलनी चाहिए।" अपनी प्रतिक्रिया में सुभाषचन्द्र बोस ने कहा– "ठीक इस समय, जबकि जनता का उत्साह चरमोत्कर्ष पर था, वापस लौटने का आदेश देना राष्ट्रीय दुर्भाग्य से कम नहीं"। आन्दोलन के स्थगित करने का प्रभाव गॉधी जी की लोकप्रियता पर पड़ा। 10 मार्च 1922 को गॉधी जी को गिरफ़्तार किया गया तथा न्यायाधीश ब्रूम फ़ील्ड ने गॉधीजी को असंतोष भड़काने के अपराध में 6 वर्ष की कैद की सज़ा सुनाई परन्तु स्वास्थ्य सम्बन्धी कारणों से उन्हें 5 फ़रवरी 1924 को ही रिहा कर दिया गया। रजनी पाम दत्त जैसे अनेक मार्क्सवादी इतिहासकारों ने गॉधीजी के इस निर्णय की आलोचना करते हुये कहा कि गॉधीजी अमीर वर्गो के हितों का संवर्धन करते थे। उन्हे महसूस होने लगा था कि भारतीय जनता अब जुझारू संघर्ष के लिए तैयार हो रही है और अमीर शोषको के विरूद्ध कमर कस रही है। गॉधीजी को लगा कि आन्दोलन की बागड़ोर उनके हाथ से निकलकर लड़ाकू ताकतों के हाथ में जाने वाली है। इन्ही के हितों की सुरक्षा के नाम पर गॉधीजी ने आन्दोलन वापस ले लिया।

लेकिन शायद इन इतिहासकारों के तर्को को स्वीकार करना कठिन है। हमारे दृष्टिकोण से गॉधीजी शायद यह सोचते थे कि इस समय देशव्यापी आन्दोलन छेड़ने से हिंसा भड़क उठने का खतरा है, जैसा कि 1921 में बम्बई में और बाद में चौरी–चौरा में हुआ। इस तरह की वारदातों से सरकार को पूरे देश में आन्दोलन के खिलाफ दमनात्मक कदम उठाने का बहाना मिलता। गॉधीजी मानते थे कि इस तरह की कार्यवाहियों से अहिंसक असहयोग आन्दोलन की समूची रणनीति विफल हो जाएगी क्योंकि अहिंसात्मक आन्दोलन के खिलाफ यदि सरकार दमनात्मक कार्यवाही करेगी तो उसका चरित्र बेनकाब हो जाएगा। हमें यह भी नहीं भूलना चाहिए कि असहयोग आन्दोलन ब्रिटिश हुकूमत के खिलाफ देशव्यापी जनसंघर्ष का पहला प्रयास था और शुरूआती दौर में ही इस पर किसी तरह का हमला घातक सिद्ध होता तथा जनता में निराशा व्याप्त हो जाती।

गाँधीजी द्वारा आंदोलन वापस लेने के पीछे शायद एक और कारण था। 1921 की दूसरी छमाही के शुरू होते–होते आंदोलन कमजोर पड़ने लगा था। छात्र स्कूलों में और वकील अदालतों में लौटने लगे थे। व्यापारी वर्ग विदेशी कपड़ों के 'स्टॉक' से चिन्तित होने लगा था, बैठकों और रैलियों में लोगों की संख्या कम होती जा रही थी। हालांकि कुछ जगहों जैसे बारी (गुजरात) और गुंटूर (आंध) में राजनीतिक गतिविधियाँ काफी तेज़ थीं और लोग संघर्ष के लिए आतुर थे, लेकिन 1921 के शुरू में पूरे देश में आंदोलन के प्रति जो उत्साह था, अब वह नहीं रह गया था।

सक्रिय राजनीतिक कार्यकर्ता और नेता चाहते थे कि इस आन्दोलन को आगे बढ़ाया जाए, उसे तेज़ किया जाए, पर किसी जन आंदोलन की सफलता या विफलता इस बात पर निर्भर करती है कि जनता का कितना बड़ा हिस्सा इसमें शामिल है। हम यह बात दावे के साथ नहीं कह सकते कि गाँधीजी ने आंदोलन के प्रति घटते उत्साह के कारण ही इसे वापस लिया होगा लेकिन कोई निष्कर्ष निकालते समय इस संभावना को भी नजरअंदाज नही किया जाना चाहिए।

हमें यह भी ध्यान रखना चाहिए कि कोई भी जन आन्दोलन लगातार नहीं चलता। उसमें पड़ाव आता ही है। कुछ सीढ़ियाँ चढ़ने के बाद वह आराम करता है और आगे बढ़ने के लिए आवश्यक ऊर्जा जुटाता है। इसका मूल कारण यह है कि जनता की दमन सहने और बलिदान करने की शक्ति असीमित नहीं होती। इस तरह कभी आंदोलन वापस लेने की घोषणा या कभी समझौतावादी रुख अख्तियार करना जनता पर आधारित राजनीतिक संघर्ष की सही रणनीति है। हाँ, इस बात पर बहस हो सकती है कि आन्दोलन सही समय पर वापस लिया गया है या गलत समय पर।

असहयोग आन्दोलन वापस लेने का समय आ ही गया है, ऐसा सोचने के लिए शायद गाँधीजी के सामने काफ़ी कारण थे। गाँधीजी ने जब यह निर्णय किया, तो आन्दोलन को लगभग एक साल से ज्यादा हो चुका था, अँग्रेज़ी सरकार का अड़ियल रवैया बरकरार था। इससे पहले कि आन्दोलन की अपनी कमज़ोरियाँ उभरकर सामने आतीं और समर्पण की नौबत आती, मेरी दृष्टि में चौरी–चौरा कांड ने आन्दोलन वापस लेने का एक अवसर दिया।

सफलताएँ और उपलब्धियॉ –

उपर्युक्त विवरणों से यह स्पष्ट है कि असहयोग आन्दोलन असफल हो गया। यह आन्दोलन भारतीयों की आशाओं को पूर्ण नहीं कर सका और एक वर्ष के भीतर ही स्वराज का मोहभंग हो गया। जनता में असन्तोष और निराशा फैल गई। हजारों व्यक्तियों को जेल में ठूँस दिया गया लेकिन इन सब के वावजूद यह नहीं समझना चाहिए कि आन्दोलन पूर्णतया असफल रहा और उसका कोई महत्व नही है। भारतीय राजनीति और स्वाधीनता संग्राम में इस असहयोग आन्दोलन का अमिट प्रभाव पडा।

असहयोग आन्दोलन की अनेक सफलताएँ और उपलब्धियॉ थी। असहयोग आन्दोलन ने ब्रिटिश सरकार की नींव हिला दी और उसकी कमजोरियॉ स्पष्ट हो गयी। भारतीय जनता की रही–सही राजभक्ति समाप्त हो गयी और यह स्पष्ट हो गया कि साम्राज्य से लड़कर ही स्वराज्य प्राप्त किया जा सकता है। इस आन्दोलन ने पहली बार देश की जनता को इकट्ठा किया। अब भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस पर कोई यह आरोप नहीं लगा सकता था कि वह कुछ मुट्ठी भर लोगों का प्रतिनिधित्व करती है। अब इसके साथ किसान, मजदूर, दस्तकार, व्यापारी, कर्मचारी, पुरूप, महिलाएँ, बच्चे, बूढे, सभी लोग थे। पूरे देश में कहीं कोई ऐसी जगह नही थी, जहॉ इस आन्दोलन का असर न पड़ा हो। यह बात अलग है कि यह असर कहीं तेज और कहीं कम था। कुल मिलाकर आंध्र प्रदेश में जंगन कानून भंग, असम में बागानों की हड़ताल, असम और बंगाल में रेलवे की हड़ताल, अकाली आन्दोलन, ताना भगत आन्दोलन आदि असहयोग आन्दोलन की उपलब्धियॉ थी।

असहयोग आन्दोलन की और भी उपलब्धियॉ थी। तिलक नव राजनीतिक भिक्षावृति त्यागने का मार्ग दिखाया था और गॉधीजी ने अन्याय के विरूद्व सत्याग्रह का पथ प्रशस्त किया। इस आन्दोलन ने यह दिखाया कि हिदुस्तान की वह जनता, जिसे अंग्रेज मूर्ख, दीन–हीन समझते थे, आधुनिक राष्ट्रवादी राजनीति की वाहक हो सकती है और राजनीतिक संघर्ष शुरू कर सकती है। भारतीय जनता के त्याग और बलिदान ने दमनकारी सत्ता को जता दिया कि देश की आज़ादी की भूख पढ़े–लिखों को ही नहीं, निरक्षर जनता को भी सताती है। आज़ादी के लिए गुलाम देश का हर नागरिक संघर्ष करेगा। यह बात अलग है कि सभी लोग आज़ादी के लिए संघर्ष के सारे दाँव–पेंच एकदम नहीं समझ सकते थे, अपेक्षित अनुशासन नहीं बरत पाते थे, लेकिन असहयोग आंदोलन की सबसे बड़ी सफलता यही रही कि इसने जनता को आधुनिक राजनीति से परिचित कराया, आज़ादी की भूख जगाई। यह पहला अवसर था, जब राष्ट्रीयता ने गाँवों, कस्बों, स्कूलों, सबको अपने प्रभाव में ले लिया। वास्तव में अखिल भारतीय स्तर पर यह पहला देशव्यापी आन्दोलन था, अतः कमियाँ तमाम हो सकती थीं और इसलिए सफलताएँ भी कम मिलीं। लेकिन इस बात से भी इनकार नही किया जा सकता कि जो कुछ भी हासिल हुआ, वह आगामी संघर्ष की पृष्ठभूमि तैयार करने में काफी सहायक हुआ।

मालाबार की घटनाओं के बावजूद इस आंदोलन में बड़े पैमाने पर मुसलमानों की भागीदारी और सांप्रदायिक एकता आन्दोलन की कोई छोटी–मोटी उपलब्धि नहीं थी। मुसलमानों की भागीदारी, बच्चे, युवा आदि की भागीदारी ने ही इस आंदोलन को जन आन्दोलन का स्वरूप दिया। लेकिन दुर्भाग्य की बात तो यह है कि बाद के वर्षों में,

जब सांप्रदायिकता ने ज़ोर पकड़ लिया, तो राष्ट्रीय आंदोलनों में सांप्रदायिक सद्भाव का वह चरित्र बरक़रार न रह सका। यह हिन्दू–मुस्लिम सौहार्द और एकता आज़ादी के लिए बाद के किसी अन्य संघर्षों में नहीं दिखी।

असहयोग आन्दोलन की तमाम उपलब्धियों के साथ–साथ इसकी कमियॉ की ओर भी ध्यान देना आवश्यक है। इसकी सबसे बड़ी कमजोरी यह थी कि यह धर्मनिरपेक्षता के सिद्धान्त के बिल्कुल विपरित पड़ा। धर्म को व्यक्ति का निजी मामला मानने और राजनीति के क्षेत्र से दूर रखने के बजाय, खिलाफत के सहारे हिन्दू–मुसलमान को निकट लाने की कोशिश ने धर्म और राजनीति को एक दूसरे में इतना डुबो दिया कि उसके बाद देश की साम्प्रदायिक समस्या बढ़ती ही गयी। भारतीय राजनीति में खिलाफत के प्रश्न को लाना ही शायद भारी भूल थी। 1921 का मोपला विद्रोह और नृशंस हत्याऍ इसी के परिणाम थे। ब्रिटिश इतिहासकार पोलक के अनुसार – खिलाफत आन्दोलन की नींव ही गलत थी .....इधर तो भारतीय मुसलमान इस्लाम की प्राचीन दुनिया की रूमानी परम्पराऍ फिर से जीवित कर रहे थे, उधर तुर्क जिनके लिए वे आन्दोलन कर रहे थे, उनका मजाक बनाते थे और उनके दृष्टिकोण को पिछड़ा हुआ और मध्ययुगीन समझते थे। जब मुस्तफा कमाल पाशा के नेतृत्व में तुर्की एक आधुनिक धर्मनिरपेक्ष राज्य बन गया और औपचारिक रूप से खिलाफत का अंत हो गया तब भारत में खिलाफत की जड़ ही कट गई। असहयोग आन्दोलन के अचानक बन्द कर देने से कांग्रेस–लीग की मित्रता भी समाप्त हो गयी और हिन्दू–मुस्लिम मित्रता का स्थान हिन्दू–मुस्लिम दंगों ने ले लिया। मेरी समझ से यह पूरा परिदृश्य एक ओर अंग्रेजों की फूट डालो और शासन करो की कूटनीति का परिणाम था तो दूसरी ओर साम्प्रदायिक और धर्मांधता के खिलाफत रूपी भुजंग को दूध पिलाने की भूल का।

चौरी–चौरा की घटना के कारण आंदोलन में जो पड़ाव आया था, वह अस्थायी साबित हुआ। मान्टेग्यू और बरकेनहेड ने चुनौती दी थी कि – "भारत, दुनिया की सबसे शक्तिशाली सत्ता को चुनौती नहीं दे सकता और अगर चुनौती दी गई, तो इसका उत्तर पूरी ताक़त से दिया जाएगा।" गाँधी ने आंदोलन वापस लेने के बाद 23 फ़रवरी 1922 को 'यंग इंडिया' में अपने लेख में इस चुनौती का उत्तर दिया। "अँग्रेज़ों को यह जान लेना चाहिए कि 1920 में छिड़ा संघर्ष अंतिम संघर्ष है, निर्णायक संघर्ष है, फ़ैसला होकर रहेगा, चाहे एक महीना लग जाए, या एक साल लग जाए, कई महीने लग जाएँ या कई साल लग जाएँ। अँग्रेजी हुकूमत चाहे उतना ही दमन करे जितना 1857 के विद्रोह के समय किया था, फैसला होकर रहेगा।'

तमाम कमियों और आलोचनाओं के बावजूद कुल मिलाकर भारतीय स्वाधीनता और राष्ट्रीय आन्दोलन के विकास में असहयोग आन्दोलन का अपना महत्व है। शान्तिपूर्ण प्रतिरोध अथवा सत्याग्रह का जो हथियार असहयोग आन्दोलन के दौरान गॉधीजी के नेतृत्व में कांग्रेस ने उठाया वह बिल्कुल नया और अदुभूत था। सरकार के पास इसका कोई सन्तोषजनक जवाब नही था। और कुछ मिला या नही परन्तु इस आन्दोलन से जनता में जागृति तो फैली ही। असहयोग आन्दोलन ने स्वदेशी को फिर से व्यापक लोकप्रिय बना दिया और इससे हजारों भारतीयों को रोजगार मिला। विदेशी माल के बहिष्कार से भारत में ब्रिटिश व्यापारिक हितों को भारी क्षति पहुॅची। इस आन्दोलन के महत्व को रेखांकित करते हुये सुभाष चन्द्र बोस ने लिखा था कि – ''महात्मा गॉधी ने

कांग्रेस को एक नया विधान ही नही दिया, अपितु इसे एक क्रान्तिकारी संगठन में परिवर्तित कर दिया। देश की एक कोने से दूसरे कोने तक एक जैसे नारे लगाये जाने लगे और एक जैसी नीति और एक जैसी विचारधारा सर्वत्र दृष्टिगोचर होने लगी।''

भारत में क्रान्तिकारी आन्दोलन का उदय और विकास
Rise and Development of Revolutionary Movement in India.

20वीं शताब्दी के प्रारम्भ में जब उग्र राष्ट्रवादी स्वदेशी, बहिष्कार, राष्ट्रीय शिक्षा और निष्क्रिय प्रतिरोध के सिद्धांत के आधार पर सरकार के विरुद्ध शांतिपूर्ण आंदोलन कर रहे थे, उसी समय भारतीय राजनीतिक क्षेत्र में उग्र राष्ट्रवाद की एक नई हिंसक विचारधारा का उदय हुआ, जिसे सामान्यतया अबतक 'क्रांतिकारी आतंकवाद' कहा जाता रहा है। किंतु इन क्रांतिकारियों के देशप्रेम और बलिदान की भावना का सम्मान करते हुए इसे क्रान्तिकारी आतंकवाद' कहना बिल्कुल भी शोभा नही देता है। इसे 'क्रांतिकारी राष्ट्रवादी आंदोलन' कहना ज्यादा समीचीन प्रतीत होता है। वास्तव में यह 'अहिंसा से हिंसा की ओर और जनता की कार्रवाई से कुलीनों की कार्रवाई की ओर' संक्रमण था, जिसकी आवश्यकता जनता को लामबंद न कर पाने की असफलता से पैदा हुई थी। उग्रपंथियों के सभा, जुलूस एवं बहिष्कार आदि साधनों की असफलता के बाद जुझारू नवयुवकों के लिए बम और पिस्तौल की राजनीति आवश्यक हो गई थी, क्योंकि उन्हें आजादी के लिए संघर्ष करने का और कोई रास्ता नजर नहीं आ रहा था।

भारत को ब्रिटिश दासता से मुक्त कराने के लिए सशस्त्र विद्रोह की एक अखण्ड परम्परा रही है और भारत में अंग्रेज़ी राज्य की स्थापना के साथ ही यह सशस्त्र विद्रोह आरम्भ हो गया था। यद्यपि 1857 ई0 के बाद का भारतीय स्वतंत्रता संग्राम काफी हद तक हिंसा से मुक्त था, फिर भी एक क्रांतिकारी आन्दोलन भी जिसका उद्देश्य भारत को स्वतंत्रता दिलाना था जिसमें कई युवा भारतीय पुरूष और महिलाएँ शामिल थे। भारतीय क्रांतिकारियों के कार्य सिरफिरे युवकों के अनियोजित कार्य नहीं थे। भारतमाता के पैरों में बंधी जंजीरों को तोड़ने के लिए सतत संघर्ष करने वाले इन देशभक्तों ने कर्तव्य समझकर देश की रक्षा के लिए शस्त्र उठाए थे। क्रान्तिकारियों का उद्देश्य अंग्रेजों का रक्त बहाना नहीं था। वे तो अपने देश का सम्मान लौटाना चाहते थे। अनेक क्रान्तिकारियों के हृदय में क्रांति की ज्वाला थी, तो दूसरी ओर आध्यात्म का आकर्षण भी। हंसते हुए फाँसी के फंदे का चुम्बन करने वाले तथा मातृभूमि के लिए सरफरोशी की तमन्ना रखने वाले ये देशभक्त युवक भावुक ही नहीं, विचारवान भी थे। उनका मानना था कि सरकार के खिलाफ सशस्त्र संघर्ष ही भारत को ब्रिटिश शासन से मुक्ति दिलाएगा। उन्होने हिंसक तरीके अपनाए। उन्हे मुख्य रूप से ब्रिटिश अधिकारियों द्वारा कुचल दिया गया था लेकिन वे कई भारतीयों को स्वतंत्रता संग्राम के लिए प्रेरित करने में सफल रहे। मातृभूमि के लिए उनकी वीरता और बलिदान की कहानियॉ लोगों को देश के लिए जीने और मरने के लिए प्रेरित करती रहती है।

क्रांतिकारी आंदोलन के उदय के कारण :

क्रांतिकारी राष्ट्रवाद मुख्यतः उन्ही घटनाओं और परिस्थितियों का परिणाम था जिसके कारण भारत में उग्र राष्ट्रवाद का विकास हुआ था। वास्तव में यह उग्र राष्ट्रीयता का ही एक रूप था जो उससे कही अधिक तीव्र, हिंसात्मक और क्रान्तिकारी था।

क्रांतिकारी राष्ट्रवादी शीघ्रातिशीघ्र अपनी मातृभूमि को विदेशी दासता से मुक्त कराना चाहते थे और इसके लिए उन्होंने आयरलैंड के राष्ट्रवादियों और रूसी निहिलिस्टों (विनाशवादियों) व पापुलिस्टों के संघर्ष के तरीकों को अपनाया। क्रांतिकारी राष्ट्रवाद के प्रणेता अरविन्द घोष के छोटे भाई बारीन्द्र कुमार घोष और स्वामी विवेकानन्द के छोटे भाई भूपेन्द्र नाथ दत्त थे। इन दोनो नेताओं ने 'युगान्तर' और 'संध्या' नामक क्रांतिकारी पत्रों द्वारा अपनी विचारधारा और आन्दोलन का प्रचार किया। इन्हे की क्रांतिकारी राष्ट्रवाद का अग्रदूत कहा जाता है। श्री बारीन्द्र कुमार घोष ने एक लेख 'भारत में पुन' गीता युग '(The age of Geeta again in India) में लिखा कि – श्री कृष्ण ने गीता में कहा था कि जब कभी न्याय और इमानदारी का पतन होने लगता है तथा अन्याय और बेईमानी में वृद्धि होती है तो न्याय की रक्षा के लिए और अन्यायियों को दण्ड देने के लिए ईश्वर का अवतार होता है। इस समय नेकी नष्ट हो रही है और बेईमानी बढ रही है। मुट्ठी भर विदेशी डाकू भारत के करोडों मनुष्यों को उसका धन लूटकर नष्ट कर रहे है। उनकी चक्की में पिसकर अनन्त मनुष्यों की पसलियॉ टुकड़े–टुकड़े हो रही है। भारतीयों डरों मत, ईश्वर असावधान नही। वह अपने वचन का पालन करेगा। ईश्वर पर पूर्ण विश्वास रखकर उसकी शक्ति का प्रयोग करो। जब ईश्वरीय शक्ति मनुष्यों के ह्रदय में चमकती है तो मनुष्य असंभव कार्य भी कर लेते है। इन जुझारू राष्ट्रवादियों ने गुप्त समितियों की स्थापना की और बदनाम अंग्रेज अधिकारियों की हत्या की योजना बनाई, बम फेंके एवं गोलियाँ चलाईं। क्रांतिकारियों का मानना था कि इस तरह की हिंसात्मक कार्रवाई से अंग्रेजों का दिल दहल जायेगा, भारतीय जनता को संघर्ष की प्रेरणा मिलेगी और उनके मन से अंग्रेजी शासन का भय खत्म हो जायेगा। क्रांति के अग्रदूतों के आह्वान ने नवयुवकों को क्रांतिकारी हिंसात्मक मार्ग अपनाने के लिए प्रेरित किया। देखते–ही–देखते तमाम नवयुवक इस जुझारू संघर्ष में शामिल हो गये और आजादी के लिए 'बलिदान' नये खून का आदर्श बन गया। इस जुझारू क्रांतिकारी राष्ट्रवाद के उदय के अनेक कारण थे –

नवीन राष्ट्रीय चेतना का उदय और विकास –

उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम चरण में कई प्रकार के सामाजिक एवं आर्थिक परिवर्तन हुए, जिससे लोगों में एक नई राष्ट्रीय एवं राजनैतिक चेतना का विकास हुआ। ब्रिटिश सरकार की आर्थिक शोषण की नीति के कारण भारतीयों में निरंतर दरिद्रता बढ़ती जा रही थी। जब 1896–97 में अकाल और प्लेग से बड़ी संख्या में लोग मारे गये, तो चापेकर बंधुओं ने ब्रिटिश सरकार की अकाल नीति से असंतुष्ट होकर दो अंग्रेज अधिकारियों की गोली मारकर हत्या कर दी। इसके अलावा, बढ़ती बेरोजगारी और अंग्रेजों की नस्लवादी भेदभाव की नीति से भी भारत के शिक्षित नवयुवकों में असंतोष निरंतर बढ़ता जा रहा था। इस असंतोष की अभिव्यक्ति अंततः इस ब्रिटिश विरोधी सशस्त्र आंदोलन के रूप में हुई।

मध्यमवर्गीय आन्दोलन –

क्रान्तिकारी आन्दोलन बंगाल में मध्यम वर्ग में फैला जिसमें अधिकांशतः पाश्चात्य शिक्षा प्राप्त नवयुवकों ने भाग लिया। नवयुवकों के जोश ने इस आन्दोलन को गति दी। 'लन्दन टाइम्स' के संवाददाता सर वेलेण्टाइन शिरोल का मत था कि आतंकवाद में पाश्चात्य सभ्यता और संस्कृति के विरुद्ध कट्टरपंथी ब्राह्मणों ने ही नहीं, वरन् अन्य

जाति के नवयुवकों ने भी खुलकर भाग लिया। गैरट ने इसकी पुष्टि करते हुए लिखा है कि –"क्रान्तिकारी आन्दोलन केवल ब्राह्मणों द्वारा आयोजित षड्यन्त्र नहीं था, बंगाल और पंजाब में इसके नेता अन्य जाति के भी थे।"

आर्थिक कारण –

19वीं शताब्दी के अन्तिम चरण में देश में चारों ओर आर्थिक असन्तोष की लहर व्याप्त हो गयी और जनता भारत सरकार की अर्थ नीति से बहुत ही क्षुब्ध हो गयी थी। अनेक भारतीय अर्थशास्त्रियों ने प्रमाण देकर भारत के शोषण और उसके अनिष्टकर परिणामों पर प्रकाश डाला। अकाल, महामारी और भूचालों के कारण जनता की गरीबी इतनी बढ़ चुकी थी कि सहारा पाकर काफी बड़ी संख्या में नवयुवक उग्रवाद और हिंसा के मार्ग पर चल पड़े। लार्ड बेकन की यह उक्ति भारत में भी चरितार्थ हुई कि – "अधिक दरिद्रता और अधिक असन्तोष क्रान्ति को जन्म देते हैं।"

संवैधानिक आन्दोलन की विफलता–

नरमपंथी विचारधारा की असफलता के कारण भारतीय युवकों के बड़े वर्ग को वैधानिक मार्ग में कोई विश्वास नहीं रहा। उन्हें विश्वास हो गया कि हाथ–पैर जोड़ने और प्रार्थना–पत्र प्रेषित करने से देश को आजादी नहीं मिल सकेगी। आजादी पाने के लिए शक्ति संचित करनी होगी तथा उन्हे हिंसा और क्रान्तिकारी साधनों का सहारा लेकर विदेशी हुकूमत की जड़ें उखाड़नी होंगी। क्रान्तिकारियों ने कहा था– "अंग्रेजी शासन पाश्विक बल का प्रयोग करते हैं तो वह उचित ही है।" उन्होंने नारा लगाया – "तलवार हाथ में लो और सरकार को मिटा दो।" क्रान्तिकारियों ने उत्तर दिया कि "जो लक्ष्य अनेक नैतिक बातों के प्रभाव से प्राप्त नहीं हो सकता, वह गोली और बम के प्रयोग से हो सकता है।"

उग्र राष्ट्रवादी राजनीति की असफलता –

उग्र राष्ट्रवादी राजनीति की असफलता भी कुछ हद तक बम और पिस्तौल की राजनीति के लिए जिम्मेदार थी। गरमपंथियों ने बंग–भंग विरोधी आंदोलन के दौरान स्वदेशी और बहिष्कार के साथ निष्क्रिय प्रतिरोध का भी आह्वान किया था। उन्होंने स्वदेशी और बंग–भंग विरोधी आंदोलन को जनांदोलन बनाने की कोशिश की और विदेशी शासन से मुक्ति का नारा दिया। अरबिंद घोष ने स्पष्ट घोषणा की कि "राजनीतिक स्वतंत्रता किसी भी राष्ट्र की प्राणवायु है।" गरमपंथियों ने आत्म–बलिदान का आह्वान किया कि इसके बिना कोई भी महान् उद्देश्य प्राप्त नहीं किया जा सकता, किंतु वे जनता को सकारात्मक नेतृत्व देने में असफल रहे। उन्होंने जनता को जागृत तो कर दिया, किंतु वे यह नहीं समझ सके कि जनता की इस नई–नई निकली शक्ति का कैसे उपयोग किया जाए ? यही नही वे जनता को भी नही समझा सके कि उनकी नीतियॉ और कार्यक्रम किस मामले में उदारपंथियों से अलग है। सूरत में कांग्रेस के विभाजन के बाद युवाओं का इनसे मोहभंग भी हो रहा था। 1908 तक गरमवादी राजनीति एक बंद गली में समा चुकी थी और सरकार दमन पर उतारू थी। उदारपंथी राजनीति पहले ही अव्यवहारिक हो चुकी थी। अब युवा वर्ग ने यह प्रश्न करना आरंभ कर दिया कि संवैधानिक तरीके अपनाने से क्या लाभ हुआ, जब उसका अंत बंगाल के विभाजन के रूप में ही होना था। शांतिपूर्ण प्रतिरोध और राजनीतिक कार्रवाई के सारे

रास्ते बंद हो जाने पर विक्षुब्ध युवकों ने व्यक्तिगत वीरता और क्रांतिकारी आंदोलन की राह पकड़ ली।

ब्रिटिश सरकार की दमनकारी नीति –

जुझारू और क्रांतिकारी राजनीति के उदय में ब्रिटिश सरकार की दमनकारी नीति ने भी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। सरकार ने राष्ट्रवादी आंदोलन को दबाने की बहुत कोशिश की। 1907 और 1908 में बने दमनात्मक कानूनों ने किसी प्रकार के राजनीतिक आंदोलन को खुले रूप से चलाना असंभव बना दिया। प्रेस की स्वतंत्रता नष्ट कर दी गई और सभाओं, जुलूसों आदि पर प्रतिबंध लगा दिया गया। स्वदेशी कार्यकर्ताओं पर मुकदमे चलाये गये और उन्हें लंबी–लंबी सजाएँ दी गईं। अनेक छात्रों को शारीरिक दंड तक दिये गये। अप्रैल 1906 में बारीसाल में आयोजित बंगाल प्रांतीय सम्मेलन पर पुलिस ने हमलाकर अनेक युवा स्वयंसेवकों की बड़ी निर्ममता से पिटाई की और सम्मेलन को जबरदस्ती बंद करवा दिया। दिसंबर 1908 में कृष्णकुमार मित्र तथा अश्विनीकुमार दत्त जैसे नौ नेताओं को देश निकाला दे दिया गया। इसके पहले 1907 में पंजाब के शहरी इलाके में हुए दंगे के बाद लाला लाजपत राय और अजीत सिंह को देश से बाहर कर दिया गया था। 1908 में भारत सचिव लॉर्ड मार्ले ने वायसराय लार्ड मिंटो को लिखा था – "राजद्रोह और अन्य अपराधों के संबंध में जो दिल दहला देने वाले दंड दिये जा रहे हैं, उनके कारण मैं चिंतित और चकित हूँ। हम व्यवस्था चाहते हैं, लेकिन व्यवस्था लाने के लिए घोर कठोरता के उपयोग से सफलता नहीं मिलेगी, इसका परिणाम उल्टा होगा और लोग बम का सहारा लेंगे।" मांटेग्यू ने 1910 में स्वीकार किया कि – "दंड संहिता की सजाओं ने और चाकू चलाने की नीति ने साधारण एवं बिगड़े हुए नवयुवकों को शहीद बनाया और विप्लवकारी संघर्षों की संख्या बढ़ा दी।" इस प्रकार सरकारी अधिकारियों के दम्भ और उसकी दमनात्मक कार्यवाईयों ने देश के युवाओं को विद्रोही बना दिया।

अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओं का प्रभाव –

क्रांतिकारी राष्ट्रवाद के उदय में विदेशों की घटनाओं की भी महत्त्वपूर्ण भूमिका रही थी। यूरोप और एशिया में कुछ ऐसी घटनाएँ घटीं जिससे भारतीय नवयुवकों और राष्ट्रप्रमियों में भी आशा की किरण का संचार हुआ। आटोमन साम्राज्य से बाल्कन राज्य की आजादी और 1905 में जापान के हाथों रूस की पराजय से पश्चिम की श्रेष्ठता का दंभ टूट गया। फ्रांस, अफ्रीका, आयरलैंड आदि देशों की जनता ने जिस प्रकार अपने अधिकारों के लिए संघर्ष किया, वह भारतीय युवकों के लिए आदर्श बन गया। अब भारतीय युवकों में यह भावना पैदा हो गई कि प्राण देने से पहले प्राण ले लो।

इस प्रकार बढती हुई राष्ट्रीय चेतना, 'उदारपंथियों के कार्यक्रम और कार्यरीति की असफलता और उग्र राष्ट्रवादियों द्वारा सकारात्मक दिशा देने में विफलता से हुए मोह भंग, यूरोप के देशों के क्रांतिकारी आंदोलनों तथा रुसी शून्यवादियों एवं अन्य यूरोपीय गुप्त दलों द्वारा अपनाये गये षड्यंत्रकारी आतंकवादी तरीकों के अध्ययन ने कुछ नौजवान भारतीयों को हिंदुस्तान में भी आतंकवादी संगठन और कार्य–प्रणाली की प्रेरणा दी और इस प्रकार वे बम और पिस्तौल की राजनीति की तरफ आकर्षित हुये और

भारत में राष्ट्रीय आन्दोलन का एक नया स्वरूप क्रान्तिकारी राष्ट्रवाद का उदय और विकास हुआ।

क्रांतिकारियों का उद्देश्य :

क्रांतिकारियों का मुख्य उद्देश्य ब्रिटिश शासन का अंत करना था। वे अंग्रेजों को बोरिया–बिस्तर सहित भारत से खदेड़ना चाहते थे। वे क्रांतिकारी लेखों, कविताओं और भाषणों द्वारा जनता में देशप्रेम की भावनाएँ जागृत करते थे। क्रांतिकारियों का मानना था कि अंग्रेजी शासन पाशविक बल पर टिका है और यदि हम अपने आपको स्वतंत्र करने के लिए पाशविक बल का प्रयोग करते हैं, तो वह उचित ही है। इसके लिए वे हिंसा, लूट एवं हत्या जैसे साधनों का प्रयोग आवश्यक मानते थे। वे चाहते थे कि हिंसात्मक कार्यों के द्वारा विदेशी शासकों को आंतकित किया जाए और भारतीयों के इस भय को दूर किया जाए कि अंग्रेज शक्तिशाली एवं अजेय हैं। उन्होंने संगीत, नाटक एवं साहित्य आदि के द्वारा राष्ट्रवादी भावनाओं का प्रसार कर भारतीयों से उनके कार्यों में सहयोग देने की अपील की और युवाओं से इस कार्य के लिए आगे आने का आह्वान किया। उनका संदेश था कि, 'तलवार हाथ में लो और सरकार को मिटा दो।' क्रांतिकारी नेता बारीन्द्र कुमार घोष ने 'युगांतर' में लिखा थाः "क्या शक्ति के उपासक बंगवासी रक्त बहाने से घबरा जायेंगे? इस देश में अंग्रेजों की संख्या एक–डेढ़ लाख से अधिक नहीं तथा एक जिले में उनकी संख्या बहुत ही कम है। यदि तुम्हारा संकल्प दृढ़ हो, तो अंग्रेजी राज एक दिन में ही समाप्त हो सकता है। देश की स्वतंत्रता के लिए अपना जीवन अर्पण कर दो, किंतु उससे पहले कम से कम एक अंग्रेज का जीवन समाप्त कर दो। देवी की आराधना पूरी न होगी यदि तुम एक और बलिदान दिये बिना देवी के चरणों में अपनी बलि चढ़ाओगे।"

क्रांतिकारियों की कार्य–प्रणाली :

क्रांतिकारियों का मानना था कि अंग्रेजी शासन पाशविक बल पर स्थित है और यदि हम अपने आपकों स्वतंत्र करने के लिए पाशविक बल का प्रयोग करते है तो वह उचित ही है। उनका तर्क था कि जो लक्ष्य अनेक युक्तियुक्त तथा नैतिक बातों के प्रभाव से प्राप्त नही हो सकता, वह गोली और बम के प्रहार और प्रयोग से ही हो सकता है। उनका संदेश था – ''तलवार हाथ में लो और सरकार को मिटा दो।'' ब्रिटिश सरकार द्वारा 1918 में नियुक्त राजद्रोह–संबंधी जाँच समिति ने अपने प्रतिवेदन में क्रांतिकारियों द्वारा प्रकाशित एक पुस्तक के सार का उल्लेख किया था – "यूरोपियनों को गोली से मारने के लिए अधिक शक्ति की आवश्यकता नहीं है। छिपे ढंग से शस्त्र, हथियार तैयार किये जा सकते हैं और भारतीयों को हथियार बनाने का कार्य सिखाने के लिए विदेशों में भेजा जा सकता है। भारतीय सैनिकों की सहायता अवश्य ली जानी चाहिए और उन्हें देशवासियों की दुर्दशा के बारे में समझाना चाहिए। शिवाजी की वीरता अवश्य ही याद रहे। क्रांतिकारी आंदोलन के प्रारंभिक व्यय के लिए चंदा इकट्ठा किया जाए, किंतु जैसे ही काम बढ़े, समाज के धनिक वर्ग से शक्ति द्वारा धन प्राप्त किया जाना आवश्यक है। चूँकि इस धन का प्रयोग समाज कल्याण के लिए होगा, इसलिए ऐसा करना उचित है। राजनीतिक डकैती में कोई पाप नहीं होता।"

क्रांतिकारी भारतीय सैनिकों को भी विदेशी शासकों के विरुद्ध शस्त्र उठाने की प्रेरणा देते थे। उनका विचार था कि आवश्यकता पड़ने पर गुरिल्ला युद्ध किया जाए। वे एक देशव्यापी संगठित क्रांति करके विदेशी शासन को उखाड़ फेंकना चाहते थे। उन्होंने अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए गुप्त समितियों की स्थापना की और अपने सदस्यों को शस्त्र चलाने तथा बम बनाने का प्रशिक्षण देने का प्रबंध किया। इसके अतिरिक्त वे शिवाजी, भवानी, दुर्गा, काली आदि की पूजा द्वारा विदेशी शासकों के हृदय में आतंक उत्पन्न करते थे। वे मृत्यु की परछाई की भांति छिपे रहते थे और विदेशी अधिकारियों पर घातक वार करते थे। यदि वे पकड़े जाते, तो सरकार द्वारा दिये जाने वाले कठोर दंड को मातृभूमि के लिए हँस–हँसकर गले लगा लेते थे। संक्षेप में, उनकी कार्य प्रणाली के अन्तर्गत निम्नलिखित बातें शामिल थी –

1. पत्रों की सहायता से प्रचार द्वारा शिक्षित लोगों के मस्तिष्क में दासता के प्रति घृणा उत्पन्न करना।
2. संगीत, नाट्य और साहित्य के द्वारा बेकारी और भूख से त्रस्त लोगों को निडर बनाकर उनमें मातृभूमि और स्वतंत्रतता का प्रेम भरना।
3. शत्रु को प्रदर्शन और आन्दोलनों में व्यस्त रखना।
4. बम बनाना, बन्दूक आदि चोरी से प्राप्त करना तथा विदेशों से आग्नेयास्त्रों को प्राप्त करना।
5. चन्दा, दान तथा क्रांतिकारी डकैतियों द्वारा व्यय के लिए धन का प्रबन्ध करना।

भारत में क्रांतिकारी आंदोलन का विकास :

क्रांतिकारी राष्ट्रवाद का यह उभार भारत के इतिहास में हमें दो चरणों में देखने को मिलता है –

1. प्रथम चरण : प्रथम विश्वयुद्ध से पूर्व और
2. द्वितीय चरण : प्रथम विश्वयुद्ध की समाप्ति के बाद

भारत में क्रांतिकारी आन्दोलन के विकास के क्रम में भारतीय स्वाधीनता संघर्ष के दौरान क्रांतिकारी आन्दोलन दो चरणों में और क्रांतिकारियों की दो विचारधाराएँ उभर कर सामने आई। पहली विचारधारा के क्रांतिकारी नेता देश में हिंसात्मक कार्यक्रम, जैसे क्रूर ब्रिटिश अधिकारियों व पुलिस के मुखबिरों की हत्या करने में विश्वास करते थे। इस विचारधारा को बंगाल और महाराष्ट्र में अधिक समर्थन मिला, जहाँ जुझारू नवयुवकों ने गुप्त समितियों की स्थापना कर क्रांतिकारी गतिविधियों को संचालित किया। दूसरी विचारधारा के क्रांतिकारी अंग्रेजी राज का तख्ता पलटने के लिए भारतीय सेना की, और यदि संभव हो तो, अंग्रेजों के विरोधी शक्तियों की सहायता लेने में विश्वास करते थे। यह विचारधारा पंजाब और पश्चिमी उत्तर प्रदेश में अधिक प्रचलित थी। अनेक शिक्षित हिंदू और मुसलमान भारतीयों ने विदेशों से सहायता प्राप्त करने के लिए लंदन, पेरिस, संयुक्त राज्य अमेरिका और कनाडा में रहकर हिंसात्मक विद्रोह की योजना बनाई।

क्रांतिकारियों के भावी कार्यक्रम –

क्रान्तिकारी संघर्ष के प्रथम चरण में क्रांतिकारियों के भावी कार्यक्रम स्पष्ट नहीं थे और वे मात्र इतना जानते थे कि सांवैधानिक उपायों द्वारा अंग्रेजी शासन को खत्म नहीं किया जा सकता है, हिंसात्मक तरीकों से ही इस अत्याचारी शासन से मुक्ति मिल सकती है। इन राष्ट्रवादी क्रांतिकारियों ने व्यक्तिगत हिंसा को महिमामंडन किया और नौजवानों, विशेषकर विद्यार्थी वर्ग को संगठित कर बारूद आदि बनाने के लिए प्रशिक्षित किया। उनका उद्देश्य अंग्रेज उच्चाधिकारियों, पुलिस के मुखबिरों तथा क्रूर अधिकारियों की हत्या करना था ताकि विदेशियों को आतंकित कर भारत भूमि को छोड़ने के लिए विवश किया जा सके। किंतु स्वतंत्र भारत में कैसा समाज बनाया जाना चाहिए, इस ओर राष्ट्रवादी क्रांतिकारी कोई ध्यान नहीं दे सके।

इस प्रकार क्रांतिकारी भारतभूमि की रक्षा के लिए भारतीय सैनिकों को ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध विद्रोह करने के लिए प्रेरित करते थे और वे अंग्रेजों को भारत से भगाने के लिए विदेशी शक्तियों से भी मदद लेना चाहते थे। उन्हें क्रांतिकारी इसलिए माना जाता है क्योंकि वे राष्ट्रीय भावना से ओतप्रेत थे और सशस्त्र क्रांति द्वारा देश को पराधीनता से मुक्त कराना चाहते थे। इतिहास गवाह है कि "उत्पीडिकों ने किसी भी देश को अपनी खुशी से कभी आजादी नहीं दी, उनसे तो हमेशा सशस्त्र हथियारों से ही देश मुक्त किये गये हैं । "

क्रांतिकारी आन्दोलन : प्रथम चरण –

महाराष्ट्र में क्रांतिकारी गतिविधियॉं :

राजनीतिक प्रतिरोध के एक ढंग के तौर पर हिंसा की संस्कृति भारत में, 1857 के विद्रोह के दमन के बाद भी हमेशा मौजूद रही। महाराष्ट्र (1879) में वासुदेव बलवंत फड़के, जो संभवतः राष्ट्र की संपत्ति के दोहन पर रानाडे के व्याख्यानों, 1876–77 में दक्षिण में पड़नेवाले अकालों और पूना के ब्राह्मण बुद्धिजीवियों में बढ़ती हुई हिंदू पुनरुत्थानवादी प्रवृत्ति से प्रभावित थे, ने रामोशी और ढांगर जैसे दूसरे पिछड़े वर्गों का एक चालीस सदस्यीय गुप्तदल का गठन किया था। इस गुप्त दल ने डकैतियों के माध्यम से धन जमा करके अंग्रेजों के विरुद्ध एक हथियारबंद बगावत की और पुनः हिंदू राज स्थापित करने की योजना बनाई। यद्यपि फड़के 1879 में गिरफ्तार कर लिये गये किंतु इसमें कहीं न कहीं बाद के क्रांतिकारी राष्ट्रवाद का पूर्वाभास मिलता है। महाराष्ट्र में क्रांतिकारी आंदोलन को उभारने का श्रेय बाल गंगाधर तिलक के पत्र 'केसरी' को जाता है। उन्होंने 1893 ई0 में 'शिवाजी उत्सव' मनाना आरंभ किया, जिसका उद्देश्य धार्मिक कम, राजनीतिक अधिक था।

रैण्ड हत्याकाण्ड, 1897 –

स्वाधीनता आन्दोलन में क्रांतिकारियों के प्रवेश की घोषणा करने वाला पहला धमाका 1897 ई0 में पूना में चापेकर बन्धुओं ने किया था। महाराष्ट्र में तिलक के दो शिष्यों – चापेकर बंधुओं (दामोदर हरि चापेकर व बालकृष्ण चापेकर) ने 1896–97 में क्रांतिकारी आंदोलन की शुरूआत की। इस संगठन का उद्देश्य नौजवानों को संगठित कर विभिन्न प्रकार के अस्त्र–शस्त्र की शिक्षा देना था। दामोदर हरि चापेकर का मानना था कि

सिर्फ नेशनल कांग्रेस बनाकर या भाषणबाजी करके कुछ भी प्राप्त नहीं किया जा सकता। देश की भलाई तभी होगी, जब देश के करोड़ों लोग देश के लिए युद्ध क्षेत्र में प्राणों की बाजी लगाने को और तलवार की धार पर चलने को तैयार होंगे। 1896–1897 के बीच महाराष्ट्र के पूना में प्लेग काफी फैल गया और अंग्रेज सरकार राहत पहुँचाने के बजाय दमन कार्य में लगी रही। रैण्ड़ नामक एक अंग्रेज को वहॉ प्लेग कमिश्नर बनाकर भेजा गया जो स्वभावतः जालिम और तानाशाह किस्म का आदमी था। प्लेग की रोकथाम के नाम पर सरकारी अधिकारियों द्वारा आम जनता के साथ बदसलूकी एक आम बात हो गयी। प्लेग से प्रभावित मकानों को बिना कोई विकल्प दिये खाली कराये जाने का हुक्म जारी दिया गया। जहॉ तक हुक्म का सवाल है इसमें कोई गलत बात नही थी लेकिन रैण्ड ने इस हुक्म का जिस तरह पालन करवाा उससे वह अलोकप्रिय हो गया। लोगों को उनके घरों से निकाला गया और उन्हे कपड़े, बरतन आदि तक निकाल कर ले जाने का समय नहीं दिया गया। 4 मई 1897 ई0 को लोकमान्य तिलक ने अपने पत्र केसरी में एक लेख लिखकर न सिर्फ नीचे के अफसरों पर बल्कि खुद सरकार पर इल्जाम लगाया कि वह जान–बूझकर जनता का उत्पीड़न कर रही है। उन्होने रैण्ड को निरंकुश बताया और सरकार पर ''दमन का सहारा लेने'' का आरोप लगाया।

प्लेग की महामारी से जूझते पूना में 22 जून 1897 को महारानी विक्टोरिया के राज्याभिषेक की हीरक जयन्ती के अवसर पर एक भव्य सरकारी कार्यक्रम का आयोजन हुआ। सरकारी नीतियों के प्रतिरोध में चापेकर बंधुओं ने इसी दिन रात्रि में पूना में प्लेग कमिश्नर मि0 रैंड तथा आर्यस्ट की गोली मारकर हत्या कर दी। आर्यस्ट की तो फौरन मृत्यु हो गयी जबकि रैण्ड ने 3 जुलाई 1897 को अस्पताल में दम तोड दिया। एक आई0सी0एस0 और दूसरे मिलिट्री अधिकारी की हत्या ने भारत से लेकर इंग्लैण्ड तक हड़कम्प मचा दिया।

सरकार ने इस हत्या से सम्बन्धित सुराग देने वालों को 20 हजार के इनाम की घोषणा की जिसके लालच में चापेकर बन्धुओं के ही दोस्त गणेश शंकर द्रविड़ और रामचन्द्र द्रविड़ आ गये। इनकी सूचना के आधार पर चापेकर बन्धुओं की गिरफ्तारी हुई और उनपर पर मुकदमा चला। पूरे मुकदमें के दौरान चापेकर बन्धुओं ने जिस वीरता, साहस और आत्म–बलिदान का परिचय दिया उससे लोग अत्यन्त मुग्ध हुये और लोगों में अंग्रेजों के खिलाफ उठ खड़े होने की भावनाओं ने जोर मारना शुरू किया। अन्ततः वन्दे मातरम् के उदघोष के साथ 18 अप्रैल 1998 को दामोदर चापेकर को तथा 12 मई 1899 को बालकृष्ण चापेकर को मृत्युदंड दे दिया गया।

इस मृत्युदंड का प्रतिशोध तीसरे भाई वासुदेव चापेकर ने अपने दोस्त के साथ मिलकर गद्दारी करने वाले इन द्रविड़ भाईयों की 08 फरवरी 1899 को हत्या करके लिया, जिन्होंने धन के लालच में दामोदर चापेकर को गिरफ्तार करवाया था। इस बार बालकृष्ण चापेकर तथा महादेव रानाडे को एक ही दिन 10 मई 1899 को फॉसी मिली। विद्रोह भड़काने के आरोप में तिलक को भी 18 माह के कारावास की सजा सुनाई गई।

अभिनव भारत –

महाराष्ट्र में नासिक क्रांतिकारी आंदोलन का गढ़ था। विनायक दामोदर सावरकर ने 1899 में नासिक में 'मित्रमेला' नामक संस्था की स्थापना की थी। मेजिनी की 'तरुण इटली' (यंग इटली) के तर्ज पर वी0डी0 सावरकर तथा उनके भाई गणेश दामोदर सावरकर ने 1904 ई0 में ने इसी संस्था को 'अभिनव भारत' नामक क्रांतिकारियों के एक गुप्त संगठन में परिवर्तित कर दिया। इस संगठन ने बम बनाने की जानकारी प्राप्त करने के लिए पांडुरंग महादेव को पेरिस भेजा, जहाँ उन्होंने रूसी क्रांतिकारियों से बम बनाने की कला सीखी। कुछ ही वर्षों में महाराष्ट्र, कर्नाटक व मध्य प्रदेश में गुप्त समितियों का जाल बिछ गया। इन समितियों ने नासिक, बंबई एवं पूना आदि स्थानों पर बम बनाने की गुप्त फैक्ट्रियाँ स्थापित की और पुस्तिकाओं के प्रकाशन एवं वितरण, गणपति एवं शिवाजी उत्सवों तथा राष्ट्रवादी गीतों के माध्यम से महाराष्ट्र की जनता को देश के लिए मर–मिटने की प्रेरणा दी। 1906 में वी0डी0 सावरकर लंदन चले गये और श्यामजी कृष्णवर्मा का हाथ बँटाने लगे। 'इण्डिया हाउस' नामक संस्था की स्थापना श्यामजी कृष्ण वर्मा ने 1905 ई में लंदन में की थी।

नासिक षड्यंत्र केस, 1909 –

विनायक दामोदर सावरकर ने लंदन से 1909 में गुप्त रूप से अपने भाई गणेश सावरकर को 20 ब्राउनिंग पिस्तौलें भेजी, किंतु इनके भारत पहुँचने के पहले ही 2 मार्च 1909 को गणेश राष्ट्रवादी कविताएँ लिखने के अपराध में गिरफ्तार कर लिये गये। 9 जून 1909 को बम्बई उच्च न्यायालय ने गणेश सावरकर को सम्राट के विरुद्ध युद्ध छेड़ने के अभियोग में आजीवन देशनिकाला की सजा दी। 'अभिनव भारत' समूह के अनंत लक्ष्मण कन्हारे ने 21 दिसंबर 1909 को नासिक के जिला मजिस्ट्रेट जैक्सन की गोली मारकर हत्या कर दी। इस हत्या में लंदन से भेजी गई ब्राउनिंग पिस्तौलों में से एक का प्रयोग किया गया था। भारतीय इतिहास में इसे 'नासिक षड़यंत्र केस' के नाम से जाना जाता है।' नासिक षड्यंत्र केस' के तहत 37 व्यक्तियों पर मुकदमा चलाया गया जिसमें अनंत लक्ष्मण कन्हारे, कृष्णजी गोपाल कर्वे तथा विनायक नारायण देशपांडे को 19 अप्रैल 1911 को फाँसी दे दी गई, 26 लोगों को कड़ी सजाएँ दी गईं। इसी कांड में गणेश के भाई विनायक दामोदर सावरकर को लंदन से गिरफ्तार कर नासिक लाया गया। उनके उपर मार्ले–मिंटो सुधार के खिलाफ सशस्त्र विद्रोह करने तथा सम्राट के खिलाफ साजिश रचने का आरोप लगाकर मुकदमा चलाया गया। दोनों मुकदमों में सावरकर को दोषी ठहराते हुये उन्हें आजीवन कारावास की सजा मिली। 1911 ई0 में वीर सावरकर को अंडमान निकोबार द्वीपसमूह के सेलुलर जेल भेज दिया गया। इसके बाद महाराष्ट्र में कुछ समय के लिए क्रांतिकारी गतिविधियाँ थम सी गईं।

नासिक जैसा एक नवभारत सोसायटी ग्वालियर में भी था। यहाँ सिंधिया की निरंकुशता की छाया में काम करने के अनुभव के फलस्वरूप उन भ्रांत धारणाओं से नाता पूर्णतः टूट गया जिन्हें तब अन्य भारतीय क्रांतिकारी एवं राष्ट्रवादी संजोये हुये थे। नवभारत सोसायटी का लक्ष्य था– गणतंत्र स्थापित करना क्योंकि उनकी दृष्टि में सब देसी राजा कठपुतलियाँ मात्र थे। फिर भी महराष्ट्र में बंगाल की तरह क्रांतिकारी गतिविधियाँ कभी विकट रूप धारण नहीं कर सकीं। नासिक एवं ग्वालियर के षडयंत्रों के बाद इसका कोई समाचार नहीं मिलता।

बंगाल में क्रांतिकारी गतिविधियॉ :

यद्यपि क्रांतिकारी विचारधारा का जन्म महाराष्ट्र में हुआ, किंतु सशस्त्र क्रांति के सर्वाधिक समर्थक बंगाल में थे और यही क्रांतिकारी आंदोलन का प्रमुख केंद्र भी था। बंगाल में राष्ट्रवादी आंदोलन का विकास 1860 और 1870 के दशक से ही होता आ रहा था, जब शारीरिक व्यायाम आंदोलन का उन्माद छाया हुआ था और जिन चीजों को स्वामी विवेकानंद ने 'मजबूत पसलियाँ और लोहे की नसें कहा था, उनके विकास के लिए हर जगह अखाड़े कायम होने लगे थे। बंकिम चन्द्र चटर्जी और विवेकानन्द की रचनाओं ने शिक्षित बंगाली युवा वर्ग को नवीनतम पीढ़ी के बीच पौरूष भाव का संचार किया जिन्होने सामाजिक सेवा और राष्ट्रीय गर्व के बोध का भी विकास किया। तथापि बंगाल में क्रांतिकारी आन्दोलन की वास्तविक कहानी चार समूहों की स्थापना से शुरू हुई– तीन कलकत्ता में और एक मिदनापुर में। ऐसा पहला संगठन था– मिदनापुर सोसायटी, जिसकी स्थापना 1902 ई0 में हुई। इसके उपरान्त बालीगंज सर्कुलर रोड़ पर सरला घोषाल द्वारा एक जिम्नेजियम अर्थात व्यायामशाला की स्थापना हुई। मार्च 1902 ई0 में सतीश चन्द्र बसु द्वारा ढ़ॉका अनुशीलन समिति की स्थापना की गई। 'भवानी मंदिर' नामक पुस्तक में क्रांतिकारियों की क्रांतिकारी संस्था स्थापित करने की योजना के विषय में विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। एक दूसरी पुस्तिका 'वर्तमान रणनीति' (1907) में युद्ध के नियमों के बारे में लिखा गया और युवकों से सैनिक शिक्षा लेने की अपील की गई। युगान्तर और संध्या जैसी साप्ताहिक पत्रिकाओं के माध्यम से क्रांतिकारियों ने सशस्त्र विद्रोह करने का प्रचार किया।

अनुशीलन समिति –

अनुशीलन समिति की स्थापना कलकत्ता में 1902 ई0 में की गई थी। सिस्टर निवेदिता और स्वामी श्रद्धानंद के प्रोत्साहन से सतीश चन्द्र बसु ने किया था। उन्होने इसका नाम बंकिम चन्द्र चटर्जी के नाटक अनुशीलन–तत्व या अनुशासन के सिद्धान्त के नाम पर रखा। अरविन्द घोष के छोटे भाई बारीन्द्र कुमार घोष, हेमचन्द्र कानूनगो और भूपेन्द्र नाथ दत्त ने 1907 में अनुशीलन समिति को क्रियाशील किया। इनका उद्देश्य था– क्रांतिकारी साहित्य द्वारा क्रांतिकारी गतिविधियों का प्रचार करना और नवयुवकों को मानसिक व शारीरिक रूप से शक्तिशाली बनाना ताकि वे अंग्रेजों का डटकर मुकाबला कर सकें। इनकी गुप्त योजनाओं में बम बनाना, शस्त्र–प्रशिक्षण देना व दुष्ट अंग्रेज अधिकारियों तथा उनके पिट्ठुओं का वध करना शामिल था।

बंगाल में क्रांतिकारी राष्ट्रवाद ने विभिन्न रूप धारण किये– दमनकारी अधिकारियों अथवा देशद्रोहियों की हत्या, धन जमा करने के लिए स्वदेशी डकैतियाँ या अधिक से अधिक इस आशा से सैन्य–षडयंत्र कि इसमें उन्हें अंग्रेजों के विदेशी शत्रुओं से सहायता मिलेगी। धन जमा करने के लिए पहला स्वदेशी डाका अगस्त 1906 में रंगपुर में डाला गया और पेरिस में एक रूसी अप्रवासी से सैन्य (थोड़ा–बहुत राजनीतिक) प्रशिक्षण प्राप्त कर हेमचंद्र कानूनगो ने जनवरी 1908 में कलकत्ता के उपनगर माणिकतल्ला में एक संयुक्त धार्मिक पाठशाला एवं बम बनाने का एक कारखाना शुरू किया। कार्यकताओं ने दमन करने वाले अधिकारियों और जासूसों की हत्या करने तथा धनवान साहा व्यापारियों के घरों में चोरी करने की योजना बनाई। ये वही साहा व्यापारी थे, जिन्होने शुरू में विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार करने से मना कर दिया था।

किंग्सफोर्ड बमकाण्ड, 1908 –

युगांतर समूह ने 6 दिसंबर 1907 को मिदनापुर के निकट अलोकप्रिय लेफ्टिनेंट गवर्नर फुलर की रेलगाड़ी को बम से उड़ाने का असफल प्रयास किया। 23 दिसंबर 1907 को फरीदपुर स्टेशन पर ढाका के पूर्व जिलाधीश एलेन की पीठ पर गोली मारी गई। बंगाल में यह क्रान्तिकारी आन्दोलन मुजफ्फरपुर बमकाण्ड से चरमोत्कर्ष पर पहुँचा।

खुदीराम बोस और उनके साथी प्रफुल्ल चाकी ने 30 अप्रैल 1908 को मुजफ्फरपुर के बदनाम जज किंग्सफोर्ड को मारने की योजना बनाई। वस्तुतः डगलस किंग्सफोर्ड एक अलोकप्रिय ब्रिटिश मुख्य मजिस्ट्रेट था। किंतु दुर्भाग्य से जिस बग्घी पर बम का निशाना बनाया गया था उसमें दो अंग्रेज महिलाएँ थी, किंग्सफोर्ड नही। इस बमकांड में पिंगल कैनेडी की पत्नी एवं उनकी पुत्री मारी गईं। पुलिस से घिरा देख प्रफुल्ल चाकी ने स्वयं को गोली मार ली, किंतु खुदीराम बोस को गिरफ्तार कर 8 जून 1908 को उन्हें अदालत में पेश किया गया।

सोलह वर्षीय खुदीराम बोस ने अदालत में कहा – "अंग्रेज मेरे देश के दुश्मन हैं। दुश्मन के न्यायालय में कभी न्याय नहीं मिलता। फाँसी मेरे लिए सजा नहीं, वरन् सबसे बड़ा उपहार है।" 13 जून को खुदीराम को फाँसी की सजा सुनाई गई और 11 अगस्त 1908 को फाँसी पर लटका दिया गया। खुदीराम बोस बंगाल के क्रांतिकारियों के लिए राष्ट्रीय वीर तथा शहीद बन गये। युवकों ने ऐसी धोतियाँ पहनीं, जिनके किनारे पर खुदीराम बोस लिखा था। स्कूल दो–तीन दिन के लिए बंद कर दिये गये और उनकी स्मृति में श्रद्धांजलियाँ अर्पित की गईं तथा उनके चित्र बाँटे गये।

मुजफ्फरपुर बमकांड से भयभीत ब्रिटिश सरकार और उसकी पुलिस ने क्रांतिकारी संस्थाओं, विशेषकर अनुशीलन समिति को खत्म करने के लिए कलकत्ता के अनेक स्थानों पर छापामारी शुरू कर दी। पुलिस ने माणिकतल्ला में क्रांतिकारियों के निवासस्थान 34, मुरारीपुकुर पर छापा मारा, जिसमें कुछ बम, डायनामाइट और कारतूस बरामद हुए। यह घटना मुरारीपुकुर षडयंत्र के नाम से विख्यात है। यहाँ बहुत से क्रान्तिकारी भी पकडे गये।

अलीपुर षड्यंत्र केस

पकडे गये सभी लोग अनुशीलन समिति के सदस्य थे। मुकदमे के दौरान पुलिस डिप्टी सुपरिटेंडेंट की कलकत्ता हाईकोर्ट में गोली मारकर हत्या कर दी गई। कन्हाई लाल दत्त और सत्येंद्र बोस ने सरकारी गवाह नरेंद्र गोसाई की भी गोली मारकर हत्या कर दी। उन दोनों पर भी मुकदमा चला और फाँसी की सजा मिली। 12 फरवरी 1910 को केस के निर्णय में अरविंद घोष तो रिहा कर दिये गये, किंतु बारींद्र घोष और उल्लासकर दत्त को मौत की सजा दी गई तथा दस अन्य को उम्रकैद की सजा मिली। अपील के बाद मौत की सजा को उम्रकैद में बदल दिया गया। कुछ दूसरी सजाएँ भी कम की गईं। यह पूरा प्रकरण अलीपुर षडयंत्र केस के नाम से जाना जाता है। बंगाल के 'संध्या' एवं 'युगांतर' तथा महाराष्ट्र के 'काल' में क्रांतिकारियों के कार्यों की मुक्तकंठ से प्रशंसा की गई और उनके समर्थन में लेख लिखे गये।

बंगाल में बढ़ रही क्रांतिकारी गतिविधियों को रोकने के लिए सरकार ने विस्फोटक पदार्थ अधिनियम तथा 1908 में समाचारपत्र (अपराध–प्रेरक) अधिनियम द्वारा प्रेस को जब्त करने और समाचारपत्रों के प्रकाशन पर प्रतिबंध लगाने का अधिकार प्राप्त कर लिया और इसे पूरे भारत में लागू किया। तीन समाचारपत्रों पर मुकदमा चलाया गया और राजद्रोह के लिए उन्हें सजा दी गई। सरकारी दमन के कारण अरबिंद घोष क्रांतिकारी क्रियाकलापों से विरत होकर संन्यासी हो गये और पांडिचेरी में अपना आश्रम स्थापित कर लिये। ब्रह्म बंद्योपाध्याय, जिन्होंने सर्वप्रथम रवींद्रनाथ टैगोर को 'गुरुदेव' कहकर संबोधित किया था, रामकृष्ण मठ में स्वामी बन गये।

सरकार की दमनात्मक कार्यवाही के बावजूद बंगाल में क्रांतिकारी गतिविधियाँ समाप्त नहीं हुईं। दिसंबर 1911 में विभाजन को रद्द करने की घोषणा के बाद भी इस पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। सुदृढ़ रूप से संगठित ढ़ाका अनुशीलन समिति, जिसकी अब सारे प्रांत में और उसके बाहर भी शाखाएँ थीं, धन जुटाने के लिए स्वदेशी डकैतियों तथा अधिकारियों एवं देशद्रोहियों की हत्या करने पर ध्यान केंद्रित कर रहा था।

अगस्त 1914 में क्रांतिकारियों को एक बड़ी सफलता मिली जब उन्हें रोडा फार्म के एक कर्मचारी की सहायता से 50 माउजर पिस्तौलें और 46,000 कारतूस प्राप्त हुए। इस समय राजनीतिक हत्याएँ और डकैतियाँ अपने शिखर पर थीं। 1907–17 के बीच 64 हत्याएँ हुईं, जिनमें पुलिस अधिकारी, वकील, मुखबिर और क्रांतिकारियों के विरुद्ध गवाही देनेवाले शामिल थे। सरकारी ऑकडों के अनुसार इन्हीं वर्षों में 112 डकैतियाँ, 12 विस्फोट और तीन रेलगाड़ियों को उड़ाने की कोशिश की गई।

बंगाल के अधिकांश क्रांतिकारी 'युगांतर' पार्टी के नेतृत्व में संगठित थे। 'युगान्तर समूह' कलकत्ता स्थित एक गुप्त क्रान्तिकारी समूह था जिसकी स्थापना 1906 ई0 में हुई थी। अरविन्द घोष, बारीन्द्र घोष, सुबोध मलिक और भूपेन्द्र नाथ दत्त युगान्तर समूह के संस्थापक थे। बारीन्द्र कुमार घोष और भूपेन्द्र नाथ दत्त ने साप्ताहिक पत्रिका 'युगान्तर' का शुभारंभ किया था। इसके मुख्य नेता जतींद्रनाथ मुखर्जी थे जिन्हें लोग प्यार से 'बाघा जतीन' कहते थे। इन लोगों ने रेल यातायात भंग करने, फोर्ट विलियम पर अधिकार करने तथा जर्मनी से हथियार मँगवाने (जिसके लिए नरेन भट्टाचार्य को जावा भेजा जा चुका था) की योजना बनाई। अनुशीलन समिति के 47 बंगाली भारतीय राष्ट्रवादियों को इंस्पेक्टर शम्सुल आलम की हत्या के आरोप में वर्ष 1910 ई0 में पकड़ लिया गया, जो अनुशीलन समिति की प्रगतिशील गतिविधियों की जॉच कर रहे थे। इन सभी पर मुकदमा चला जिसमें जतीन्द्र नाथ मुखर्जी और नरेन्द्र नाथ भट्टाचार्य को एक साल की नजरबंदी की सजा सुनाई गई। यह घटना हावड़ा गैंग **केस** अथवा हावड़ा–शिवपुर षडयंत्र केस के नाम से जाना जाता है। कालान्तर में एक क्रांतिकारी प्रयास में जतीन को पुलिस ने उड़ीसा के समुद्रतट पर स्थित बालासोर के निकट 'काली पोक्ष' (कप्तिपोद) में घेर लिया और वहीं मुठभेड के दौरान वे 9 सितंबर 1915 को वीरगति को प्राप्त हुए। रासबिहारी बोस और शचींद्रनाथ सान्याल दूरदराज के क्षेत्रों– पंजाब, दिल्ली एवं सयुंक्त प्रांत में क्रांतिकारी आंदोलन के लिए गुप्त समितियों का गठन करते रहे।

बंगाल के क्रांतिकारियों की उपलब्धियाँ –

प्रत्यक्ष लाभ की दृष्टि से बंगाली क्रांतिकारियों की उपलब्धियाँ नगण्य रहीं, उनके अधिकतर प्रयास या तो असफल हो गये या बना दिये गये। कभी–कभार उभरनेवाली वैयक्तिक आकांक्षाओं के बावजूद यह आंदोलन कभी जन–आंदोलन के स्तर तक नहीं पहुँच सका। आरंभ की अधिकांश गुप्त संस्थाओं की गहन धार्मिकता ने मुसलमानों को या तो इससे अलग रखा या उनमें वैमनस्य उत्पन्न कर दिया। फिर भी, खुदीराम की फाँसी और माणिकतल्ला बम षड्यंत्र मुकदमे ने, जिनको प्रेस ने प्रचारित किया और लोकगीतों ने अमर बना दिया, पूरी बंगाली जनता की सोच को प्रेरित किया। अब क्रांतिकारी गतिविधियों को जनमानस में वैधता मिली और अनेक लोग मानने लगे कि यह नरमपंथियों की याचना की नीतियों का एक प्रभावी विकल्प था। 1909 में जब मार्ले–मिंटो सुधारों की घोषणा हुई, तो अनेक लोगों ने यही समझा कि यह क्रांतिकारी कार्यों से पैदा हुए डर का परिणाम था। वायसराय की कार्यकारी परिषद् में विधि सदस्य के रूप में लार्ड एस0पी0 सिन्हा की नियुक्ति और 1911 में बंगाल के विभाजन की निरस्त करने जैसे कदम भी ऐसे दबावों से एकदम असंबद्ध तो नहीं ही रहे होंगे।

पंजाब में क्रांतिकारी गतिविधियाँ –

20वीं शताब्दी के आरंभ में जब संपूर्ण देश में क्रांतिकारी गतिविधियों का बोलबाला था, तो पंजाब भी इससे अछूता नहीं रहा। इस क्षेत्र में संगठित क्रांतिकारी आंदोलन का आरंभ 1906 में हुआ। यहाँ के क्रांतिकारी आंदोलन के प्रेरणास्रोत सरदार अजीतसिंह, सूफी अंबाप्रसाद, लाला पिंडीदास एवं लालचंद्र 'फलक' थे। इन लोगों ने सभाओं एवं क्रांतिकारी साहित्य के द्वारा पंजाब के लोगों में जागृति लाने के लिए वही कार्य किया, जो बंगाल में बंकिमचंद्र चटर्जी तथा अन्य बंगाली लेखकों ने किया। 1907 के कुछ महीनों में पंजाब में स्थिति एकदम ही बदल गई जिसका कारण अंग्रेज सरकार की ओर से लगातार भड़कानेवाली की गई कार्यवाइयाँ थीं। पंजाब सरकार के एक उपनिवेशीकरण विधेयक (Land Alianation Act) के कारण शहरी व्यापारी एवं व्यवसायिक समूहों के लोग नाराज थे। इस ऐक्ट का उद्देश्य चिनाब नदी के क्षेत्र में भूमि की चकबंदी को हतोत्साहित करना तथा संपत्ति के विभाजन के अधिकारों में हस्तक्षेप करना था। इस पूरे क्षेत्र का नियंत्रण गोरे अधिकारियों के हाथ में था जो बड़े ही कठोर नौकरशाही एवं निरंकुश ढंग से कार्य करते थे। जब सरकार ने इस व्यवस्था को और कठोर बनाने के लिए अक्टूबर 1906 में चिनाब कालोनीज बिल का प्रस्ताव किया तो इसके विरोध में 1907 में सरदार अजीतसिंह, भाई परमानंद तथा लाला हरदयाल ने एक गरमवादी आंदोलन को जन्म दिया, जो पंजाब में अपनी तरह का पहला क्रांतिकारी आंदोलन था। इन नेताओं ने क्रांतिकारियों को संगठित कर सशस्त्र विद्रोह के द्वारा अंग्रेजी राज्य को उलटने की योजना बनाई। इसके विरोध में 1913 में एक आंदोलन संगठित हुआ था जिसमें प्रमुख भूमिका सिराजुद्दीन की थी जो 'जमींदार' नामक अखबार निकालते थे।

इसी बीच सरकार ने नवंबर 1906 में अमृतसर, गुरुदासपुर और लाहौर जिले जहाँ मुख्यतः सिख किसान रहते थे, में नहर की पानी की दर में 25 से 50 प्रतिशत तक की वृद्धि और रावलपिंडी में भू–राजस्व में वृद्धि कर दी, जिसके कारण लाहौर तथा रावलपिंडी में विद्रोह हो गया। यद्यपि मई 1907 में लाला लाजपत राय को किसानो को

भड़काने के जुर्म में देशनिकाला दिया गया, किंतु उनकी वैयक्तिक भूमिका बड़ी संयमकारी थी। वस्तुतः लाला लाजपत राय से कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण थे सरदार अजीतसिंह जिन्होंने लाहौर में 'अंजुमन–ए– मोहिब्बान–ए–वतन' नामक एक संस्था की स्थापना की और 'भारत माता' नाम से एक अखबार निकाला जो हिंदू और मुसलमान नामों का एक ऐसा मेल थे जिसे देखकर पंजाब के लेफ्टीनेंट गवर्नर सर डेनियाल इबेटसन घबड़ा गये। उन्होंने 'भारत माता' में अनेक क्रांतिकारी लेख लिखे तथा चिनाबवासियों और बारी दोआब क्षेत्र के किसानों को भू–राजस्व और पानी का शुल्क न देने का आह्वान किया। इबेटसन ने घबड़ाकर ब्रिटिश सरकार को लिखा कि "सरकारी राजस्व, पानी का शुल्क और अन्य शुल्कों की नाअदायगी का इरादा अत्यंत खतरनाक है" और इसे रोकने लिए कड़ी कार्रवाई' आवश्यक है। अजीत सिंह ने मई 1907 में प्रथम स्वतंत्रता संग्राम की अर्धशताब्दी मनाई, जिसमें जनता से सरकार के विरुद्ध विद्रोह करने को कहा गया।

क्रांतिकारी आंदोलन के प्रारंभ होते ही पंजाब सरकार ने विभिन्न प्रकार के दमनकारी कदम उठाकर स्थिति को नियंत्रित करने का प्रयास किया। सरकार ने मई 1907 में एक कानून बनाकर सार्वजनिक सभाओं तथा समितियों को प्रतिबंधित कर दिया और लाला लाजपतराय तथा अजीतसिंह को गिरफ्तार कर देशनिकाला दे दिया। किंतु 1909 में सरकार ने बुद्धिमत्तापूर्वक अपनी भूमि संबंधी नीति में कुछ रियायतें देकर थोड़ी नरमी भी दिखाई, जैसे चिनाब कालोनीज बिल पर वायसराय का वीटो, पानी के शुल्क में कमी और सितंबर 1907 में लाजपतराय और अजीतसिंह की रिहाई। आर्यसमाजी नेताओं ने तुरंत राजभक्ति दिखाई और वे सांप्रदायिक राजनीति में लौट गये। 1908–09 तक अधिकांश जिलों में ठप पड़े कांग्रेस संगठनों का स्थान हिंदू सभाओं ने ले लिया। 1908 में लाला हरदयाल यूरोप चले गये और नेतृत्व की बागडोर मास्टर अमीचंद्र को सौंप गये। फलतः पंजाब में क्रांतिकारी घटनाएँ एक प्रकार से बंद हो गईं।

मद्रास में क्रांतिकारी गतिविधियाँ –

मद्रास प्रेसीडेंसी में बंगाल के साथ सहानुभूति दर्शाने के लिए 1906 के बाद से ही वंदेमातरम् आंदोलन के अंतर्गत सभाएँ आयोजित की जा रही थीं। इस आंदोलन को अप्रैल 1907 में विपिन चन्द्र पाल के दौरे से बड़ा बल मिला। उनके राष्ट्रवादी विचारों का मद्रास के नवयुवकों पर काफी प्रभाव पड़ा। फलतः सरकार ने विपिनचंद्र पाल को बंदी बना लिया तथा उन पर अभियोग चलाकर उन्हें छः मास के कारावास का दंड दिया। इससे मद्रास के नवयुवकों में उत्तेजना फैल गई। पाल के जेल से मुक्त होने पर उनका स्वागत करने हेतु एक सभा का आयोजन किया गया, लेकिन सरकार ने सभा के आयोजकों को बंदी बना लिया। इसकी प्रतिक्रिया में तिरुनेवेली में उपद्रव हुए, कई सरकारी भवनों में आग लगा दी गई और दफ्तरों के फर्नीचर तथा रिकार्ड जला दिये गये। सरकार ने दमन–चक्र चलाते हुए आंदोलनकारी नेताओं तथा पत्र– संपादकों को बंदी बना लिया और उन पर मुकदमा चलाया। इसके प्रतिशोधस्वरूप बाँचीनाथन अय्यर ने 1911 में तिरुनेवेली के मजिस्ट्रेट ऐश की गोली मारकर हत्या कर दी।

अन्य क्षेत्रों में क्रांतिकारी गतिविधियाँ –

सरकार के निर्मम दमन के बावजूद क्रांतिकारी गतिविधियाँ देश के विभिन्न भागों में संचालित होती रहीं। राजस्थान में क्रांतिकारी आंदोलन का नेतृत्व अर्जुनलाल सेठी, भारत केसरी सिंह तथा राव गोपाल ने किया। गुजरात भी क्रांतिकारियों के प्रभाव से अछूता नहीं रहा। 13 नवंबर 1909 को अहमदाबाद में लार्ड तथा लेडी मिंटो की गाड़ी को बम से उड़ाने का असफल प्रयास किया गया। बिहार में भी बंगाल के प्रभाव से क्रांतिकारी आंदोलन का प्रसार हुआ। संयुक्त प्रांत में क्रांतिकारी आंदोलन का केंद्र बनारस था, जहाँ मराठी और विशेष रूप से बंगाली बड़ी संख्या में रहते थे। यहाँ एक क्रांतिकारी समूह बड़ी तेजी से उभरा। इस समूह के शचींद्रनाथ सान्याल ने 1908 में बनारस में 'अनुशीलन समिति' की स्थापना की, जिसका नाम 1910 में 'युवक समिति' कर दिया गया।

संयुक्त प्रांत में जन–राजनीति के अवसर बहुत कम थे, इसलिए सुंदरलाल जैसे विद्यार्थी शीघ्र ही क्रांतिकारी राष्ट्रवाद की ओर झुक गये। इसके अलावा यह प्रदेश, विशेषकर बनारस अपनी भौगोलिक स्थिति के कारण बंगाल और पंजाब के क्रांतिकारी समूहों का मिलन स्थल बन गया और इस रूप में क्रांतिकारी योजनाओं के लिए महत्त्वपूर्ण हो गया था।

चाँदनी चौक कांड और दिल्ली षड्यंत्र केस –

चूंकि बंगाल क्रांतिकारी गतिविधियों को केंद्र बन चुका था, इसलिए सरकार ने 1911 में कलकत्ता के स्थान पर दिल्ली को राजधानी बनाई। जब लार्ड हार्डिंग भारत के वायसराय बनकर आये, तो उनके सम्मान में 23 दिसंबर 1912 को दिल्ली में एक भव्य जुलूस निकाला गया। इस दौरान वायसराय हाथी पर सवार होकर जा रहे थे। जब जुलूस चाँदनी चौक से गुजर रहा था, तब बंगाल के एक महान् क्रांतिकारी रासबिहारी बोस ने शचीन्द्र नाथ सान्याल के साथ वायसराय पर बम फेंका। इसमें वायसराय का अंगरक्षक घटनास्थल पर ही मारा गया और वायसराय बेहोश हो गये। पुलिस की सक्रियता के बावजूद रासबिहारी बोस पुलिस के हाथ नहीं आये और जापान चले गये। रासबिहारी बोस के इस कार्य से भारतीयों को लगा कि मातृभूमि वीरों से खाली नहीं हुई है।

चाँदनी चौक कांड में पुलिस ने 13 लोगों को गिरफ्तार कर 'दिल्ली षड्यंत्र केस' के तहत मुकदमा चलाया, जिसमें अवध बिहारी, अमीचंद्र, लालमुकुंद, बसंत कुमार विश्वास को मृत्युदंड और चरनदास को आजीवन कालापानी की सजा मिली।

क्रांतिकारी आंदोलन के दौरान ब्रिटिश सरकार ने दमन नीति के साथ–साथ उदारपंथी तत्त्वों को संतुष्ट करने की भी कोशिश की और 1909 के अधिनियम (मार्ले–मिंटो सुधार) द्वारा मुसलमानों को पृथक् निर्वाचन का अधिकार देकर सांप्रदायिकता का जहर बोया। किंतु अंग्रेज– मुस्लिम मित्रता दो वर्ष के बाद ही क्षीण होने लगी। दिसंबर 1911 में चार्ल्स पंचम द्वारा दिल्ली दरबार में बंगाल–विभाजन के फैसले को वापस लेने की घोषणा और प्रथम विश्वयुद्ध में तुर्की के विरुद्ध ब्रिटेन की युद्ध घोषणा के कारण 1916 में कांग्रेस और मुस्लिम लीग में 'लखनऊ समझौता' हो गया।

क्रांतिकारी आन्दोलन की असफलता –

यद्यपि प्रथम महायुद्ध तक भारतीय राजनीति में क्रांतिकारी आन्दोलन और विचारधारा का प्रभाव रहा लेकिन राष्ट्रीय आन्दोलन पर इसका कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ा। धीरे–धीरे इसका अन्त हो गया। सरकार ने कठोरता से इसे दबाया तथा उच्च वर्ग ने इसका खुलेआम विरोध किया। भविष्य में क्रांतिकारी आन्दोलन का एक दूसरा चरण प्रारंभ अवश्य हुआ जो और भी मजबूती से उभर कर आया और भारतीय जनमानस को बेहतर तरीके से आबद्ध करने में सफल रहा। सच कहा जाय तो प्रथम महायुद्ध के उपरान्त गांधीजी के प्रभाव के अन्तर्गत क्रांतिकारी आन्दोलन भारतीय राजनीति से प्रायः कुछ समय के लिए समाप्त हो गया। संक्षेप में क्रांतिकारी आंदोलन की असफलता के निम्नलिखित मुख्य कारण बताये जा सकते है –

1. क्रांतिकारियों का कोई केन्द्रीय संगठन नहीं था जो विभिन्न प्रान्तों में आतंकवादी कार्यों का संगठन तथा समन्वय कर सके। संगठन के अभाव में विभिन्न प्रान्तों के क्रांतिकारी नेताओं में परस्पर सहयोग तथा समन्वय नहीं था ।
2. क्रांतिकारी आन्दोलन लोकप्रिय नहीं बन सका। यह केवल मध्यम वर्ग के शिक्षित नवयुवकों तक सीमित रहा। चूंकि इन युवकों का जनता पर कोई विशेष प्रभाव नहीं था, अतः जनसाधारण का सहयोग तथा समर्थन इसे प्राप्त न हो सका ।
3. भारतीय राजनीति के अधिकांश नेता मध्यमवर्गीय थे। ये नेता हिंसक कार्यों को घृणा की दृष्टि से देखते थे। आमतौर पर वे सांविधानिक साधनों में विश्वास करते थे। धनिक वर्ग लूटमार तथा हिंसात्मक तरीकों से घबड़ाते थे। बहुसंख्यक हिन्दू स्वभावतः हिंसक तरीकों के विरोधी रहे हैं जिन्हें हिंसा और बम की राजनीति में यकीन रखने वाले क्रांतिकारियों से कोई सहानुभूति नहीं थी ।
4. क्रांतिकारी आन्दोलन की विफलता का मुख्य कारण अंग्रेजी सरकार की दमन–नीति थी। सरकार ने 1907 ई० में राजद्रोहात्मक सभाओं पर प्रतिबन्ध लगाने के उद्देश्य से 'सेडीसश मीटिंग्स ऐक्ट' (Seditious Meetings Act) पास किया। 1908 में फौजदारी कानून में संशोधन लाकर नवयुवकों को अत्यधिक कठोर दण्ड दिये गये। उग्रवादियों द्वारा प्रकाशित समाचार पत्रों को बन्द करने के उद्देश्य से 1908 ई० में समाचार–पत्र सम्बन्धी कानून और 1910 में प्रेस सम्बन्धी कानून बनाये गये। 1911 ई० में विद्रोही सभाओं सम्बन्धी कानून पास हुआ जिसके द्वारा अधिकारियों को सभाओं पर पूर्ण नियन्त्रण रखने तथा इस उद्देश्य से अस्त्र–शस्त्र के व्यवहार करने का विस्तृत अधिकार दिया गया। राजनीतिक बन्दियों के साथ सरकार ने निर्ममतापूर्ण व्यवहार करना आरम्भ किया। प्राण–दण्ड, कालापानी, देश–निर्वासन और कठोर शारीरिक यातना आम बात हो गई। सरकार की कठोर नीति ने जनता को आतंकित तथा भयभीत कर दिया।
5. क्रांतिकारी काफी साहसी तथा उत्साही थे। वे हंसते–हंसते फॉसी के तख्ते पर चढ़ने को तैयार रहते थे लेकिन ब्रिटिश सरकार से लड़ने के लिए उनके पास पर्याप्त हथियार नहीं थे। लुके–छिपे रूप से वे हथियार प्राप्त करते थे। सरकार उनकी ओर से सदैव सचेत रहती तथा गुप्तचार विभाग सदा उनके पीछे लगा रहता था। थोड़े से हथियारों से तथा जनता के सहयोग के अभाव में ब्रिटिश सरकार की जड़ खोदना उनके लिए सम्भव नहीं था।

6. सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि महात्मा गॉधी का भारतीय राजनीति में प्रवेश क्रांतिकारी आन्दोलन के लिए बहुत घातक सिद्ध हुआ। गांधीजी ने स्वतंत्रता प्राप्ति के लिए शान्ति और असहयोग अपनाया जो सत्य और अहिंसा जैसे ऊँचे सिद्धांतों पर आधारित था। ये सिद्धांत भारतीय संस्कृति तथा गौरव की देन थे जो भारतीयों के लिए सरलता से ग्राह्य सिद्ध हुए। इसके अतिरिक्त भारतीय दक्षिण अफ्रीका में महात्मा गांधी की सफलता को देख चुके थे। अतः महात्मा गांधी के आन्दोलन के समक्ष क्रान्तिकारी आन्दोलन टिक नहीं सका।

क्रांतिकारियों का योगदान और महत्व –

पहले चरण के क्रांतिकारी आन्दोलनों का यदि हम सिंहावलोकन करें तो यह साफ जाहिर होता है कि इनकी तकनीक और तरीके एक जैसे थे। इनका विश्वास था कि अहिंसा और शान्तिमय ढ़ंग से आजादी नहीं मिल सकती। ये ब्रिटिश सरकार के अफसरों और उनकी सहायता करने वालों के मन में आतंक पैदा करना चाहते थे ताकि वे महसूस करें कि उनका जीवन यहॉ सुरक्षित नहीं है और वे इस दबाव में आकर देश छोडकर चले जाये।

इस आन्दोलन की एक दूसरी महत्वपूर्ण बात यह थी कि ये क्रांतिकारी देश को आजाद तो करवाना चाहते थे मगर स्वतंत्रता के पश्चात कैसा समाज बनाना चाहिए या स्वाधीन भारत का स्वरूप कैसा होगा, इसपर इन्होने कोई ध्यान नही दिया। ये मतवाने देशभक्त थे मगर आजादी के बाद जनजीवन को बदलने और सामाजिक परिवर्तन लाने के बारे में चिन्तित नहीं थे जिसके कारण भारत की जनता को अपने साथ नही ले पाए।

फिर भी इन वीरों की स्वतंत्रता संग्राम में महत्वपूर्ण भूमिका है। भारत के विभिन्न हिस्सों में होने वाले क्रांतिकारी घटनाओं ने भारतीय जनमानस को पूरी तरह से झकझोर दिया। हालॉकि क्रांतिकारियों के छोटे–छोटे गुट उपनिवेशवादी सत्ता के दमन के सामने नहीं टिक सके। व्यापक जनाधार के बिना व्यक्तिगत वीरता साम्राज्यवाद से कब तक लोहा लेती ? फिर भी, इन मुट्ठीभर क्रांतिवीरों ने जिस अदम्य साहस व बलिदान का परिचय दिया, उससे भारतीय नवयुवकों को स्वतंत्रता संघर्ष में भागीदार बनने की प्रेरणा मिली। राष्ट्रवादी क्रांतिकारी अपने संघर्ष की सीमाओं से परिचित थे। बारींद्र घोष ने स्वीकार किया था कि– "इन हिंसात्मक तरीकों यानी अंग्रेजों को मारकर हम देश को स्वतंत्र करवाने की आशा नहीं करते थे, किंतु हम लोगों को दिखाना चाहते थे कि हमें देश के लिए साहस के साथ मरने के लिए तैयार रहना चाहिए।" क्रांतिकारियों की राजनीति जनांदोलन की राजनीति नहीं थी, जिसके कारण वे जनता को राजनीतिक रूप से उद्वेलित करने में असफल रहे। राजनीतिक रूप से चेतनशील अधिकांश लोग भी क्रांतिकारियों के राजनीतिक दृष्टिकोण से सहमत नहीं थे, फिर भी ये क्रांतिकारी अपनी अदम्य वीरता और अपने सर्वस्व समर्पण की भावना के कारण बहुत लोकप्रिय हुए। उन्होंने हमें फिर से अपने मनुजत्व पर गर्व करना सिखाया। इन्होने बलिदान और मौत से जूझने का जो साहस दिखाया और जिस तरह ये देश के खातिर हॅसते–हॅसते फॉसी के तख्ते पर लटके, उससे देश के नौजवानों पर बहुत गहरा प्रभाव पडा।

यहॉ हम स्पष्ट कर देना चाहते है कि ये राष्ट्रवादी क्रांतिकारी 'अराजकतावादी' या 'आतंकवादी' नहीं थे, जैसा कि कुछ विद्वानों ने इन राष्ट्रवादियों के लिए कहा है।

उन्होंने कभी भी देश में अराजकता फैलाने का प्रयास नहीं किया। उनका उद्देश्य समाज में आतंक का राज स्थापित करना नहीं था। वे तो केवल ब्रिटिश शासकों के मन में उनके अत्याचारों के विरुद्ध आतंक पैदा करना चाहते थे। यद्यपि उनके द्वारा अपनाये गये साधन उचित नहीं थे, फिर भी वे लुटेरे और हत्यारे नहीं थे। वे केवल उसी ब्रिटिश अधिकारी की हत्या करते थे, जो भारतीय जनता और देशभक्तों पर जुल्म और अत्याचार करते थे। हत्या की ऐसी घटनाएँ व्यक्तिगत प्रतिशोध के स्थान पर राष्ट्रीय प्रतिशोध का परिणाम थीं। इसलिए इन क्रांतिकारियों की देशभक्ति, आदर्शवादिता और सर्वस्व समर्पण की भावना पर किसी को कोई संदेह नहीं होना चाहिए।

क्रान्तिकारी आन्दोलन : द्वितीय चरण –

क्रान्तिकारी आन्दोलन का प्रथम चरण विभिन्न कारणों से असफल हो गया। प्रथम विश्वयुद्ध के दौरान क्रान्तिकारी आन्दोलन को बुरी तरह कुचल दिया गया। अनेक क्रान्तिकारी जेल में डाल दिये गये और अनेक भूमिगत हो गये। हालॉकि मान्टेग्यू–चेम्सफोर्ड सुधार को लागू करने के लिए सदभावपूर्ण माहौल बनाने के उद्देश्य से ब्रिटिश सरकार ने 1920 के प्रारंभिक महीनों में क्रान्तिकारियों को आम माफी के तहत् जेल से रिहा करने का नाटक किया। इसके कुछ समय बाद ही गॉधीजी के नेतृत्व में कांग्रेस ने अहिंसक असहयोग आन्दोलन प्रारंभ किया और ज्यादातर क्रान्तिकारी तथा नवयुवक इस आन्दोलन में शामिल हो गये। लेकिन चौरी–चौरा की घटना के कारण असहयोग आन्दोलन के अचानक वापस ले लिये जाने की वजह से इन उत्साही युवकों की उम्मीदों पर पानी फिर गया। इस प्रकार जनआन्दोलन की ऑधी में उत्साहित होकर जिन युवकों ने पढ़ाई–लिखाई छोड दी थी, वे अब असहज महसूस करने लगे थे और उन्हे लग रहा था कि उनके साथ विश्वासघात हो गया है। बहुत सारे राष्ट्रीय नेताओं और युवाओं ने केन्द्रीय नेतृत्व की रणनीति पर प्रश्नचिन्ह लगाना प्रारंभ कर दिया तथा अहिंसक आन्दोलन की विचारधारा से उनका विश्वास डगमगाने लगा। रचनात्मक कार्यक्रम से असंतुष्ट अधिकांश नवयुवकों ने यह मान लिया कि सिर्फ हिंसात्मक तरीकों से ही आजादी हासिल की जा सकती है।

इस प्रकार क्रान्तिकारी राष्ट्रवाद की दूसरी लहर प्रारंभ हुई जिसे हम क्रान्तिकारी आन्दोलन का दूसरा चरण कह सकते है। इस द्वितीय चरण में भी क्रान्तिकारी आन्दोलन की दो धारायें विकसित हुई – एक उत्तर भारत में तथा दूसरी बंगाल में। वस्तुतः यह दोनों धाराऍ सामाजिक–आर्थिक बदलाव से उपजी नई सामाजिक–आर्थिक शक्तियों से प्रभावित हुई थी। प्रथम विश्वयुद्ध के बाद संगठित मजदूर आन्दोलन की क्रान्तिकारी क्षमता का अंदाजा भारत के इन क्रान्तिकारियों को था और वे इसका इस्तेमाल सशस्त्र क्रान्ति के लिए करना चाहते थे। दूसरी तरफ विश्वव्यापी 1917 की रूस की बाल्शेविक क्रान्ति और रूस में स्थापित समाजवादी सरकार के स्वरूप ने भारत के युवा क्रान्तिकारियों को बहुत प्रभावित किया। इसमें संदेह नहीं कि प्रथम चरण के क्रांतिकारियों की तरह इनका भी गाँधीवादी विचारधारा में विश्वास नहीं था। वे असहयोग और शांतिपूर्ण प्रतिरोध आंदोलनों के तरीक़ों को स्वतंत्रता प्राप्ति के लिए काफ़ी नहीं समझते थे। कांग्रेस का नेतृत्व अब उन्हें आकर्षित नहीं कर सकता था। पहली बार इन क्रांतिकारियों ने कांग्रेस का विकल्प ढूँढ़ने के उद्देश्य से प्रथम विश्वयुद्ध के बाद एक नए समाज की रचना का कार्यक्रम दिया जो समाजवाद पर आधारित था।

उत्तर भारत में क्रान्तिकारी आन्दोलन –

दूसरे चरण में क्रान्तिकारी आन्दोलन का स्वरूप कुछ भिन्न था और इसमें एच0आर0ए0, नौजवान सभा और एच0एस0आर0ए0 ने महत्वपूर्ण भमिका निभाई। सबसे पहले भारत के क्रान्तिकारी रामप्रसाद बिस्मिल, योगेश चटर्जी और शचीन्द्र नाथ सान्याल के नेतृत्व में संगठित होना शुरू हुये। शचीन्द्र नाथ सान्याल की पुस्तक 'बन्दी जीवन' तो क्रान्तिकारी आन्दोलन के लिए पाठ्य–पुस्तक ही बन गई। 'बनारस षड्यंत्र केस' उत्तर भारत का प्रथम क्रांतिकारी प्रयास था जिसमें क्रांतिकारी शचीन्द्रनाथ सान्याल 26 जून 1915 को गिरफ्तार कर लिए गए थे और 14 फरवरी 1916 को आजीवन काला पानी की सजा के साथ ही उनकी सारी सम्पत्ति जब्त कर ली गई थी। कुछ समय उन्हें बनारस के कारागार में रखने के बाद अगस्त में अंडमान भेज दिया गया जहां से फरवरी 1920 में सरकारी घोषणा से रिहा हुए। उस समय उनकी उम्र 27 वर्ष की थी। काला पानी से लौटकर ही उन्होंने 'बंदी जीवन' की रचना की। उनके वे दिन सचमुच बहुत कठिन थे। इस पुस्तक का पहला भाग उन्होंने बंगला भाषा में लिखा और छपवाया। फिर स्वयं ही उसका हिंदी अनुवाद किया और बाद का हिस्सा तो हिंदी में ही लिपिबद्ध किया। इस पुस्तक की खास बात यह थी कि वे लिखने चाहते थे अपने बंदी जीवन का अनुभव लेकिन कलम उठाई तो क्रांतिकारी संग्राम के इतिहास, उसकी गुत्थियों और भविष्य की योजनाओं का लेखा–जोखा तैयार करने लग गए। पुस्तक छपते ही लोकप्रिय हो गई और जल्दी ही उसे क्रांतिकारियों की 'गीता' का दर्जा मिल गया। कालान्तर में इसका अनेक भारतीय भाषाओं में अनुवाद किया गया।

हिन्दुस्तान रिपब्लिकन एसोसिएशन का गठन (HRA) –

असहयोग आन्दोलन की समाप्ति से उपजे निराशा में असन्तुष्ट क्रान्तिकारी नवयुवकों ने सितम्बर 1923 ई0 में हुये दिल्ली के विशेष कांग्रेस अधिवेशन में यह निर्णय लिया कि वे भी अपनी पार्टी का नाम व संविधान आदि निश्चित कर राजनीति में दखल देना शुरू करेंगे। लाला हरदयाल, जो उन दिनों विदेश में रहकर हिन्दुस्तान को स्वतंत्र कराने की रणनीति बनाने में जुटे थे, रामप्रसाद बिस्मिल के सम्पर्क में थे। लाला हरदयाल ने ही पत्र लिखकर रामप्रसाद बिस्मिल को शचीन्द्र नाथ सान्याल से मिलकर एक नयी पार्टी का संविधान तैयार करने की सलाह दी थी। उनकी सलाह मानकर रामप्रसाद बिस्मिल इलाहाबाद गये और शचीन्द्र नाथ सान्याल के घर पर पार्टी का संविधान तैयार किया। नवगठित पार्टी का नाम 'हिन्दुस्तान रिपब्लिकन एसोसिएशन, संक्षेप में H.R.A रखा गया व इसका संविधान पीले रंग के पर्चे पर टाइप करके सदस्यों को भेजा गया। अक्टूबर 1924 ई0 में इन क्रान्तिकारी युवकों का कानपुर में एक सम्मेलन हुआ जिसमें शचीन्द्र नाथ सान्याल, योगेश चन्द्र चटर्जी, रामप्रसाद बिस्मिल जैसे अनेक क्रान्तिकारी युवा शामिल हुये। इसी सम्मेलन में 'हिन्दुस्तान रिपब्लिकन एसोसिएशन' अर्थात H.R.A के गठन की विधिवत घोषणा हुई और पार्टी का नेतृत्व राम प्रसाद बिस्मिल को सौंपकर शचीन्द्र सान्याल और योगेश चटर्जी बंगाल वापस लौट गये। हिन्दुस्तान रिपब्लिकन एसोसिएशन की स्थापना का मुख्य उद्देश्य औपनिवेशिक सत्ता को उखाड़ फेंकना और एक संघीय गणतंत्र 'संयुक्त राज्य भारत' (United States of India) की स्थापना करना था।

एच0आर0ए0 की ओर से 1 जनवरी 1925 ई0 को 'क्रान्तिकारी' के नाम से चार पृष्ठ का एक इश्तहार छापा गया और इसे 31 जनवरी 1925 से पूर्व हिन्दुस्तान के सभी प्रमुख स्थानों पर वितरित किया गया। यह इस दल का खुला घोषणापत्र था जो जानबूझ कर अंग्रेजी में 'The Revolutionary' के नाम से छापा गया था ताकि अंग्रेज भी इसका आशय समझ सकें। इसमें एच0आर0ए0 की विचारधारा का खुलासा करते हुये साफ शब्दों में घोषित किया गया था कि क्रान्तिकारी इस देश की शासन व्यवस्था में किस प्रकार का बदलाव करना चाहते है और इसके लिए वे क्या–क्या कर सकते है ? घोषणापत्र में कहा गया था कि हिन्दुस्तान के सभी नौजवान किसी के बहकावे में बिल्कुल भी न आये। इसके अतिरिक्त सभी नवयुवकों से इस गुप्त क्रान्तिकारी पार्टी में शामिल होकर अंग्रेजों से दो–दो हाथ करने का खुला आह्वान भी किया गया था। कुल मिलाकर इस घोषणापत्र में क्रान्तिकारियों के वैचारिक चिन्तन को भली–भॉति समझा जा सकता है।

काकोरी ट्रेन एक्शन, 1925 –

भारतीय स्वाधीनता संघर्ष के इतिहास की सबसे महत्वपूर्ण घटनाओं में से एक है – काकोरी ट्रेन एक्शन। यह भारत के वीर क्रांतिकारियों द्वारा अंग्रेजों को सबक सिखाने से जुड़ी एक घटना है। इस घटना में क्रांतिकारियों ने हथियारों की मदद से सरकारी खजाने से भरी रेलगाड़ी लूट ली थी। इस घटना में क्रांतिकारी संगठन हिन्दुस्तान रिपब्लिकन एसोसिएशन के 10 सदस्य शामिल थे।

भारतीय स्वतंत्रता के अमृत महोत्सव काल में उत्तर प्रदेश सरकार ने भारत के स्वाधीनता संग्राम के इतिहास के इस महत्वपूर्ण अध्याय 'काकोरी कांड' का नाम बदलकर 'काकोरी ट्रेन एक्शन' कर दिया है। इसका नाम इसलिये बदल दिया गया क्योंकि 'कांड' शब्द भारत के स्वतंत्रता संग्राम के तहत इस घटना के अपमान की भावना को दर्शाता है।

हिन्दुस्तान रिपब्लिकन ऐसोसिएशन की ओर से प्रकाशित घोषणापत्र और पार्टी के संविधान को लेकर बंगाल पहुँचे दल के दो नेता– शचीन्द्रनाथ सान्याल बाँकुरा में पर्चे बाँटते हुए गिरफ़्तार हो गये और योगेश चन्द्र चटर्जी हावड़ा स्टेशन पर ट्रेन से उतरते ही पकड़ लिये गये। उन दोनों को अलग–अलग जेलों में बन्द कर दिया गया। इन दोनों नेताओं के गिरफ़्तार हो जाने से रामप्रसाद बिस्मिल के कन्धों पर पूरी पार्टी का उत्तरदायित्व आ गया। पार्टी के कार्य हेतु धन की आवश्यकता तो पहले से ही थी किन्तु अब और बढ़ गयी थी। संधर्ष छेड़ने से पहले बडे पैमाने पर प्रचार कार्य करने, नौजवानों को अपने दल में मिलाने व उन्हे प्रशिक्षित करने तथा हथियार जुटाने के लिए धन या पैसे की जरूरत थी। कहीं से भी धन प्राप्त होता न देख एच0आर0ए0 के सदस्यों द्वारा 7 मार्च 1925 को बिचपुरी तथा 24 मई 1925 को द्वारकापुर में दो डकैतियाँ डालीं गयीं परन्तु उनमें कुछ विषेश धन हाथ न आया। उल्टे इन दोनों डकैतियों में एक–एक व्यक्ति भी मौके पर मारा गया। आखिरकार उन्होंने यह निश्चय किया कि अब केवल सरकारी खजाना ही लूटेंगे। अन्ततोगत्वा 8 अगस्त 1925 को शाहजहाँपुर में बिस्मिल के घर पर हुई एक आपातकालीन बैठक में अंग्रेजी सरकार का खजाना लूटने की योजना बनी।

इस योजना के अनुसार 9 अगस्त 1925 को क्रान्तिकारियों ने लखनऊ जिले के काकोरी रेलवे स्टेशन के पास 8 डाउन सहारनपुर–लखनऊ पैसेन्जर ट्रेन को चेन खिंचकर रोक लिया और इसमें रखा हुआ सरकारी खजाना लूटकर फरार हो गये। यह घटना भारतीय इतिहास में 'काकोरी ट्रेन एक्शन' के नाम से विख्यात है। लक्ष्य गार्ड केबिन था जो विभिन्न रेलवे स्टेशनों से एकत्र किये गये पैसे को लखनऊ में जमा करने के लिए ले जा रहा था। इस गतिविधि में मुख्य भूमिका क्रांतिकारी राम प्रसाद बिस्मिल, अशफाक उल्ला खान, मुरारी शर्मा, बनवारी लाल, शचीन्द्रनाथ बख्शी, केशव चक्रवर्ती, मन्मथलाल गुप्त, मुकुन्दी लाल, चंद्रशेखर आजाद और राजेन्द्र लाहिड़ी की थी। इन क्रान्तिकारियों के पास पिस्तौलों के अलावा जर्मनी के बने चार माउजर भी थे जिसकी मारक क्षमता अधिक होती थी। लखनऊ से 16 कि0मी0 पहले काकोरी रेलवे स्टेशन पर रूक कर ट्रेन जैसे ही आगे बढ़ी, क्रान्तिकारियों ने चेन खिंचकर उसे रोक लिया और रक्षक के डिब्बे से सरकारी खजाने का बक्सा नीचे गिरा दिया। पहले तो उसे खोलने का प्रयास किया गया लेकिन जब वह नहीं खुला तो अशफाक उल्ला खॉ ने अपना माउजर मन्मथनाथ गुप्त को पकडा दिया और हथौड़ा लेकर बक्सा तोडने में जुट गये। इसी बीच मन्मथनाथ गुप्त ने उत्सुकतावश व जल्दबाजी में माउजर का ट्रैगर दबा दिया जिससे छूटी गोली अहमद अली नामक यात्री को लगी और वही वहीं पर ढ़ेर हो गया। शीध्रतावश चॉदी के सिक्कों व नोटों से भरे चमडे के थैले को चादरों में बॉधकर वहॉ से भागने के चक्कर में एक चादर वही छूट गई। इस ट्रेन डकैती में एक अनुमान के अनुसार करीब चार हजार रूपये लूटे गये थे। इस प्रकार अगले दिन यह समाचार समाचारपत्रों के माध्यम से पूरे देश में फैल गया।

सरकार इस घटना पर बहुत कुपित हुई और खुफिया प्रमुख खान बहादुर तसद्दुक हुसैन ने पूरे मामले की तहकीकात की। घटनास्थल से प्राप्त चादर की निशानदेही पर इस घटना में शामिल लोगों की तलाश पूरी हुई। 26 सितम्बर 1925 को रामप्रसाद बिस्मिल गिरफ्तार किये गये। इसके अतिरिक्त भारी संख्या में युवकों को गिरफ्तार किया गया और काकोरी काण्ड में शामिल सभी क्रांतिकारियों पर सरकारी खजाने को लूटने की कोशिश और यात्रियों को जान से मारने की साजिश करने के तहत मुकदमा चलाया गया।

काकोरी–काण्ड में केवल 10 लोग ही वास्तविक रूप से शामिल हुए थे, पुलिस की ओर से उन सभी को इस प्रकरण में नामजद किया गया। इन 10 लोगों में से पॉच– चन्द्रशेखर आजाद, मुरारी शर्मा, केशव चक्रवर्ती (छद्मनाम), अशफाक उल्ला खॉ व शचीन्द्र नाथ बख्शी को छोड़कर, जो उस समय तक पुलिस के हाथ नहीं आये, शेष सभी व्यक्तियों पर सरकार बनाम राम प्रसाद बिस्मिल व अन्य के नाम से ऐतिहासिक प्रकरण चला। फरार अभियुक्तों के अतिरिक्त जिन–जिन क्रान्तिकारियों को एच0आर0ए0 का सक्रिय कार्यकर्ता होने के सन्देह में गिरफ्तार किया गया था, उनमें से 14 को सबूत न मिलने के कारण रिहा कर दिया गया। विशेष न्यायाधीश ऐनुद्दीन ने प्रत्येक क्रान्तिकारी की छवि खराब करने में कोई कसर बाकी नहीं रखी और प्रकरण को सेशन न्यायालय में भेजने से पहले ही इस बात के पक्के सबूत व गवाह एकत्र कर लिये थे ताकि बाद में यदि अभियुक्तों की तरफ से कोई याचिका भी की जाये तो इनमें से एक भी बिना सजा के छूटने न पाये। 21 मई 1926 को यह मुकदमा ए0 हैमिल्टन के सेशन कोर्ट में चला गया। काकोरी काण्ड का अंतिम फैसला जुलाई 1927 में सुनाया गया

जहॉ सभी आरोपियों को सजा सुनाई गई। लगभग 18 महीने तक चले इस मुकदमें में अन्ततः दस आरोपियों में से अशफाकउल्ला खॉ, रामप्रसाद बिस्मिल, रोशन सिंह और राजेन्द्र लाहिड़ी को फॉसी दे दी गई। चार को आजीवन कारावास की सजा देकर अंडमान भेज दिया गया और 17 अन्य लोगों को लम्बी सजाएँ सुनाई गई। चन्द्रशेखर आजाद फरार हो गये और अन्त तक पुलिस की पकड में नही आये।

अवध चीफ कोर्ट का फैसला आते ही यह खबर आग की तरह समूचे हिन्दुस्तान में फैल गयी। ठाकुर मनजीत सिंह राठौर ने सेण्ट्रल लेजिस्लेटिव काउंसिल में काकोरी काण्ड के चारो मृत्यु–दण्ड प्राप्त कैदियों की सजायें कम करके आजीवन कारावास (उम्र–कैद) में बदलने का प्रस्ताव पेश किया। काउंसिल के कई सदस्यों ने सर विलियम मोरिस को, जो उस समय संयुक्त प्रान्त के गवर्नर हुआ करते थे, इस आशय का एक प्रार्थना–पत्र भी दिया कि इन चारो की सजाये–मौत माफ कर दी जाये परन्तु उन्होंने उस प्रार्थना को अस्वीकार कर दिया। सेण्ट्रल काउंसिल के 78 सदस्यों ने तत्कालीन वायसराय व गवर्नर जनरल एडवर्ड फ्रेडरिक लिण्डले वुड को शिमला जाकर हस्ताक्षर युक्त मेमोरियल दिया जिस पर प्रमुख रूप से पंड़ित मदन मोहन मालवीय, मोहम्मद अली जिन्ना, एन0 सी0 केलकर, लाला लाजपत राय, गोविन्द वल्लभ पन्त आदि ने अपने हस्ताक्षर किये थे, किन्तु वायसराय पर उसका भी कोई असर न हुआ।

इस मामले में चीफ कोर्ट ऑफ अवध में मुकदमे के लम्बे नाटक के बाद 19 दिसंबर, 1927 को रामप्रसाद बिस्मिल को गोरखपुर जेल में तो ठाकुर रौशन सिंह को इलाहाबाद के नैनी जेल में और अशफाक उल्लाह खान को फैजाबाद जेल में फॉसी पर चढ़ा दिया गया। वहीं, राजेन्द्रनाथ लाहिड़ी को दो दिन पहले 17 दिसंबर को ही गोंडा जेल में फांसी दे दी गई थी। फॉसी पर लटकने से पहले रामप्रसाद बिस्मिल ने भारत माता की जय और वन्दे मातरम के नारे लगाये। उसी वक्त रामप्रसाद बिस्मिल ने कहा – ''मालिक तेरी रजा रहे और तू ही तू रहे, बाकी न मैं रहूँ और न मेरी रजा रहे, जब तक की तन में जॉ और रगों में लहू रहे, तेरी ही जिक्रेयार तेरी जूस्तजू रहे।'' फॉसी पर लटकने से पहले अशफाकुल्ला खॉ ने भी एक शेर पढा कि – ''तंग आकर हम उनके जुल्म से बेदाद से, चल दिये सूए अदम जिन्दाने फैजाबाद से।'' इस पूरे कारनामें को भगत सिंह ने बाद में पंजाबी पत्रिका कीर्ति में कई खण्डों में लिखा।

उत्तर भारत के क्रांतिकारियों के लिए 'काकोरी ट्रेन एक्शन' एक बहुत बड़ा आधात जरूर था लेकिन ऐसा नही कि यह आधात क्रांतिकारी आन्दोलन के लिए मौत साबित हो। पूरा देश अपने वीर सपूतों की फॉसी से तिलमिला उठा। इस कार्यवाही की याद को संजोये रखने के लिए भगत सिंह ने काकोरी स्मृति दिवस मनाने की परम्परा आरंभ की। इसके विपरित क्रांतिकारी संघर्ष के लिए और भी युवा तैयार हो गये। उत्तर प्रदेश में विजय कुमार सिन्हा, शिव वर्मा और जयदेव कपूर और पंजाब में भगत सिंह, भगवती चरण बोहरा और सुखदेव ने चन्द्रशेखर आजाद के साथ मिलकर फिर से संगठन को स्थापित और पुर्नगठित करने का प्रयास प्रारंभ कर दिया।

नौजवान सभा का गठन –

1926 में भगतसिंह, छबील दास और यशपाल ने मिलकर पंजाब में नौजवान सभा की स्थापना की। भगत सिंह नौजवान सभा के सचिव थे। नौजवान सभा की स्थापना के राजनैतिक उद्देश्य इस प्रकार थे –

1. सम्पूर्ण भारत में स्वतंत्र मज़दूर और किसानों के राज्य की स्थापना।
2. संगठित भारत राष्ट्र बनाने के लिए देश के युवकों में देशभक्ति की भावना उत्तेजित करना।
3. ऐसे आर्थिक, औद्योगिक और सामाजिक आंदोलनों के साथ सहानुभूति प्रकट करना जो सांप्रदायिकता से दूर रहकर देश को उनके उद्देश्य अर्थात् सम्पूर्ण आज़ादी और किसान और मज़दूर राज्य लाने में सहायता करें।
4. मज़दूरों और किसानों को संगठित करना।

नौजवान सभा ने अपना उद्देश्य प्राप्त करने और क्रांतिकारी विचारों का प्रचार करने के लिए कई प्रकार की कार्यवाईयाँ शुरू कीं। इनके मुख्य कार्यकर्त्ताओं में केदारनाथ सहगल, सार्दूल सिंह कवीसर, महता आनंदकिशोर, सोढी पिंडीदास इत्यादि मषहूर आंदोलनकारी थे। इस सभा की बैठकों में ड0 भूपेंद्रनाथ दत्त, श्रीपाद अमृत डांगे, फ़िलिप्स स्प्रैट (जो ब्रिटिश कम्युनिस्ट पार्टी के सदस्य थे) और जवाहरलाल नेहरू जैसे महानुभावों ने भाषण दिए। नौजवान सभा के तत्वाधान में भगत सिंह और सुखदेव ने खुले तौर पर काम करने के लिए 'लाहौर छात्र संघ' का गठन किया। अप्रैल 1928 को अमृतसर में किरती किसान पार्टी के सहयोग से नौजवान सभा ने पंजाब के हर गाँव में शाखा खोलने का फ़ैसला किया। इस समय सारे संसार में मंदी थी और इसका प्रभाव पंजाब पर भी पड़ा। शिक्षित युवकों में बेकारी बहुत बढ़ गई, जिसके फलस्वरूप इनमें असंतोष की लहर फैल गई और वे सभा के प्रचार से प्रभावित हुए। गाँव में भी लोग ज़मींदार और अमीर किसानों के हक के लिए बनी यूनियनिस्ट पार्टी की नीतियों से तंग आ चुके थे और वे किरती किसान पार्टी से प्रभावित होने लगे। नौजवान सभा, किरती किसान और कांग्रेस के गठजोड़ से सरकार घबरा गई और उन्होंने इस आंदोलन को कुंचल डालने का निश्चय कर लिया।

फिर भी नौजवान सभा ने अपनी गतिविधियाँ जारी रखीं। इसने भारत के युवकों को ग़दर के वीरों तथा आयरलैंड, टर्की, जापान, चीन आदि के स्वतंत्रता संग्राम का अनुकरण करने का आह्वान किया और साम्यवादी तथा बोल्शेविक आंदोलनों के दौर में पहुँचा दिया। नौजवान सभा ने रूस के साथ 'मित्रता सप्ताह' तथा 'काकोरी दिवस' भी मनाया। जब साइमन कमीशन 20 अक्टूबर, 1928 को लाहौर रेलवे स्टेशन पर पहुँचा तो इन्होंने साइमन कमीशन का बहिष्कार करने के लिए एक बहुत बड़े जुलूस का संगठन किया जिसमें लाला लाजपतराय पर लाठियों की बौछार की गई। कहा जाता है कि इसी कारण एक महीने के बाद उनका देहान्त हो गया। लाला जी की मृत्यु का बदला लेने के लिए इस सभा के क्रान्तिकारी सदस्यों ने योजना भी बनाई।

बस्तुतः नौजवान सभा का उद्देश्य लोगों में क्रांतिकारी चेतना लाना और संवैधानिक संघर्ष के विरुद्ध लोगों में प्रचार करना था। ये मज़दूर और किसानों को साम्राज्यवाद के विरुद्ध संघर्ष में लाना चाहते थे। बढ़ती हुई सामाजिक चेतना के कारण सभा के नेता हमेशा साम्राज्यवाद के विरुद्ध संघर्ष को, पूँजीवाद को समाप्त करने के संघर्ष के साथ जोड़ते थे। इन्होंने पंजाब और पश्चिमी उत्तर प्रदेश के साम्यवादियों के साथ भी संबंध स्थापित किया। अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए इन्होंने देश के अन्य भागों के क्रान्तिकारियों की गतिविधियों में सामंजस्य लाने का प्रयत्न किया।

हिन्दुस्तान सोशलिस्ट रिपब्लिकन एसोसिएशन का गठन (HSRA) –

नौजवान सभा के क्रान्तिकारी युवा सदस्यों ने 9 और 10 सितम्बर 1928 ई0 को दिल्ली के फिरोजशाह कोटला में एक बैठक का आयोजन किया जिसमें हिन्दुस्तान रिपब्लिकन एसोसिएशन को फिर से संगठित करने पर लम्बी चर्चा हुई। इस सम्मेलन में युवा क्रान्तिकारियों ने सामूहिक नेतृत्व को स्वीकार करते हुये समाजवाद की स्थापना के लिए अपना लक्ष्य निर्धारित किया और संगठन का नाम बदलकर 'हिन्दुस्तान सोशलिस्ट रिपब्लिकन एसोसिएशन' (HSRA) रखा गया।

अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए इन्होंने अपने कार्यकर्त्ताओं को बम बनाने की शिक्षा के लिए बंगाल के कार्यकर्ताओं को निमंत्रण देने का फ़ैसला किया और पैसा इकट्ठा करने और देश में सशस्त्र क्रांति लाने के लिए बैंक, डाकखाने और सरकारी ख़ज़ानों पर धावा बोलने का भी निश्चय किया। पहले चरण के क्रान्तिकारियों से इनका कार्यक्रम भिन्न था क्योंकि ये छोटे सरकारी अफ़सरों, पुलिस के मुखबिरों इत्यादि व्यक्तियों पर हमला करने के पक्ष में नहीं थे क्योंकि इनके विचार में ऐसे कार्य देश में क्रांति लाने के मार्ग में रुकावट खड़ी कर सकते थे। इसके अलावा इन क्रांतिकारियों ने हिंदुस्तान सोशलिस्ट रिपब्लिकन फ़ौज बनाने का फ़ैसला किया और इसमें गाँव और शहरों के युवकों को भर्ती करके इन्हें सैनिक शिक्षा देने का निश्चय किया।

सैण्डर्स हत्याकाण्ड, 1928 –

'हिन्दुस्तान सोशलिस्ट रिपब्लिकन एसोसिएशन के क्रान्तिकारी युवा व्यक्तिगत हिंसा और हत्या की राजनीति छोड़कर धीरे–धीरे संगठित क्रान्तिकारी कार्यवाहियों में विश्वास करने लगे थे, पर 30 अक्टूबर 1928 को लाहौर में साइमन कमीशन के खिलाफ प्रदर्शन के दौरान लाला लाजपत राय पर बर्बर लाठी चार्ज और उसके बाद उनकी मौत ने युवा क्रान्तिकारियों को एक बार फिर से व्यक्तिगत हिंसा और हत्या की राह पकडने को मजबूर कर दिया। युवा क्रान्तिकारियों ने शेर–ए–पंजाब के नाम से मशहूर इस महान नेता की हत्या को अपने पौरूष के लिए एक चुनौती समझा और उसे स्वीकार करते हुये 17 दिसम्बर 1928 ई0 को भगत सिंह, चन्द्रशेखर आजाद और शिवराम राजगुरू ने लाहौर में लाला लाजपत राय पर लाठी बरसाने वालों में से एक पुलिस अधिकारी सैण्डर्स की हत्या कर दी। हालॉकि उनका प्रारंभिक लक्ष्य पुलिस अधीक्षक जेम्स स्कॉट था जिसने अपने सिपाहियों को प्रदर्शनकारियों पर लाठी चार्ज करने का निर्देश दिया था। लेकिन निशाना चूक जाने के कारण गोली सहायक पुलिस अधीक्षक सैण्डर्स को लगी और वह मारा गया। इतिहासकार चमन लाल के अनुसार – सैण्डर्स जब लाहौर के पुलिस हेडक्वार्टर से निकल रहे थे, तभी भगत सिंह और राजगुरू ने उन पर गोली चला दी। सैण्डर्स पर सबसे पहले गोली राजगुरू ने चलाई थी और उसके बाद भगत सिंह ने भी अपनी 32 एम0 एम0 की कोल्ट आटोमेटिक गन से गोली चलाई। हत्या के बाद एच0एस0आर0ए0 के पोस्टर लगाये गये जिनपर लिखा था – ''लाखों लोगों के चहेते नेता की एक सिपाही द्वारा हत्या पूरे देश का अपमान था। इसका बदला लेना भारतीय नवयुवकों का कर्तव्य था। सैण्डर्स की हत्या का हमें दुख है, पर वह उस अमानवीय और अन्यायी व्यवस्था का एक अंग था, जिसे नष्ट करने के लिए हम संघर्ष कर रहे है।'' सैण्डर्स की हत्या के बाद क्रान्तिकारी राजगुरू, चन्द्रशेखर आजाद और भगत सिंह वीरांगना दुर्गा भाभी के साथ लाहौर से कलकत्ता पहुँच गये।

इसके बाद हिन्दुस्तान सोशलिस्ट रिपब्लिकन एसोसिशन के नेतृत्व में जनता को यह समझाने का निर्णय लिया गया कि उनका उद्देश्य अब बदल गया है। वह जनक्रान्ति में विश्वास रखते है। पहली बार क्रांतिकारियों ने स्पष्ट तौर पर आज़ादी के बाद समाजवादी समाज स्थापित करने की घोषणा की और गाँधीवादी विचारधारा का विकल्प लोगों के सामने रखा। मगर इस सभा के अधितकर नेता और कार्यकर्त्ता शहरों के मध्य वर्ग और निचले मध्य वर्ग से थे। इसलिए लेनिन के दर्शाए हुए मार्ग से हटकर इन्होंने संघर्ष के लिए जनता को संगठित करने की बजाय अपने वीरतापूर्ण कार्यों और वैयक्तिक हिंसा और बम–पिस्तौल की नीति के द्वारा लोगों तक अपना संदेश पहुँचाने का निश्चय किया। चाहे ये लोग सिद्धांत रूप में हिंसा के विरुद्ध थे मगर क्रांति लाने के लिए बम और पिस्तौल की नीति को एक आवश्यक तरीक़ा समझते थे। इनके लिए बम और पिस्तौल की नीति "क्रांति का एक आवश्यक और अपरिहार्य चरण था।" इसके घोषणापत्र में लिखा था कि – "हिंसा और आतंकवाद पूर्ण क्रांति नहीं है और क्रांति हिंसा और आतंकवाद के बिना पूर्ण नहीं होती। बम और पिस्तौल शोषणकर्त्ताओं के दिल में डर बैठा देता है, यह शोषित जनता के मन में बदला लेने और मुक्ति की आशाएँ जगा देता है, और यह डाँवाडोल मनःस्थिति वालों में साहस और आत्मविश्वास भर देता है। यह शासक वर्ग की श्रेष्ठता के जादू को तोड़ डालता है और दुनिया की नज़रों में आम जनता की हैसियत को ऊँचा उठा देता है, क्योंकि यही राष्ट्र को स्वतंत्र कराने की लालसा का सबसे अधिक विश्वासोत्पादक प्रमाण है।''

एच0एस0आर0ए0 के क्रान्तिकारियों का नारा था कि– "हम दया की भीख नहीं माँगते हैं। हमारी लड़ाई आख़िरी फ़ैसला होने तक की लड़ाई है – यह फ़ैसला है जीत या मौत।''

असेम्बली बम काण्ड, 1929 –

अंग्रेजों की जन–विरोधी नीतियों के खिलाफ भारतीयों का आक्रोश पुन एक बार फूट पडा जिसे भारतीय स्वाधीनता संघर्ष के इतिहास में असेम्बली बम काण्ड के नाम से जाना जाता है। ब्रिटिश सरकार इस समय जनता विशेषकर मजदूरों के मौलिक अधिकारों पर प्रतिबन्ध लगाने के मकसद से दो विधेयक – पब्लिक सेफ्टी बिल (Public Safty Bill) और ट्रेड डिस्प्यूट्स बिल (Trade Dispute Bill) पास कराने की तैयारी में थी। क्रान्तिकारी पब्लिक सेफ्टी बिल और ट्रेड डिस्प्यूट्स बिल का विरोध कर रहे थे। ट्रेड डिस्प्यूट्स बिल पहले ही पास किया जा चुका था जिसमें मजदूरों द्वारा की जाने वाली हर तरह की हड़ताल पर पाबन्दी लगा दी गई थी। पब्लिक सेफ्टी बिल में सरकार को संदिग्धों पर बिना मुकदमा चलाए हिरासत में रखने का अधिकार दिया जाना था। एक प्रकार से दोनो बिल का मकसद अंग्रेजी सरकार के खिलाफ उठ रही आवाजों को दबाना था।

इसके प्रति विरोध जताने के लिए एच0एस0आर0ए0 द्वारा भगत सिंह और बटुकेश्वर दत्त को केन्द्रीय व्यवस्थापिका सभा में बम फेंकने का काम सौंपा गया। केन्द्रीय व्यवस्थापिका सभा के बहुत से सदस्य इस बिल के खिलाफ थे अतः गवर्नर ने इसे अपने विशेषाधिकार से पास कराने का निर्णय लिया। 8 अप्रैल 1929 ई0 को जब गवर्नर–जनरल ने दिल्ली के केंद्रीय व्यवस्थापिका सभा की नामंजूरी के बावजूद लोक–सुरक्षा विधेयक और व्यापारी विवाद अधिनियम पेश किया तो इन क्रांतिकारियों

को संसदीय मार्ग और संघर्ष की संवैधानिक विधियों की व्यर्थता को जनता के सामने रखने का अवसर मिला। सदन का दर्शक दीर्घा खचाखच भरा हुआ था। हॉल में उपस्थित महत्वपूर्ण लोगों में मोतीलाल नेहरू, सरदार बल्लभ भाई पटेल, मदन मोहन मालवीय, मुहम्मद अली जिन्ना, सर जॉन साइमन आदि थे। उसी समय भगत सिंह और बटुकेश्वर दत्त ने विधान सभा के केंद्रीय हाल में बम फेंककर इन बिलों के ख़िलाफ़ अपने रोष और विरोध का परिचय दिया। बम फेंकते ही सदन में एक जोरदार धमाका हुआ और पूरा हाल धुएँ और अंधकार से भर गया। बम फेंकने के बाद कुछ पर्चे फेंकते हुए क्रान्तिकारियों ने 'इंकलाब–ज़िंदाबाद, साम्राज्यवाद मुर्दाबाद, दुनिया भर के मज़दूरों एक हो जाओ' का नारा लगाया। हालॉकि इंकलाब जिन्दाबाद की रचना मुहम्मद इकबाल ने किया था लेकिन पहली बार नारे के रूप में इसका प्रयोग भगत सिंह ने ही किया। वास्तव में यह एक साधारण बम था और बम फेंकने का उद्देश्य किसी की हत्या करना नही था। सदन में फेंके गये गुलाबी रंग के पर्चे पर लिखा था – ''बहरे कानों को सुनाने के लिए धमाकों की जरूरत पडती है'' तथा ''बहरे कानों तक अपनी आवाज पहुॅचाने के लिए।'' इस घटना पर टिप्पणी करते हुए जवाहर लाल नेहरू ने लिखा था कि – "यह बम देशवासियों का ध्यान आकर्षित करने के लिए एक बहुत बड़ा धमाका था।''

बम फेंकने के बाद दोनों क्रान्तिकारी वहीं खडे रहे और स्वेच्छा से उन्होने अपनी गिरफ्तारियॉ दी। यहॉ मुख्य बात यह है कि बम भगत सिंह ने अकेले फेंके थे। इस प्रकार इस घटना को लेकर इन क्रान्तिकारियों के खिलाफ मुकदमा मई 1929 में शुरू हुआ। मुकदमें की सुनवाई के दौरान वकील अरूणा आसफ अली ने बटुकेश्वर दत्त का प्रतिनिधित्व किया जबकि भगत सिंह ने मुकदमें के दौरान अपना बचाव खुद किया। इस सिलसिले में भगत सिंह ने दिल्ली के तत्कालीन सेशन जज लियोनार्ड मिडिल्टन की अदालत में 6 जून, 1929 को दिये बयान में कहा था – हमारा उद्देश्य किसी की जान लेना नहीं बल्कि उस शासन व्यवस्था का प्रतिवाद करना था, जिसके हर एक काम से उसकी अयोग्यता ही नहीं वरन अपकार करने की उसकी असीम क्षमता भी प्रकट होती है। वह केवल संसार के सामने भारत की लज्जाजनक तथा असहाय अवस्था का ढिंढोरा पीटने के लिए ही कायम है और एक गैरजिम्मेदार तथा निरंकुश शासन का प्रतीक है। इसी बयान में उनका प्रसिद्ध वक्तव्य था कि – ''पिस्तौल और बम इंकलाब नही लाते बल्कि इंकलाब की तलवार विचारों की सान पर तेज होती है और यही चीज थी जिसे हम स्पष्ट करना चाहते थे। असेम्बली बम काण्ड में इन दोनों क्रान्तिकारियों को दोषी पाया गया और 12 जून 1929 को इन्हे आजीवन कारावास की सजा सुनाई गई।

लाहौर षडयंत्र केस, 1929 –

भगत सिंह और बटुकेश्वर दत्त की गिरफ्तारी के कारण 'हिन्दुस्तान सोशलिस्ट रिपब्लिकन एसोसिएशन' के अनेक क्रान्तिकारी भी गिरफ्तार किये गये। बाद में भगत सिंह, सुखदेव, राजगुरू और अन्य क्रान्तिकारियों पर अनेक षडयंत्रों में शामिल होने के आरोप में संयुक्त रूप से मुकदमा चलाया गया। भारतीय स्वाधीनता संघर्ष के इतिहास में इसे ''लाहौर षडयंत्र केस'' के नाम से जाना जाता है। युवा क्रान्तिकारी अदालत में जो बयान देते, वे अगले दिन अखबारों में छपते और पूरे देश में उनका प्रचार होता।

अपने सिद्धान्तों के प्रति निडर, दुस्साहसी और प्रतिबद्ध ये युवा क्रान्तिकारी रोज अदालत में 'इकलाब–जिन्दाबाद' का नारा लगाते और प्रवेश करते। अदालातों में बहस के दौरान ये क्रान्तिकारी गाते रहते थे– 'मेंरा रंग दे बसंती चोला' और 'सरफरोशी की तमन्ना अब हमारे दिल में है।'' जंजीरों में जकडे इन युवा बलिदानियों के ये नारे और गीत भारतीय जनमानस को झकझोर गये। अहिंसक आन्दोलन में विश्वास रखने वाले भी अब इन क्रान्तिकारियों के प्रति सहानुभूति रखने लगे। भगत सिंह का नाम तो जैसे समस्त भारतीयों की जुबान पर ही आ गया था। अदालती कार्यवाहियों में अपने नारों और गीतों से व्यवधान डाले जाने के कारण ब्रिटिश भारतीय सरकार ने इस मामले को एक विशेष ट्रिब्यूनल को सौंप दिया। इस विशेष ट्रिब्यूनल ने न्यायाधीश जे0 कोल्डस्ट्रीम की अध्यक्षता में न्यायाधीश आगा हैदर और न्यायाधीश जी0सी0 हिल्टन के सदस्यता में 5 मई 1930 को अपनी कार्यवाही शुरू की। इस मुकदमें के दौरान भी भगत सिंह ने अपनी सफाई के लिए कोई कानूनी वकील करने से इनकार कर दिया क्योंकि वे पूरे मामले को ही एक ढ़कोसला मानते थे। मुकदमें के दौरान भगत सिंह ने अपनी कोई सफाई पेश नहीं की। अन्ततः 7 अक्टूबर 1930 को लाहौर षडयंत्र केस में फैसला सुनाया गया जिसके अन्तर्गत भगत सिंह, सुखदेव और राजगुरू को मृत्युदण्ड की सजा दी गई। कमलनाथ तिवारी, विजय कुमार सिन्हा, जयदेव कपूर, शिव वर्मा, गयाप्रसाद कटियार, किशोर लाल और महावीर सिंह को आजीवन कारावास, कुन्दल लाल और प्रेमदत्त को क्रमशः सात और पॉच साल के कारावास की सजी दी गई। अजय घोष, जे0एन0 सान्याल और देसराज को बरी कर दिया गया। नामजद भगवती चरण बोहरा और चन्द्रशेखर आजाद फरार ही रहे।

इस मृत्युदंड की सजा सुनाये जाने के बाद भी यह न्यायिक युद्ध समाप्त नहीं हुआ। कुछ विशिष्ट व्यक्तियों से निर्मित बचाव परिषद् ने प्रिवी काउंसिल में एक अर्जी देने का निर्णय किया, जिससे विशेष ट्रिब्यूनल बनाए जाने के अध्यादेश को चुनौती दी जा सके और भारत के स्वाधीनता संग्राम का प्रचार–प्रसार विदेश में किया जा सके। 10 फरवरी 1930 को प्रिवी काउंसिल द्वारा यह अर्जी नामंजूर कर दी गयी। 14 फरवरी 1931 को पंडित मदनमोहन मालवीय ने इससे हार मानने की बजाय वायसराय के समक्ष अपील की और उनसे दया के अपने विशेषाधिकार का इस्तेमाल कर मानवीय आधार पर मृत्युदंड को आजीवन निर्वासन में बदलने का अनुरोध किया। 16 फरवरी 1931 को जीवन लाल, बलजीत और शाम लाल ने उच्च न्यायालय में बंदी प्रत्यक्षीकरण की याचिका दायर करते हुए उनके कारावास और प्रस्तावित मृत्युदंड की वैधता को ही चुनौती दे डाली लेकिन इन समस्त अपीलों और याचिकाओं को नामंजूर कर दिया गया।

इसमें पूरे भारत में रोष फैल गया। अंग्रेजों के खिलाफ अपने संघर्ष में स्वाधीनता सेनानी इससे और अधिक एकजुट हुए। क्रान्तिकारियों को फॉसी की सजा सुनाये जाने के साथ ही लाहौर में धारा 144 लागू कर दी गई। यद्यपि कहा जाता है कि मृत्युदण्ड के लिए 24 मार्च 1931 की तिथि निर्धारित की गई थी किन्तु जनाक्रोश से डरी सहमी सरकार ने 23–24 मार्च की रात्रि में ही इन सपूतों को फॉसी पर लटका दिया। लाहौर सेन्ट्रल जेल में फॉसी के फंदे की तरफ बढते हुये इन तीनों क्रान्तिकारियों में भगत सिंह बीच में थे, सुखदेव उनकी बॉई तरफ और राजगुरू उनकी दाहिनी तरफ थे। चलते समय भगत सिंह एक गीत गा रहे थे – 'दिल से न निकलेगी मर कर भी वतन

की उल्फत, मेरी मिट्टी से भी खुशबू–ए–वतन आएगी। उनके दोनों साथी भी उनके साथ सुर में सुर मिला रहे थे। हालॉकि इन तीनों क्रान्तिकारियों ने पहले अंग्रेजी सरकार से अनुरोध किया था कि राजनैतिक कैदियों के उनके दर्जे को देखते हुये उन्हे साधारण अपराधियों की तरह फॉसी पर न चढाकर गोलियों से मारा जाय लेकिन अंग्रेजी सरकार ने उनके इस अनुरोध को ठुकरा दिया था। भगत सिंह ने फॉसी से पहले फंदे को चूमा और उन्होने खुद इसे अपने गले में पहना था। इस प्रकार 23 मार्च 1931 को रात के अन्धेरे में इन युवा क्रान्तिकारियों को फॉसी दे दी गई और अगले दिन यह खबर सुनकर पूरा देश स्तब्ध रह गया। हजारों ऑखे बहुत रोईं, घरों में चूल्हा नही जला और पूरे देश में मातम का माहौल बन गया।

पूरे देश भर में इन क्रान्तिकारियों की शहादत को याद किया गया। भगत सिंह की मृत्यु की खबर को लाहौर के दैनिक 'ट्रिब्यून' और न्यूयार्क के एक पत्र 'डेली वर्कर' ने छापा। लाहौर के उर्दू दैनिक समाचारपत्र 'पयाम' ने लिखा – हिन्दुस्तान इन तीनों शहीदों को पूरे ब्रितानिया से ऊॅचा समझता है। अगर हम हजारों–लाखों अंग्रेजों को मार गिराऍ, तो भी हम पूरा बदला नहीं चुका सकते। यह बदला तभी पूरा होगा, अगर तुम हिन्दुस्तान को आजाद करा लो, तभी ब्रितानिआ की शान मिट्टी में मिलेगी। ओ भगत सिंह, राजगुरू और सुखदेव ! अंग्रेज खुश है कि उन्होने तुम्हारा खून कर दिया लेकिन वो गलती पर है, उन्होने तुम्हारा खून नहीं किया है, उन्होने अपने भविष्य में छुरा घोंपा है। तुम जिन्दा हो और हमेशा जिंदा रहोगे।

सुभाष चन्द्र बोस ने कहा कि – ''भगत सिंह जिन्दाबाद और इंकलाब जिन्दाबाद का एक ही अर्थ है।'' यहॉ तक कि गॉधीजी ने भी यह स्वीकार किया कि हमारे मस्तक भगत सिंह की देशभक्ति, साहस और भारतीय जनता के प्रति प्रेम तथा बलिदान के आगे झुक जाते है।

ऐतिहासिक भूख हड़ताल –

असेम्बली बम काण्ड और लाहौर षडयंत्र केस में भारत के बहुत सारे क्रान्तिकारी लाहौर सहित देश की अनेक जेलों में बन्दी बनाकर रखे गये थे। सभी क्रान्तिकारियों की निगाहें इस बात पर टिकी थी कि लाहौर षडयंत्र केस में न्यायालय क्या निर्णय लेती है। लेकिन इसी दौरान लाहौर जेल में कैद जतिन दास ने जेल की अमानवीय दशाओं में सुधार के लिए भूख हडताल कर दी। अनशन के लगातार 64वें दिन 13 सितम्बर 1929 को जतिन दास की मृत्यु हो गयी।

जतिन दास का पूरा नाम यतीन्द्र नाथ दास था। वे बंगाल के प्रसिद्ध क्रान्तिकारी संगठन अनुशीलन समिति के सदस्य रहे और मात्र 17 वर्ष की आयु में उन्होने गॉधीजी के असहयोग आन्दोलन में भाग लिया था। असहयोग आन्दोलन की अचानक स्थगित किये जाने के पश्चात जतिन दास शचीन्द्र नाथ सान्याल के सम्पर्क में आये और उन्ही से बम बनाना सीखा। शीध्र ही वे हिन्दुस्तान सोशलिस्ट रिपब्लिकन एसोसिएशन के सदस्य बन गये। असेम्बली बम काण्ड के लिए जिस बम का प्रयोग किया गया था उसे जतिन दास ने ही तैयार किये थे। असेम्बली बम काण्ड के आरोप में 14 जून 1929 को जतिन दास गिरफ्तार कर लिये गये और भगत सिंह के साथ उन्हे लाहौर सेन्ट्रल जेल में बन्द कर दिया गया। लाहौर जेल में क्रान्तिकारियों को राजनैतिक कैदियों का दर्जा

होने के बाद भी उनके साथ आदतन अपराधियों से भी बदतर अमानवीय और क्रूर व्यवहार किया जाता था। जेल में बन्द इन कैदियों को न तो उचित भोजन दिया जाता था, न पानी और न ही इनके साथ अच्छा व्यवहार किया जाता था। इन क्रान्तिकारियों की मॉग थी कि उन्हे राजनीतिक बंदी मानते हुये उनके साथ बेहतर मानवीय सलूक किया जाय। क्रान्तिकारियों के साथ हो रहे इस अमानवीय व्यवहार और दशाओं में सुधार के लिए जतिन दास ने आमरण अनशन प्रारंभ कर दिया। अनशन के 64वें दिन जतिन दास की मृत्यु हो गयी।

जतिन दास की मौत ने जेल प्रशासन के साथ–साथ पूरे देश को झकझोर कर रख दिया। उनका बलिदान देश की आजादी के क्रान्तिकारी इतिहास का एक महत्वपूर्ण पड़ाव माना जाता है। मौत की खबर सुनकर पूरा देश रोया। उनका मृत शरीर एक ट्रेन द्वारा लाहौर से कलकत्ता लाया गया। हर स्टेशन पर सैकडों लोग इस महान क्रान्तिकारी को अपनी श्रद्धांजलि देने के लिए एकत्रित्र थे। दो मील लम्बी शवयात्रा में उनके अंतिम दर्शन हेतु लगभग 6 लाख लोगों की भीड जमा हो गयी थी।

हिन्दुस्तान सोशलिस्ट रिपब्लिकरन एसोसिएशन के महत्वपूर्ण क्रान्तिकारियों में भगवती चरण बोहरा और चन्द्रशेखर आजाद अभी भी पुलिस की पकड में नही आ सके थे। भगवती चरण बोहरा ने भगत सिंह और सुखदेव के साथ मिलकर वर्ष 1926 में नौजवान सभा की स्थापना की थी। इस नौजवान सभा का घोषणापत्र बोहरा ने ही तैयार किया था। एच0एस0आर0ए0 के घोषणापत्र बनाने में भी बोहरा ने चन्द्रशेखर आजाद की सहायता की थी। उनका एक ही मकसद था कि देश को कैसे स्वतंत्रता दिलाई जाय।

लाहौर षडयंत्र केस के दौरान जब एच0एस0आर0ए0 के कार्यकर्ताओं की धर–पकड हो रही थी, उस दौरान लाहौर में बम बनाने की फैक्ट्री पकडी गई। 1929 में भगवती चरण बोहरा ने एक दूसरी फैक्ट्री बनाने की योजना बनाई। उन्होने लाहौर में ही काश्मीर बिल्डिंग में एक कमरा किराये पर ले लिया और बम बनाने का काम शुरू हो गया। वास्तव में बोहरा की योजना तात्कालीन वायसराय लार्ड इरविन पर हमला करना था। 23 दिसम्बर 1929 को ट्रेन से जब लार्ड इरविन दिल्ली से आगरा जा रहे थे तो भगवती चरण बोहरा ने उनपर हमला कर दिया। लेकिन बम गलत बोगी में फेंका गया और इस प्रकार वायसराय बाल–बाल बच गये।

इसी घटना के बाद चन्द्रशेखर आजाद की सलाह पर भगवती चरण बोहरा ने 'फिलॉसफी ऑफ द बम' नामक एक दस्तावेज तैयार किया जिसके माध्यम से उन्होने गॉधीजी को संदेश देने की कोशिश की और ये पर्चे साबरमती आश्रम के बाहर चिपका दिया गया। उधर भगत सिंह, सुखदेव और राजगुरू को ब्रिटिश सरकार फॉसी की सजा देने वाली थी। भगवती चरण बोहरा ने इस दौरान भगत सिंह को जेल से छुडाने की योजना भी बनाई। इसके लिए उन्होने एक बम बनाया जिसे जॉचने के लिए प्रयोग किया जाना था। प्रयोग के दौरान ही अचानक वह बम फट गया और इस प्रकार 28 मई 1930 को भगवती चरण बोहरा की मौत हो गयी। मरने से पहले बोहरा ने कहा था कि अगर उनकी मौत दो दिन के लिए टल जाती तो उन्हे बडी कामयाबी मिल जाती और उनकी आखिरी ख्वाहिश अधुरी न रहती।

एच0एस0आर0ए0 के एकमात्र सदस्य चन्द्रशेखर आजाद जो काकोरी षडयंत्र केस से ही पुलिस को चकमा दे रहे थे, अबतक नहीं पकडे जा सके थे। चन्द्रशेखर आजाद ने भी अपना प्रारंभिक जीवन कांग्रेस के साथ व्यतीत किया था लेकिन जब गॉधीजी ने अपना असहयोग आन्दोलन वापस लिया तो आजाद का कांग्रेस से मोहभंग हो गया। इसके बाद चन्द्रशेखर आजाद रामप्रसाद बिस्मिल और योगेश चटर्जी जैसे क्रान्तिकारियों के सम्पर्क में आये। उस समय बनारस क्रान्तिकारियों का गढ़ था, शीध्र ही वह 1924 में हिन्दुस्तान रिपब्लिकन एसोसिएशन से जुड गये।

हिन्दुस्तान रिपब्लिकन एसोसिएशन के सदस्यों ने जब काकोरी में ट्रेन से सरकारी खजाने की लूट को अंजाम दिया तो इसमें चन्द्रशेखर आजाद की भी बडी भूमिका थी। इस घटना के बाद इस संगठन के ज्यादातर सदस्य ब्रिटिश सरकार द्वारा गिरफ्तार कर लिये गये और यह संगठन बिखरने लगा। ब्रिटिश हुकूमत चन्द्रशेखर आजाद और उनके सहयोगियों को पकडने की लगातार कोशिश कर रही थी लेकिन आजाद उनसे बचकर निकलने में सफल रहे।

पुन 1928 में जब एच0एस0आर0ए0 का गठन किया गया तो चन्द्रशेखर आजाद को इस संगठन का कमाण्डर–इन–चीफ बनाया गया। इस संगठन के बैनर तले सैण्डर्स हत्याकाण्ड को अंजाम दिया गया और उसके कुछ ही दिन बाद असेम्बली में बम फेंकने की घटना भी हुई। इन षडयंत्रों में अन्य आरोपियों के साथ–साथ चन्द्रशेखर आजाद का भी नाम शामिल था। इन समस्त घटनाओं के बाद ब्रिटिश सरकार ने क्रान्तिकारियों को पकडने में पूरी ताकत झोंक दी। इस समय तक दल के लगभग सभी सदस्य गिरफ्तार कर लिये गये थे लेकिन फिर भी काफी समय तक चन्द्रशेखर आजाद ब्रिटिश सरकार को चकमा देते रहे।

इसी बीच 27 फरवरी 1931 को इलाहाबाद के अल्फ्रेड पार्क में आजाद अपने अन्य सहयोगियों के साथ मिलकर ब्रिटिश सरकार के खिलाफ आगामी योजना बना रहे थे। गुप्तचरों द्वारा ब्रिटिश सरकार को इसकी सूचना मिली और नाट बाबर के नेतृत्व में अंग्रेज सिपाहियों के साथ अचानक उनपर हमला कर दिया गया। आजाद अपने मित्रों को वहॉ से भगाने में सफल रहे और अकेले ही अंग्रेजी सैनिकों से लोहा लेते रहे। वे सैकडों पुलिसवालों के सामने तकरीबन 20 मिनट तक लडते रहे। चूँकि चन्द्रशेखर आजाद ने प्रण किया था कि वह कभी जिवित नहीं पकडे जाएँगे अतः दुश्मनों से घिरा देख अपने प्रण को पूरा करने के लिए उन्होने अपनी पिस्तौल की आखिरी गोली खुद को मार ली और मातृभूमि के लिए अपने प्राणों की आहुति दे दी। चन्द्रशेखर आजाद की मृत्यु के साथ ही उत्तर भारत में हिन्दुस्तान सोशलिस्ट रिपब्लिकन एसोसिएशन की गतिविधियॉ लगभग समाप्त हो गयी।

बंगाल में क्रान्तिकारी गतिविधियॉ :

बीसवीं शताब्दी के तीसरे दशक में उत्तर भारत की तरह बंगाल में भी क्रान्तिकारी राष्ट्रवादी पुनः संगठित होकर भूमिगत कार्यवाहियॉ करने लगे। क्रान्तिकारी आन्दोलन के द्वितीय चरण में बंगाल में अनुशीलन और युगांतर जैसी क्रान्तिकारी संस्थाएँ फिर से सक्रिय हुई। इसके साथ ही साथ कुछ राष्ट्रवादी कांग्रेस संगठन में भी काम करते रहे। इससे क्रान्तिकारी युवकों को कांग्रेस समर्थक लोगों में सम्पर्क स्थापित करने का मौका

मिला और दूसरी ओर इन क्रान्तिकारियों की मदद से छोटे–छोटे कस्बों और गॉवों में कांग्रेस ने अपना जनाधार मजबूत बनाया। इन युवा क्रान्तिकारियों ने चितरंजन दास को उनके स्वराजी कार्यों में सहायता दी। लेकिन चितरंजन दास के निधन के बाद बंगाल के कांग्रेसी नेतृत्व दो खेमों में बॅट गया। एक गुट के नेता सुभाष चन्द्र बोस और दूसरे गुट के नेता जे0 एम0 सेनगुप्त बने। क्रान्तिकारी समूह 'युगान्तर' सुभाष चन्द्र बोस के साथ हो गया जबकि 'अनुशीलन' समूह जे0 एम0 सेनगुप्त के साथ।

टेगार्ट की हत्या का प्रयास –

वर्ष 1923–24 तक आते–आते बंगाल में क्रान्तिकारी गतिविधियों में उभार प्रारंभ हुआ। इसी समय बंगाल में हेमचन्द्र घोष तथा लीलानाग ने बंगाल स्वयंसेवक संघ तथा अनिल राय ने श्रीसंघ नामक संस्था की स्थापना की। क्रान्तिकारियों के इस पुनगर्ठित गुटों द्वारा शुरू की गई अनेक कार्यवाहियों में सबसे उल्लेखनीय था– कलकत्ता के बदनाम पुलिस कमिश्नर चार्ल्स टेगार्ट की हत्या का प्रयास।

कलकत्ता के बदनाम पुलिस कमिश्नर चार्ल्स टेगार्ट ने अपने कृत्यों से बंगाल के क्रान्तिकारियों में सनसनी फैला दी थी। उसके क्रूर और निर्मम कृत्यों ने बंगाल के सशस्त्र क्रान्तिकारियों के बीच इतनी नफरत पैदा कर दी उसकी हत्या की साजिशें बनाई जाने लगी। अन्ततः गोपीनाथ साहा ने इस बदनाम पुलिस कमिश्नर को मारने की योजना बनाई। 12 जनवरी 1924 को सुबह लगभग 7 बजे सफेद धोती और खाकी शर्ट पहने गोपीनाथ साहा कमिश्नर की सुबह की सैर पर टेगार्ट को पकडने की उम्मीद में पार्क स्ट्रीट, चौरंगी रोड के क्रासिंग के आसपास घूमने लगे। शीध्र ही भूरे ओवरकोट पहने एक आदमी को देखकर गोपीनाथ साहा ने उसपर गोलियों की बौछार कर दी। लेकिन दुर्भाग्यवश वह टेगार्ट नही अपितु एक अन्य अंग्रेज अर्नेस्ट डे था। कुल मिलाकर इस हमले में टेगार्ट की जगह अर्नेस्ट डे मारा गया। घटना के बाद गोपीनाथ साहा को गिरफ्तार कर लिया गया और सरकार दमन पर उतारू हो गयी। अक्टूबर 1924 में बंगाल आर्डिनेन्स के तहत ऐसे तमाम लोगों को गिरफ्तार कर लिया गया जिनपर क्रान्तिकारी होने या क्रान्तिकारियों का समर्थक होने का सन्देह था। ऐसे लोगों में सुभाष चन्द्र बोस तथा अन्य कांग्रेसी भी शामिल थे।

गोपीनाथ साहा के लिए कोई रास्ता नहीं था। अपने कारावास के दौरान अकथनीय यातना सहने के बाद 16 फरवरी को अपने मुकदमे के अंत में, जब सत्र न्यायाधीश पियर्सन की अदालत में फांसी की सजा सुनाई गई, तो उन्हें यह कहना पड़ा – "मैं टेगार्ट को मारना चाहता था। यह तथ्य कि मैंने एक निर्दोष व्यक्ति को मार डाला, मुझे शाश्वत पश्चाताप से भर देता है। मैं उसके परिवार से माफ़ी मॉगता हूँ लेकिन टेगार्ट को माफ नहीं किया जाएगा। मुझे यकीन है कि मेरे देशभक्त साथियों में से एक अत्याचारी कमिश्नर को मार डालेगा और उस कार्य को मुझसे कहीं अधिक सावधानी बरतते हुए पूरा करेगा जिसे मैं अधूरा छोड़ गया हूँ।'' जनता के तमाम विरोध के बावजूद गोपीनाथ साहा को 1 मार्च 1924 को कलकत्ता के अलीपुर सेन्ट्रल जेल में फॉसी दे दी गई।

टेगार्ट की हत्या के प्रयास के बाद जिस तरह से गोपीनाथ साहा को फॉसी दी गई, उससे क्रान्तिकारी गतिविधियों को गहरा धक्का लगा। सरकार ने सोचा कि वे इस

आन्दोलन को दबाने में सफल हो गये है, इसलिए 1928 के कुछ नजरबंदों को रिहा कर दिया गया और अपराध कानून संशोधन अधिनियम और 1925 के अध्यादेश की अवधि को 1930 में और आगे नहीं बढ़ाया गया। मगर 1928–29 के आर्थिक हालात और बढ़ती हुई बेरोजगारी के कारण शिक्षित युवकों मे बेचैनी बहुत अधिक बढ़ गई। काकोरी और लाहौर षडयंत्र केस और जतीनदास की शहीदी ने युवकों की क्रान्तिकारी गतिविधियों को प्रोत्साहन दिया। इसका प्रभाव निश्चित रूप से बंगाल के क्रान्तिकारियों पर भी पडा। उत्तर भारत और बंगाल के क्रान्तिकारियों की रणनीति और चालों में कोई बहुत अन्तर नही था और इन्होनें भी व्यक्तियों पर हमला करने की बजाय सरकारी संस्थाओं पर हमला करने पर जोर दिया। इसी बीच लम्बे समय से भारत में संचालित क्रान्तिकारियों के अनुशीलन गुट और युगान्तर गुट के बीच आपसी विवाद और गहराता गया। इस संकट से उबरने के लिए नये क्रान्तिकारी जल्द ही अपने–अपने नये गुट बनाने लगे, लेकिन इन्होने पुराने क्रान्तिकारियों से रिश्ता नही तोड़ा। इन्होने युगान्तर और अनुशीलन दोनों गुटों से बेहतर सम्बन्ध बनाये रखा और उनसे दिशा–निर्देश लेते रहे। ऐसे क्रान्तिकारियों गुटों में सबसे सक्रिय चटगॉव क्रान्तिकारियों का गुट था जिसके नेता सूर्यसेन थे।

चटगॉव विद्रोह –

क्रान्तिकारी आन्दोलन के द्वितीय चरण में बंगाल के सूर्यसेन के नेतृत्व में 18 अप्रैल 1930 को सशस्त्र भारतीय स्वतंत्रता सेनानियों द्वारा चटगॉव में पुलिस और सहायक बलों के शस्त्रागार पर छापा मारकर उसे लूटने का प्रयास किया था, जिसे भारतीय इतिहास में 'चटगॉव विद्रोह' अथवा 'चटगॉव शस्त्रागार छापा' के नाम से जाना जाता है।

सूर्यसेन चटगॉव के राष्ट्रीय विद्यालय में एक शिक्षक के रूप में कार्य कर रहे थे और लोग उन्हे प्यार से 'मास्टर दा' कहा करते थे। शिक्षक बनने के बाद वे भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की चटगांव जिला शाखा के अध्यक्ष भी चुने गए थे। सूर्यसेन जब विद्यार्थी थे तभी अपने एक शिक्षक की प्रेरणा से वे 'अनुशीलन समिति' के सदस्य बन गये थे। अपने सार्वजनिक जीवन के प्रारंभिक चरण मे सूर्य सेन ने असहयोग आन्दोलन मे सक्रिय भूमिका निभाई थी। उन्होंने धन और हथियारों की कमी को देखते हुए अंग्रेज सरकार से गुरिल्ला युद्ध करने का निश्चय किया। साम्राज्यवादी सरकार जब क्रान्तिकारियों का दमन कर रही थी तो सूर्यसेन ने दिन–दहाड़े 23 दिसंबर, 1923 को चटगांव में असम–बंगाल रेलवे के ट्रेजरी ऑफिस को लूटा। क्रान्तिकारी गतिविधियों में शामिल होने के आरोप में सूर्य सेन को 1926 ई0 में दो साल की सजा हुई थी। यहॉ उल्लेखनीय है कि क्रान्तिकारी गतिविधियो में शामिल होने के बाद भी उन्होने कांग्रेस नही छोडी थी और जेल से छूटने के बाद वह कांग्रेस में काम करते रहे। 1929 में सूर्य सेन चटगॉव जिला कांग्रेस कमिटि के सचिव थे और उनके पॉच अन्य सहयोगी इसके सदस्य थे। किंतु उन्हें सबसे बड़ी सफलता चटगांव आर्मरी रेड के रूप में मिली, जिसने अंग्रेजी सरकार को झकझोर दिया था।

सूर्यसेन लगनशील, शान्त स्वभाव के और मृदुभाषी व्यक्ति थे। उनमे संगठन की अदुभूत क्षमता थी और इसलिए कांग्रेस के साथ जुड़े रहने के बावजूद सूर्यसेन ने बहुत जल्द युवा क्रान्तिकारियों को अपना समर्थक बना दिया। इन युवा क्रान्तिकारियों मे गणेश

घोष, लोकीनाथ बाउल, अनन्त सिंह, आनन्द गुप्त, टेगरेवाल, अम्बिका चतुर्वेदी के साथ–साथ प्रीतिलता वाडेकर और कल्पना दत्त जैसी युवतियॉ भी थी। सूर्यसेन ने चटगॉव से ब्रिटिश हुकूमत को समाप्त करने के उद्देश्य से खुद की एक आर्मी – इण्डियन रिपब्लिक आर्मी तैयार की। देखते ही देखते इसके सदस्यों की संख्या लगभग 500 के आस–पास तक पहुॅच गई। इण्डियन रिपब्लिक आर्मी के इन सदस्यों में लड़के और लड़कियॉ दोनों शामिल थे। इन सेना के सदस्यों के लिए हथियारों की आवश्यकता महसूस होने लगी। शीध्र ही जनता को यह समझाने के लिए कि सशस्त्र क्रान्ति द्वारा ब्रिटिश साम्राज्यवाद को समाप्त किया जा सकता है, सूर्यसेन ने अपने सहयोगियो के साथ एक विद्रोही कार्यवाही करने की एक सुनियोजित और गुप्त योजना बनाई। इस गुप्त योजना के अन्तर्गत चटगॉव के दो शास्त्रास्त्रों पर कब्जा कर हथियारों को लूटना था जिससे कि युवा क्रान्तिकारियों को हथियारों से लैस किया जा सके। इसके अतिरिक्त इस योजना में नगर की टेलीफोन, टेलीग्राफ तथा अन्य संचार व्यवस्था को नष्ट करना और चटगॉव और शेष बंगाल के बीच रेल सम्पर्क को भंग करना भी शामिल था ताकि ब्रिटिश साम्राज्यवाद की जड़ों को चटगॉव से समाप्त किया जा सके। इस कार्यवाही के लिए नये युवा क्रान्तिकारियों के चयन और प्रशिक्षण में भी पूरी सावधानी बरती गई।

चटगॉव आर्मरी रेड, 1930 –

सूर्यसेन के निर्देशन में 'इण्डियन रिपब्लिक आर्मी' के क्रान्तिकारियों ने सेना की वर्दी पहनकर 18 अप्रैल 1930 ई0 को रात के दस बजे योजनाबद्ध ढ़ंग से चटगॉव आर्मरी रेड को अंजाम दिया। एक तरफ गणेश घोष के नेतृत्व में छः क्रान्तिकारियों की टीम ने चटगॉव के पुलिस शस्त्रागार पर कब्जा कर लिया। दूसरी ओर लोकनाथ बाउल के नेतृत्व में दस युवा क्रान्तिकारियों ने चटगॉव के सैनिक शस्त्रागार पर अधिकार कर लिया। इन दोनों शस्त्रागारों पर अधिकार करने की यह घटना 'चटगॉव आर्मरी रेड' के नाम से जाना जाता है। क्रान्तिकारी हथियार तो प्राप्त करने में सफल रहे परन्तु गोला–बारूद नही पा सके। निश्चित रूप से क्रान्तिकारियों की योजना के लिए यह एक बहुत बड़ा झटका था। योजना के मुताबिक इस लूटकाण्ड से पहले टेलीफोन, टेलीग्राफ और अन्य संचार व्यवस्था भंग करने और रेलमार्ग अवरूद्ध करने में क्रान्तिकारियों को जरूर सफलता मिली। इस दौरान जिसने भी विरोध किया, उसे गोली मार दी गई। सैन्य शास्त्रागार का सार्जेण्ट मेजर कैरल भी इसमें शामिल था। यह सम्पूर्ण कार्यवाही 'इण्डियन रिपब्लिक आर्मी' चटगॉव शाखा के नाम से की गई जिसमें कुल मिलाकर लगभग 65 क्रान्तिकारी शामिल थे।

अस्थायी सरकार का गठन –

इस घटना के बाद सभी क्रान्तिकारी पुलिस शास्त्रागार के बाहर एकत्रित हुये जहॉ खादी की सफेद धोती और कोट के साथ गॉधी टोपी पहने सूर्यसेन ने इन युवा क्रान्तिकारी सेना से विधिवत सैनिक सलामी ली। 'इन्कलाब जिन्दाबाद', 'वन्दे मातरम्' और 'साम्राज्यवाद मुर्दाबाद' के नारो के बीच सूर्यसेन ने तिरंगा फहराया और एक अस्थायी सरकार के गठन की घोषणा की। इस प्रकार अगले चार दिन तक चटगॉव का प्रशासन 'इण्डियन रिपब्लिक आर्मी' (IRA) के हाथों में ही रहा।

क्रान्तिकारी जानते थे कि इस घटना के बाद अंग्रेजी सरकार तिलमिला जायेगी और इनके धर–पकड का व्यापक अभियान चलाएगी। मुट्ठी भर ये युवा क्रान्तिकारी ब्रिटिश सेना का सामना नहीं कर सकते इसलिए वे सुबह होने से पहले ही चटगॉव शहर छोड़कर सुरक्षित स्थान की तलाश में चटगॉव की पहाड़ियों की ओर चले गये। 22 अप्रैल 1930 की दोपहर को अंग्रेजी सेना ने इन पहाड़ियों को चारों तरफ से घेर लिया और इस प्रकार दोनों पक्षों में जमकर संघर्ष हुआ। युवा क्रान्तिकारी मौत से जूझते हुये संघर्ष करते रहे जिसमें 12 क्रान्तिकारी और 160 ब्रिटिश सैनिक मारे गये। कई क्रान्तिकारियों को बन्दी बना लिया गया लेकिन सूर्यसेन समेत अन्य महत्वपूर्ण साथी वहॉ से सुरक्षित निकलने में कामयाब रहे। इसके बाद लगभग तीन वर्षो तक ये क्रान्तिकारी स्थानीय गॉव वालों की मदद से स्वयं को अंग्रेजी सेना से छिपाने में कामयाब रहे।

ब्रिटिश सरकार ने सूर्यसेन को पकड़ने के लिए चटगॉव और जलालाबाद पहाडियो में बसे गॉव वालों के उपर बेइन्तहा जुल्म ढ़ाये लेकिन इसके बावजूद गॉव वालो जिनमें अधिकांशतः मुसलमान थे, ने अपनी जुबान नहीं खोली। अंग्रेजी सरकार ने इनाम तक की घोषणा की लेकिन वे फिर भी अंग्रेजों के हाथ नही आये। लगभग तीन साल तक सूर्यसेन अपने क्रान्तिकारी साथियों के साथ अंग्रेजों पर गुरिल्ला हमला करते रहे। एक दिन उनके मित्र जमींदार नेत्रसेन ने पैसे के लालच में उन्हे अपने घर से पकडवा दिया और इस प्रकार 16 फरवरी 1933 ई0 को सूर्यसेन गिरफ्तार कर लिये गये। पकडे जाने के बाद पुलिस ने सूर्यसेन को जमकर टार्चर किया और ऐसा माना जाता है कि इस दौरान उनके सारे दॉत तोड़ दिये गये और नाखून तक निकाल लिये गये। शास्त्रागार लूट काण्ड में सूर्यसेन और उनके साथियों पर मुकदमा चला और अन्ततः 12 जनवरी 1934 ई0 को मेदिनीपुर जेल में सूर्यसेन को फॉसी दे दी गई। उनके तमाम क्रान्तिकारी साथी भी पकडे गये और उन्हे भी लम्बी सजाएँ दी गई।

अपनी मौत से कुछ दिन पूर्व अपने दोस्त को एक खत में लिखते हुये सूर्यसेन ने कहा था कि– ''मौत मेरे दरवाजे पर दस्तक दे रही है, मेरा मन अनंत की ओर उड़ रहा है . ..... इतने सुखद, ऐसे गंभीर क्षण में, मै तुम्हारे लिए पीछे क्या छोडकर जाउँ? एक ही चीज है, वो है मेरा सपना, एक सुनहरा सपना– स्वतंत्र भारत का सपना..... .. 18 अप्रैल 1930 को कभी मत भूलना, चटगॉव की क्रान्ति को कभी मत भूलना। आजादी की वेदी पर अपने प्राणों की आहुति देने वाले उन देशभक्तों का नाम लाल अक्षरों में अपने दिल में लिख लेना।''

बंगाल में द्वितीय चरण के इस क्रान्तिकारी आंदोलन की विशेषता इसमें बड़े पैमाने पर युवतियों और महिलाओं की भागीदारी थी। सूर्य सेन के नेतृत्व में ये क्रांतिकारी महिलाएँ क्रांतिकारियों को शरण देने, संदेश पहुँचाने और हथियारों की रक्षा करने का काम करती थीं। मौका पड़ने पर हाथ में बंदूक लेकर संघर्ष भी करती थीं। प्रीतिलता वाडेदार ने पहाड़तली (चटगॉव) में रेलवे इंस्टीट्यूट पर छापा मारा और इसी दौरान अंग्रेजों से घिर जाने पर जहर खाकर मातृभूमि के लिए जान दे दी। जबकि कल्पना दत्त (अब जोशी) को सूर्य सेन के साथ गिरफ्तार कर लिया गया था। उन्हें आजीवन कारावास की सजा दी गई। दिसंबर 1931 में कोमिल्ला की दो स्कूली छात्राओं–शांति घोष और सुनीति चौधरी ने एक जिलाधिकारी को गोली मारकर उसकी हत्या कर दी। फ़रवरी

1932 में बीना दास ने दीक्षांत समारोह में उपाधि ग्रहण करने के समय बहुत नज़दीक से गवर्नर पर गोली चलाई।

इस प्रकार चटगॉव आर्मरी रेड भारत के क्रान्तिकारी आन्दोलन के इतिहास में बेमिसाल है। इस कांड ने बंगाल की जनता को बहुत गहराई से प्रभावित किया। एक सरकारी प्रकाशन के मुताबिक इस घटना से क्रांतिकारी सोचवाले युवकों का उत्साह बहुत बढ़ा और भारी संख्या में युवक क्रान्तिकारी गुटों में शामिल होने लगे। 1930 में क्रांतिकारी गतिविधियों ने फिर जोर पकड़ा और यह क्रम 1932 तक चलता रहा। बलिदानी युवकों की संख्या बढ़ती गई। ऐसे तमाम संघर्ष हुए, ,जिनमें युवकों ने जान की बाज़ी लगा दी। यह जानते हुए भी कि अंजाम मौत है, क्रांतिकारी युवा संघर्ष करते रहे। केवल मिदनापुर जिले में ही तीन अंग्रेज़ मजिस्ट्रेट मारे गए। दो गवर्नरों की हत्या के प्रयास किए गए और दो पुलिस महानिरीक्षक मारे गए। इन तीनों वर्षों के दौरान 22 अधिकारी व 20 गैर–अधिकारी व्यक्ति मारे गए। शस्त्रागारों की लूट से सरकार बर्बर दमन पर उतर आई और सरकार ने अनेक दमनकारी क़ानून जारी किए और राष्ट्रवादियों को कुचलने के लिए पुलिस को हरी झंडी दिखा दी। चटगाँव में पुलिस ने कई गाँवों को जलाकर भस्म कर दिया और अनेक ग्रामीणों से जुर्माना वसूला गया। कुल मिलाकर सरकार ने इस इलाक़े में आतंक का राज कायम कर दिया।

पुराने क्रांतिकारी आतंकवादियों तथा भगत सिंह व उनके सहयोगियों की तुलना में चटगाँव विद्रोह कहीं ज्यादा प्रभावकारी था। व्यक्तिगत बहादुरी दिखाने या व्यक्तिगत हत्या का रास्ता अख्तियार करने के बजाय यह औपनिवेशिक सत्ता के महत्वपूर्ण अंगों पर संगठित हमला था। लेकिन अब भी उद्देश्य महज युवकों को उकसाना, उनके समक्ष एक उदाहरण रखना और नौकरशाही का मनोबल गिराना था। जलालाबाद संघर्ष के बाद ये क्रांतिकारी गाँवों में रहने लगे, पर अपने संघर्ष को छापामार लड़ाई का रूप देने में कामयाब नहीं हुए। ये फिर छोटी–मोटी आतंकवादी कार्रवाइयों में लग गए। जैसा कि कल्पना जोशी (दत्त) ने कहा है, चटगाँव विद्रोह के बाद, "जब सरकारी सेवाएँ चटगाँव पर फिर से नियंत्रण स्थापित करने आएँगी, तो क्रांतिकारी उनसे लड़ते हुए शहीद हो जाएँगे। यह युवा पीढ़ी के सामने एक आदर्श होगा, जिसका वह अनुकरण करेगी।"

क्रान्तिकारी आन्दोलन के द्वितीय चरण में उत्तर भारत और बंगाल में राष्ट्रवादी आन्दोलन का जो तूफान उठ खडा हुआ था, 1934–35 तक आते–आते शान्त हो गया।

क्रान्तिकारी दर्शन और उसका प्रभाव –

क्रान्तिकारी राष्ट्रवाद के द्वितीय चरण में भगत सिंह और उनके क्रान्तिकारी साथियों ने पहली बार क्रान्तिकारियों के समक्ष एक क्रांतिकारी दर्शन रखा। इन्होने बताया कि क्रांति का लक्ष्य क्या होना चाहिए ? वैसे भी 'एच0आर0ए0' के भीतर एक लम्बे समय से इन मुद्दों पर पुनर्विचार चल रहा था। 1925 ई0 में इसके घोषणापत्र में कहा गया था कि एच0आर0ए0 का उद्देश्य उन तमाम व्यवस्थाओं का उन्मूलन करना है, जिनके तहत एक व्यक्ति दूसरे का शोषण करता है। अक्टूबर 1924 ई0 में इसकी संस्थापक परिषद् ने जनता को सामाजिक क्रांतिकारी और साम्यवादी सिद्धांतों की शिक्षा देने, उनका प्रचार–प्रसार करने का निर्णय किया था। एच0एस0आर0ए0 ने मज़दूरों और किसानों

का संगठन बनाने तथा संगठित हथियारबंद क्रांति के लिए काम करने का भी निर्णय किया था।

भगत सिंह निश्चित रूप से एक असाधारण बुद्धिजीवी थे। अपने समय के ढेर सारे राजनीतिक नेताओं की तुलना में उनका अध्ययन बहुत गंभीर था। द्वारकादास पुस्तकालय लाहौर में समाजवाद, सोवियत संघ और रूस, आयरलैण्ड और इटली के क्रांतिकारी आंदोलन से संबद्ध अनेक किताबों का उन्होंने गहराई से अध्ययन किया था। लाहौर में सुखदेव व अन्य लोगों की मदद से उन्होंने कई अध्ययन केंद्र स्थापित किए थे और राजनीतिक विषयों पर ज़ोरदार बहस का सिलासिला शुरू किया था। जब एच0एस0आर0ए0 का कार्यालय आगरा चला गया, तो वहाँ भी भगत सिंह ने तुरंत एक पुस्तकालय की स्थापना की और सहयोगियों में समाजवाद व अन्य क्रांतिकारी विचारधाराओं का अध्ययन करने व उन पर बहस चलाने की सलाह दी। गिरफ्तार होने के बाद उन्होंने जेल को अध्ययन केन्द्र ही बना दिया था। क्रांतिकारी लक्ष्य प्राप्त करने में दर्शन या विचारधारा की भूमिका कितनी महत्त्वपूर्ण होती है, इस बात को जनता तक पहुँचाने के लिए भगत सिंह ने लाहौर कोर्ट के सामने कहा था – "क्रांति की तलवार में धार वैचारिक पत्थर पर रगड़ने से ही आती है।''

गहन अध्ययन और गंभीर चिंतन के इस माहौल ने एच0एस0आर0ए0 के तमाम लोगों को प्रभावित किया। सुखदेव, भगवतीचरण वोहरा, शिव वर्मा, विजय सिन्हा, यशपाल सभी काफ़ी पढ़े–लिखे और बुद्धिजीवी थे। चन्द्रशेखर आज़ाद भी, जिन्हें अँग्रेज़ी का बहुत कम ज्ञान था, तब तक किसी विचार या विचारधारा को ग्रहण नहीं करते थे, जब तक वह उसे पूरी तरह समझ नहीं लेते थे। जेल से रामप्रसाद बिस्मिल ने युवकों के नाम एक संदेश भेजकर उनसे अपील की थी कि वे पिस्तौल और रिवाल्वर रखने की इच्छा छोड़ दें। क्रांतिकारी षड्यंत्रों में हिस्सा न लें और खुला आंदोलन चलाएँ। उन्होंने जनता से हिंदू–मुसलमान एकता बनाए रखने की अपील की थी। उन्होंने साम्यवाद में अपनी आस्था व्यक्त की थी और इस सिद्धांत के हिमायती थे कि प्रकृति की सम्पदा पर हर इन्सान का बराबर हक है।

क्रांतिकारियों ने जनता को अपनी विचारधारा से अवगत कराने के लिए जो बयान या दस्तावेज़ तैयार किया था उसे 'द फिलॉसफी ऑफ द बॉम्ब' (बम का दर्शन) शीर्षक से जारी किया था, यह दस्तावेज आज़ाद के अनुरोध पर भगवतीचरण वोहरा ने तैयार किया था। लिखने से पहले हर मुद्दे पर आज़ाद से चर्चा हुई थी। व्यक्तिगत बहादुरी की कार्रवाइयों और हिंसात्मक गतिविधियों से भगत सिंह का विश्वास 1929 में अपनी गिरफ़्तारी से पहले ही उठ गया था। वह इस बात में विश्वास करने लगे थे कि व्यापक जनांदोलन से ही क्रांति लाई जा सकती है। दूसरे शब्दों में 'जनता ही जनता के लिए' क्रांति कर सकती है।

एक क्रांतिकारी जब कुछ बातों को अपना अधिकार मान लेता है तो वह उनकी माँग करता है, अपनी उस माँग के पक्ष में दलीलें देता है, समस्त आत्मिक शक्ति के द्वारा उन्हें प्राप्त करने की इच्छा करता है, उसकी प्राप्ति के लिए अत्यधिक कष्ट सहन करता है,इसके लिए वह बड़े से बड़ा त्याग करने के लिए प्रस्तुत रहता है और उसके समर्थन में वह अपना समस्त शारीरिक बल प्रयोग भी करता है। इसके इन प्रयत्नों को आप चाहे जिस नाम से पुकारें, परन्तु आप इन्हें हिंसा के नाम से सम्बोधित नहीं कर सकते,

क्योंकि ऐसा करना कोष में दिए इस शब्द के अर्थ के साथ अन्याय होगा। सत्याग्रह का अर्थ है, सत्य के लिए आग्रह। उसकी स्वीकृति के लिए केवल आत्मिक शक्ति के प्रयोग का ही आग्रह क्यों ? इसके साथ–साथ शारीरिक बल प्रयोग भी क्यों न किया जाए ?क्रांतिकारी स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिए अपनी शारीरिक एवं नैतिक शक्ति दोनों के प्रयोग में विश्वास करता है परन्तु नैतिक शक्ति का प्रयोग करने वाले शारीरिक बल प्रयोग को निषिद्ध मानते हैं। इसलिए अब यह सवाल नहीं है कि आप हिंसा चाहते हैं या अहिंसा, बल्कि प्रश्न तो यह है कि आप अपनी उद्देश्य प्राप्ति के लिए शारीरिक बल सहित नैतिक बल का प्रयोग करना चाहते हैं, या केवल आत्मिक शक्ति का ?

क्रांतिकारियो का विश्वास है कि देश को क्रांति से ही स्वतन्त्रता मिलेगी। वे जिस क्रांति के लिए प्रयत्नशील हैं और जिस क्रांति का रूप उनके सामने स्पष्ट है, उसका अर्थ केवल यह नहीं है कि विदेशी शासकों तथा उनके पिट्ठुओं से क्रांतिकारियों का केवल सशस्त्र संघर्ष हो, बल्कि इस सशस्त्र संघर्ष के साथ–साथ नवीन सामाजिक व्यवस्था के द्वार देश के लिए मुक्त हो जाएं। क्रांति पूँजीवाद, वर्गवाद तथा कुछ लोगों को ही विशेषाधिकार दिलाने वाली प्रणाली का अन्त कर देगी। यह राष्ट्र को अपने पैरों पर खड़ा करेगी, उससे नवीन राष्ट्र और नये समाज का जन्म होगा। क्रांति से सबसे बड़ी बात तो यह होगी कि वह मजदूर व किसानों का राज्य कायम कर उन सब सामाजिक अवांछित तत्त्वों को समाप्त कर देगी जो देश की राजनीतिक शक्ति को हथियाए बैठे हैं।

क्रांतिकारियो का मानना था कि आज की तरुण पीढ़ी को मानसिक गुलामी तथा धार्मिक रूढ़िवादी बंधन जकड़े हैं और उससे छुटकारा पाने के लिए तरुण समाज की जो बैचेनी है, क्रांतिकारी उसी में प्रगतिशीलता के अंकुर देख रहा है। नवयुवक जैसे–जैसे मनोविज्ञान आत्मसात् करता जाएगा, वैसे–वैसे राष्ट्र की गुलामी का चित्र उसके सामने स्पष्ट होता जाएगा तथा उसकी देश को स्वतन्त्र करने की इच्छा प्रबल होती जाएगी। और उसका यह क्रम तब तक चलता रहेगा जब तक कि युवक न्याय, क्रोध और क्षोभ से ओतप्रोत अन्याय करनेवालों की हत्या न प्रारम्भ कर देगा। इस प्रकार देश में बम और पिस्तौल की राजनीति का जन्म होता है। बम और पिस्तौल सम्पूर्ण क्रांति नहीं और क्रांति भी बम और पिस्तौल के बिना पूर्ण नहीं। यह तो क्रांति का एक आवश्यक अंग है। इस सिद्धान्त का समर्थन इतिहास की किसी भी क्रांति का विश्लेषण कर जाना जा सकता है। बम और पिस्तौल आततायी के मन में भय पैदा कर पीड़ित जनता में प्रतिशोध की भावना जाग्रत कर उसे शक्ति प्रदान करता है। अस्थिर भावना वाले लोगों को इससे हिम्मत बँधती है तथा उनमें आत्मविश्वास पैदा होता है। इससे दुनिया के सामने क्रांति के उद्देश्य का वास्तविक रूप प्रकट हो जाता है क्योंकि यह किसी राष्ट्र की स्वतन्त्रता की उत्कट महत्त्वाकांक्षा का विश्वास दिलाने वाले प्रमाण हैं, जैसे दूसरे देशों में होता आया है, वैसे ही भारत में बम और पिस्तौल क्रांति का रूप धारण कर लेगा और अन्त में क्रांति से ही देश को सामाजिक, राजनैतिक तथा आर्थिक स्वतन्त्रता मिलेगी।

तो यह हैं क्रांतिकारियों के सिद्धान्त, जिनमें वह विश्वास करता है और जिन्हें देश के लिए प्राप्त करना चाहता है। इस तथ्य की प्राप्ति के लिए वह गुप्त तथा खुलेआम दोनों ही तरीकों से प्रयत्न कर रहा है। इस प्रकार एक शताब्दी से संसार में जनता तथा

शासक वर्ग में जो संघर्ष चला आ रहा है, वही अनुभव उसके लक्ष्य पर पहुंचने का मार्गदर्शक है। क्रांतिकारी जिन तरीकों में विश्वास करता है, वे कभी असफल नहीं हुए।

गॉधीजी ने क्रांतिकारियो की इसी विचारधारा को खण्डित करने के लिए 'द कल्ट ऑफ द बम' की विचारधारा का प्रतिपादन किया। क्रांतिकारियों का मानना है कि कोई व्यक्ति जनसाधारण की विचारधारा को केवल मंचों से दर्शन और उपदेश देकर नहीं समझ सकता। वह तो केवल इतना ही दावा कर सकता है कि उसने विभिन्न विषयों पर अपने विचार जनता के सामने रखे। क्या गाँधी जी ने इन वर्षों में आम जनता के सामाजिक जीवन में कभी प्रवेश करने का प्रयत्न किया? पर हमने यह किया है इसलिए हम दावा करते हैं कि हम आम जनता को जानते हैं। गाँधीजी घोषणा करते हैं कि अहिंसा के सामर्थ्य तथा अपने आप को पीड़ा देने की प्रणाली से उन्हें यह आशा है कि वे एक दिन विदेशी शासकों का हृदय परिवर्तन कर अपनी विचारधारा का उन्हें अनुयायी बना लेंगे। परन्तु क्या वे बता सकते हैं कि भारत में कितने शत्रुओं का हृदय–परिवर्तन कर वे उन्हें भारत का मित्र बनाने मे समर्थ हुए हैं ? वे कितने डायरों, रीडिंग और इरविन को भारत का मित्र बना सके हैं ? यदि किसी को भी नहीं तो भारत उनकी विचारधारा से कैसे सहमत हो सकता है कि वे इग्लैंड को अहिंसा द्वारा समझा–बुझाकर इस बात को स्वीकार करने के लिए तैयार करा लेंगे कि वे भारत को स्वतन्त्रता दे दे।

एक क्रांतिकारी सबसे अधिक तर्क में विश्वास करता है। किसी प्रकार का गाली–गलौज या निन्दा, चाहे फिर वह ऊँचे–से–ऊँचे स्तर से की गई हो, उसे वह अपनी निश्चित उद्देश्य प्राप्ति से वंचित नहीं कर सकती। यह सोचना कि यदि जनता का सहयोग न मिला या उसके कार्य की प्रशंसा न की गई तो वह अपने उद्देश्य को छोड़ देगा, निरी मूर्खता है। अनेक क्रांतिकारी, जिनके कार्यों की वैधानिक आंदोलनकारियों ने घोर निन्दा की, फिर भी वे उसकी परवाह न करते हुए फाँसी के तख्ते पर झूल गए। इसी उद्देश्य से भगत सिंह ने 1926 में पंजाब में क्रांतिकारियों के खुले संगठन 'भारत नौजवान सभा' के गठन में प्रमुख भूमिका निभाई। इस संगठन के वह संस्थापक महामंत्री थे। इस संगठन के तत्वावधान में भगत सिंह और सुखदेव ने छात्रों के बीच खुले तौर पर काम करने के लिए 'लाहौर छात्र संघ' का गठन किया। फाँसी पर चढ़ने के कुछ समय पहले 1931 में भगत सिंह ने कहा था – "किसानों और मज़दूरों को संगठित करना अब मुख्य काम होना चाहिए।"

लेकिन अब यहॉ एक सवाल उठता है कि तब फिर भगत सिंह और उनके क्रांतिकारी साथी व्यक्तिगत हिंसात्मक कार्रवाइयाँ क्यों करते थे ? इसका एक कारण था उनके विचारों में हो रहा लगातार तेजी से बदलाव। जो चीज़ दशकों में हासिल हो सकती थी, उसे वे कुछ ही सालों में हासिल करना चाहते थे। इसके अलावा किसी नई विचारधारा का प्रभावी ढंग से जनता के बीच में पैठ बनाना आनन–फानन में नहीं होता। यह कोई घटना नहीं है, जो कभी भी हो सकती हो। यह एक लम्बी ऐतिहासिक प्रक्रिया है। दूसरी बात, ये लोग इस उलझन में भी फँसे थे कि कहाँ से आएँगे ऐसे सैकड़ों लोग, जो घर–बार छोड़कर जनता के बीच पूरे समय के लिए काम कर सकें ? इनका चयन कैसे किया जाए ? इसके लिए उनके पास विकल्प क्या था? उन्हें लगा कि बलिदान देकर ही युवकों को आन्दोलित किया जा सकता है। उनका मानना था

कि कुछ चमत्कारिक एवं बहादुरी की कार्यवाइयों, उनके प्रचार तथा अदालतों में अपने बयानों के माध्यम से राजनीतिक विचारधारा और कार्यक्रमों के प्रचार से ही जन क्रांतिकारी दल के लिए कैडर तैयार किए जा सकेंगे।

भगत सिंह व उनके साथियों ने क्रांति को व्यापक ढंग से परिभाषित किया। अब क्रांति का अर्थ हिंसा या लड़ाकूपन ही नहीं था। इसका पहला उद्देश्य था – साम्राज्यवाद को उखाड़ फेंकना और उसके बाद समाजवादी समाज यानी एक ऐसे समाज की स्थापना, जहाँ व्यक्ति द्वारा व्यक्ति का शोषण न हो। 'द फिलॉसफी ऑफ़ द बम' में क्रांति को 'सामाजिक, राजनीतिक एवं आर्थिक स्वाधीनता' के रूप में परिभाषित किया गया था। इसका अर्थ था एक ऐसे समाज की स्थापना, जहाँ राजनीतिक व आर्थिक शोषण की कोई गुंजाइश न हो, 'एसेंबली बम कांड' में भगत सिंह ने अदालत में कहा था, "क्रांति के लिए रक्तरंजित संघर्ष जरूरी नहीं है, व्यक्तिगत बैर के लिए भी इसमें कोई जगह नहीं है। यह बम और पिस्तौल की उपासना नहीं है। क्रांति से हमारा तात्पर्य यह है कि अन्याय पर आधारित मौजूदा व्यवस्था समाप्त होनी चाहिए।" जेल से एक खत में उन्होंने लिखा था – "किसानों को सिर्फ विदेशी शोषकों से ही मुक्ति नहीं पानी है, बल्कि उन्हें ज़मींदारों और पूँजीपतियों के चंगुल से भी आजाद होना है।" 3 मार्च 1931 के अपने अंतिम संदेश में उन्होंने घोषणा की थी कि "भारत में संघर्ष तब तक चलता रहेगा, जब तक मुट्ठी भर शोषक अपने लाभ के लिए आम जनता के श्रम का शोषण करते रहेंगे। इसका कोई खास महत्त्व नहीं कि शोषक अँग्रेज़ पूँजीपति हैं या अँग्रेज़ और भारतीयों का गठबंधन है या पूरी तरह भारतीय है।" भगत सिंह ने समाजवाद को वैज्ञानिक ढंग से परिभाषित किया, जिसका अर्थ था पूँजीवाद और वर्ग–प्रभुत्व का पूरी तरह खात्मा।

राजनीति के दो क्षेत्रों में भगत सिंह ने महान प्रवर्तक की भूमिका निभाई। एक जागरूक, धर्मनिरपेक्ष क्रांतिकारी होने के नाते वह राष्ट्र और राष्ट्रीय आंदोलन के सम्मुख मौजूद सांप्रदायिकता के खतरे को पहचानते थे। अपने साथियों, श्रोताओं से वह बराबर कहा करते थे. कि सांप्रदायिकता उतनी ही खतरनाक है जितना उपनिवेशवाद। भगत सिंह धर्म और अंधविश्वास की जकड़न से जनता को मुक्त करने पर बहुत जोर देते थे। अपनी मौत से कुछ ही हफ्ते पहले उन्होंने एक लेख लिखा था – "मैं नास्तिक क्यों हूँ।' इसमें उन्होंने धर्म और धर्मदर्शन की खूब आलोचना की थी। उन्हीं के शब्दों में – "प्रगति के लिए संघर्षशील किसी भी व्यक्ति को अंधविश्वासों की आलोचना करनी ही होगी और पुरातनपंथी विचारों को चुनौती देनी ही होगी।" प्रचलित विश्वासों की हरेक कडी की प्रासंगिकता और सत्यता को परखना ही होगा।'' विपिन चन्द्र जैसे इतिहासकार यह मानते है कि नास्तिकता का रास्ता उन्होंने खुद तलाशा। वामपंथी इतिहासकारों द्वारा इस लेख का खूब प्रचार–प्रसार किया जाता है यह दिखाने के लिए कि भगत सिंह का आध्यात्म या धर्म से कोई सम्बन्ध नहीं था। लेकिन ये बात भी उतनी ही उल्लेखनीय है कि जेल में भी भगत सिंह के साथ गीता थी और वे उसका नियमित पाठ करते थे। उनकी गीता की प्रति आज भी उनके जन्मस्थान पर बने संग्रहालय में मौजूद है।

क्रांतिकारी राष्ट्रवाद का मूल्यांकन :

सत्ता के दमन ने धीरे–धीरे क्रान्तिकारी आन्दोलन का पराभव कर दिया। फरवरी 1931 ई0 में इलाहाबाद के एक पार्क में मुइभेड के दौरान चन्द्रशेखर आजाद के मारे जाने के बाद पंजाब, उत्तरप्रदेश और बिहार में क्रान्तिकारी आदोलन लगभग खत्म हो गया। दूसरी तरफ सूर्यसेन की शहादत से बंगाल में क्रांतिकारी राष्ट्रवाद का एक लम्बा और गौरवपूर्ण ध्याय समाप्त हो गया। सच तो यह है कि हर आन्दोलन और राजनीति की अपनी सीमाएँ होती है और उस समय भी क्रान्तिकारी आन्दोलन की भी अपनी सीमाएँ थी। प्रमुख बात तो यह भी है कि इनकी राजनीति भी जन आन्दोलन की राजनीति नहीं थी। ये जनता को राजनीतिक रूप से उद्वेलित करने में सफल नही हो सके। आम जनता से कोई खास सम्पर्क भी स्थापित नही कर सके।

क्रान्तिकारी आन्दोलन के पहले चरण के क्रान्तिकारी आमतौर पर भारतीय प्राचीन संस्कृति और हिन्दू धर्म के प्रति आस्थावान थे और उससे प्रेरणा ग्रहण करते थे। यह कोई आकस्मिक बात नही थी क्योंकि इसके ऐतिहासिक कारण थे। 19वीं शताब्दी के आठवें दशक में तरूण भारत के दिलों को एक नयी भावना मथ रही थी और शिक्षित युवक राजनीतिक दृष्टिकोण से सोचने लगे थे। एक नई किस्म का राष्ट्रवाद जन्म ले रहा था जो इस विचार से लैस और प्रेरित था कि पूरे राष्ट्रीय जीवन का पुनरूत्थान आवश्यक है। इस प्रकार कहीं न कहीं धर्म की एक सकारात्मक भूमिका अवश्य थी लेकिन अचेतन रूप से इसका प्रभाव यह हुआ कि राजनीति भी धर्म के रंग में रंगने लगी। क्रान्तिकारी आन्दोलन प्रथम विश्वयुद्ध के बाद जब दूसरे चरण में प्रवेश कर रहा था तो क्रान्तिकारियों ने धर्मनिरपेक्षता को अपना लिया। दूसरे चरण के क्रान्तिकारियों के लिए धर्म एक व्यक्तिगत और निजी मामला था।

द्वितीय चरण के क्रान्तिकारियों की यह सोच थी की गुलामी की अपमानजनक स्थिति के सामने समर्पण करने से बेहतर होता है चोट करना और नष्ट हो जाना। किसी न किसी को पहली चोट करनी ही पडती है। पहली चोट का कोई नतीजा नहीं निकलता और पहली चोट करने वाले ज्यादातर नष्ट हो जाते है लेकिन उनकी कुर्बानियॉ कभी बेकार नही जाती। झरना बढ़कर गरजता हुआ दरिया बन जाता है, चिंगारियॉ ज्वालामुखी बनती है, व्यक्ति समष्टि में एकाकार हो जाता है। पुरानी व्यवस्था की जगह एक नयी व्यवस्था आती है और सपना एक हकीकत का रूप ले लेता है। क्रान्तियॉ इसी तर्ज पर आगे बढती है और भारत का क्रान्तिकारी आन्दोलन भी इसी तर्ज पर आगे बढ़ा।

अपनी तमाम कमियों के बावजूद भारत के स्वाधीनता संघर्ष के इतिहास में इनके योगदान को विस्मृत नहीं किया जा सकता है। भारतीय क्रान्तिकारियों ने अकल्पनीय कठिनाईयों के बीच भी आधुनिक युग की सबसे बडी साम्राज्यवादी ताकत को चुनौती देने की जुर्रत की। उस युग के इन क्रान्तिकारी शूरवीरों ने अपने आत्मबलिदान और शहादत के माध्यम से न केवल चेतनविहिन देशवासियों को जगाया और उन्हे राष्ट्रीय स्वाधीनता और राजनीतिक अधिकारों से परिचित कराया बल्कि ब्रिटिश साम्राज्यवाद के विरूद्ध संगठित हथियारबंद संघर्ष के लिए जनता का आह्वान किया। इन

क्रान्तिकारियों का अदम्य साहस, अटूट प्रतिबद्धता, अनन्य राष्ट्रप्रेम और गौरवशाली बलिदान भारतीय जनता के लिए प्रेरणास्रोत बने और इन्होने देश में राष्ट्रीय चेतना का संचार किया। उनकी शहादतों ने उनके प्रति जनता की प्रशंसा को उभारकर विदेशी साम्राज्यवादी शासन के प्रति उसकी नफरत को और भी तीखा बनाया और उसके संघर्षशील साहस को और भी ऊँचा उठाया।

भारत से बाहर क्रान्तिकारी आन्दोलन का उदय
Rise of Revolutionary Movement outside India.

विदेशों में क्रान्तिकारी राष्ट्रवादी आन्दोलन –

भारत के बाहर भी क्रान्तिकारी क्रियाशील हुए। इंग्लैण्ड में श्यामजी कृष्ण वर्मा और वीर सावरकर ने, फ्रांस में मैडम कामा ने और अमेरिका में लाला हरदयाल ने क्रान्तिकारी राष्ट्रवाद के संगठन में अग्रणी भूमिका निभाई। विदेशों में आंदोलन के प्रचार–प्रसार का श्रेय सर्वप्रथम श्यामजी कृष्ण वर्मा को जाता है जो भारतीय क्रांतिकारी आंदोलन के अग्रणी नेताओं में से थे। वे तिलक की सिफ़ारिश पर लंदन गए थे और 1904–14 के बड़े ही नाजुक दौर में उन्होंने लंदन, पेरिस और जेनेवा में भारत की स्वतंत्रता के लिए बड़े ज़ोर–शोर से प्रचार अभियान चलाया था। इस कार्य में उनके सहयोगी थे – भाई परमानंद, मैडम कामा, विनायक दामोदर सावरकर आदि। कुछ अँग्रेज़ मित्रों की सहायता से उन्होंने 'इंडियन सोशियोलोजिस्ट' नाम से अपनी एक पत्रिका शुरू की ताकि इसके द्वारा भारतीय दृष्टिकोण को सामने रखा जा सके और भारतीयों की शिकायतों को प्रकाश में लाया जा सके। उन्होंने 1905 में होम रूल सोसाइटी तथा इंडिया हाउस की भी स्थापना की। फेलोशिप पर लंदन आने वाले भारतीय विद्यार्थियों को इन संस्थाओं में रहने की सस्ती जगह मिल जाती थी और साथ ही लंदन में रहने वाले भार

तीयों के लिए ये ऐसी जगहें हो गई थीं जहाँ वे एक–दूसरे से मिल सकते थे। श्यामजी कृष्ण वर्मा के नेतृत्व में होम रूल आंदोलन को इंग्लैंड में लोकप्रियता मिली और वह मजबूत हुआ। एक ही साल के अंदर इसकी सदस्य संख्या 119 हो गई। इंग्लैंड में लोकतांत्रिक चेतना तथा श्यामजी कृष्ण वर्मा द्वारा गठित राजनैतिक गतिविधियों से अनेक भारतीयों में सोई हुई राष्ट्रीय भावना जाग उठी। आरंभ से ही श्यामजी सक्रिय प्रतिरोध की अमोघ क्षमता के बारे में सहमत थे और वे इसे स्वतंत्रता प्राप्ति के लिए बड़ी प्रबल शक्ति मानते थे। आगे चलकर उन्होंने अपने लक्ष्य की प्राप्ति में शक्ति के इस्तेमाल का खुलकर प्रचार किया। उन्होंने यह प्रचारित किया कि भारत में अत्याचारी विदेशी शासन को हिंसक साधनों से ही समाप्त किया जा सकता है और इसका एकमात्र कारगर रास्ता है – रूसी पद्धति।

इस गुट के अन्य महत्त्वपूर्ण सदस्य थे – वीरेंद्रनाथ चट्टोपाध्याय, वी0 एस0 अय्यर, तिरुमल आचार्य आदि। जब जी0 एस0 खपरिडे, लाला लाजपत राय, लाला हरदयाल, राम भुजदत्त और विपिन चंद्र पाल, इंग्लैंड में आ गए तो लंदन एक सक्रिय केंद्र हो गया। यद्यपि हरदयाल को छोड़कर अन्य किसी ने हिंसा की नीति का समर्थन नहीं किया, फिर भी उनके भाषणों ने यूरोप में रहने वाले भारतीयों में क्रांति की चेतना फूँकी। जब जो ब्रिटिश अधिकारी भारत और उसके बाहर क्रांतिकारी गतिविधियों को कुचलने के लिए अनुचित तरीक़े अपना रहे थे उन्हें आतंकित करने की नीति अपनाने के लिए इन भारतीय क्रांतिकारियों ने ऐसे अधिकारियों को अपने मार्ग से हटाने का निश्चय किया। उन्होंने लॉर्ड कर्ज़न, लॉर्ड किचनर तथा सर कर्ज़न वायली' (जो

भारतीय मामलों के सेक्रेटरी आफ़ स्टेट के राजनैतिक परिसहायक या ए०डी०सी० थे) की हत्या की योजना बनाई।

विदेशों में इन क्रांतिकारी समूहों की गतिविधियों ने भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन के बारे में जागरूकता बढ़ाने, समर्थन जुटाने और भारत के बाहर रहने वाले भारतीयों के बीच राष्ट्रवाद की भावना को बढ़ावा देने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। उन्होंने भारतीय स्वतंत्रता के उद्देश्य का समर्थन करने और समग्र क्रांतिकारी आंदोलन में योगदान देने के लिए अंतर्राष्ट्रीय नेटवर्क और गठबंधन बनाने की मांग की।

विदेश में क्रांतिकारी गतिविधियाँ – पृष्ठभूमि

20वीं सदी की शुरुआत में विदेशों में क्रांतिकारी गतिविधियाँ विभिन्न कारकों और घटनाओं से प्रभावित थीं। प्रथम विश्व युद्ध के फैलने के साथ निर्वासन में भारतीय क्रांतिकारियों को ब्रिटिश साम्राज्य की शत्रु विदेशी शक्तियों से सहायता मांगने का अवसर मिला। उन्होंने समर्थन के लिए जर्मन सरकार से संपर्क किया, यह आशा करते हुए कि ब्रिटेन के साथ जर्मनी के संघर्ष का उपयोग भारत के लाभ के लिए किया जा सकता है। सरदार अजीत सिंह और सूफी अंबा प्रसाद ने प्रथम विश्व युद्ध के दौरान ब्रिटिश सेना द्वारा पराजित भारतीय सैनिकों को एकजुट करने के लिए मध्य पूर्व की यात्रा की। उनका उद्देश्य उन्हें भारत में ब्रिटिश शासन को उखाड़ फेंकने के उद्देश्य में शामिल होने के लिए प्रेरित करना था। राजा महेंद्र प्रताप ने प्रथम विश्व युद्ध के दौरान अफगानिस्तान में एक इंडो–जर्मन मिशन का नेतृत्व किया। अफगानिस्तान में, उन्होंने भारत के स्वतंत्रता संग्राम के लिए समर्थन जुटाने की आशा के साथ निर्वासन में एक स्वतंत्र सरकार की स्थापना की। 1914 में कामागाटामारू घटना ने क्रांतिकारी गतिविधियों को और बढ़ावा दिया। भारतीय आप्रवासियों, मुख्य रूप से सिक्खों के एक समूह को ले जाने वाले जहाज को भेदभावपूर्ण आप्रवासन कानूनों के कारण कनाडा में प्रवेश से वंचित कर दिया गया था। इस घटना से यात्रियों के बीच विरोध और विरोध फैल गया, जिससे ब्रिटिश अधिकारियों के साथ तनाव पैदा हो गया। पंजाब में क्रांतिकारी राष्ट्रवादियों ने अमृतसर, जालंधर और लुधियाना जैसे शहरों में राजनीतिक अत्याचार किये। इन कृत्यों का उद्देश्य ब्रिटिश शासन को अस्थिर करना और क्रांतिकारी उद्देश्य के लिए समर्थन जुटाना था। इसके अतिरिक्त घरेलू और अंतर्राष्ट्रीय दोनों तरह की क्रांतिकारी गतिविधियों को कई सीमाओं का सामना करना पड़ा। उनका नेतृत्व मुख्य रूप से शिक्षित मध्यम वर्ग द्वारा किया गया और उन्हें व्यापक आबादी से महत्वपूर्ण समर्थन नहीं मिला। इसके अतिरिक्त, आंदोलन में उचित संगठन और समन्वय का अभाव था, और ब्रिटिश सरकार ने क्रांतिकारी गतिविधियों को दबाने के लिए कठोर उपाय अपनाए।

यह ध्यान देने योग्य है कि 1945 में सुभाष चंद्र बोस की मृत्यु ने द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान धुरी शक्तियों से समर्थन प्राप्त करने के उनके प्रयासों का अंत कर दिया। इसके बाद भारत में क्रांतिकारी गतिविधियाँ धीरे–धीरे कम हो गईं।

विदेश में क्रांतिकारी गतिविधियाँ – विशेषताएँ

.20वीं सदी की शुरुआत में विदेशों में क्रांतिकारी गतिविधियों की कई विशिष्ट विशेषताएं थीं जिसका उल्लेख निम्नलिखित रूप से किया जा सकता है –

केन्द्रों एवं समितियों की स्थापना – भारतीय क्रांतिकारियों ने विदेशों में विभिन्न स्थानों पर केन्द्रों एवं समितियों की स्थापना की। श्यामजी कृष्ण वर्मा ने 1905 में लंदन में इंडियन होम रूल सोसाइटी की स्थापना की, जिसे 'इंडिया हाउस' के नाम से भी जाना जाता है। इसने भारतीय छात्रों और बुद्धिजीवियों के लिए एक सभा स्थल के रूप में कार्य किया, भारत के कट्टरपंथी युवाओं के लिए छात्रवृत्ति प्रदान की, और 'द इंडियन सोशियोलॉजिस्ट' प्रकाशित किया। पत्रिका और इन केंद्रों ने क्रांतिकारी चर्चा, योजना और आयोजन के लिए एक मंच प्रदान किया।

क्रांतिकारी साहित्य पर ध्यान – भारतीय क्रांतिकारियों के लिए विदेश यात्रा करने की प्रमुख प्रेरणाओं में से एक क्रांतिकारी साहित्य को प्रकाशित और प्रसारित करने का अवसर था। ब्रिटिश–नियंत्रित क्षेत्रों के बाहर रहकर वे प्रेस अधिनियमों को दरकिनार कर सकते थे, जो ब्रिटिश शासन की आलोचना करने वाले प्रकाशनों पर प्रतिबंध लगाते थे। साहित्य के प्रकाशन और वितरण ने क्रांतिकारी विचारों को फैलाने और समान विचारधारा वाले व्यक्तियों को प्रेरित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

प्रमुख क्रांतिकारियों को शामिल करना – विदेशों में क्रांतिकारी केंद्रों ने उल्लेखनीय क्रांतिकारियों को सदस्य के रूप में आकर्षित किया। विनायक दामोदर सावरकर, लाला हरदयाल और मदनलाल ढींगरा जैसी शख्सियतें लंदन में इंडिया हाउस से जुड़ी थीं। इन व्यक्तियों ने क्रांतिकारी आंदोलन को आकार देने और ब्रिटिश अधिकारियों के खिलाफ कार्रवाई करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

सुरक्षित स्थानों पर स्थानांतरण – ब्रिटिश निगरानी और दमन की तीव्रता के कारण क्रांतिकारियों के लिए लंदन से दूसरे शहरों में स्थानांतरित होना आवश्यक हो गया। लंदन तेजी से खतरनाक होता गया, जिससे क्रांतिकारी गतिविधियाँ पेरिस, जिनेवा और बर्लिन जैसे अन्य यूरोपीय शहरों में स्थानांतरित हो गईं। इससे क्रांतिकारियों को अपेक्षाकृत सुरक्षित वातावरण में अपना काम जारी रखने की अनुमति मिल गई।

अंतर्राष्ट्रीय संबंध और गठबंधन – विदेशों में भारतीय क्रांतिकारियों ने सक्रिय रूप से विदेशी समाजवादियों, बुद्धिजीवियों और उपनिवेशवाद–विरोधी कार्यकर्ताओं के साथ गठबंधन और संपर्क की मांग की। उन्होंने उन व्यक्तियों और संगठनों के साथ सहयोग किया जिन्होंने स्वतंत्रता और क्रांति के अपने लक्ष्यों को साझा किया। इस अंतर्राष्ट्रीय नेटवर्किंग ने वैश्विक स्तर पर स्वतंत्रता के लिए भारतीय संघर्ष के बारे में जागरूकता बढ़ाने में मदद की।

रणनीतिक उद्देश्यों के लिए निर्वासन का उपयोग – क्रांतिकारियों ने अपने निर्वासन का उपयोग भारत की मुक्ति के लिए संसाधन और समर्थन इकट्ठा करने के लिए किया। उन्होंने विदेशों में सहानुभूति रखने वाले व्यक्तियों और सरकारों से हथियार, धन और राजनीतिक समर्थन मांगा। निर्वासन ने उन्हें ब्रिटिश शासन के खिलाफ कार्रवाई की योजना बनाने और समन्वय करने का अवसर भी प्रदान किया।

कुल मिलाकर, विदेशों में क्रांतिकारी गतिविधियों ने भारतीय क्रांतिकारियों को संगठित होने, साहित्य प्रकाशित करने, नेटवर्क स्थापित करने और अपने उद्देश्य के लिए सहायता प्राप्त करने का अवसर प्रदान किया। इन गतिविधियों ने क्रांतिकारी आंदोलन

को आकार देने और भारत के स्वतंत्रता संग्राम के लिए अंतर्राष्ट्रीय जागरूकता और समर्थन पैदा करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

इंडियन होम रूल सोसाइटी (1905)

1905 में लंदन में श्यामजी कृष्ण वर्मा द्वारा स्थापित इंडियन होम रूल सोसाइटी वास्तव में एक महत्वपूर्ण भारतीय राष्ट्रवादी आंदोलन था। इसका उद्देश्य ब्रिटिश साम्राज्य के भीतर भारत के लिए स्व–शासन या घरेलू शासन की अवधारणा की वकालत करना था। सोसायटी ने भारतीय छात्रों और बुद्धिजीवियों को राष्ट्रवादी विचारों पर चर्चा करने और उन्हें बढ़ावा देने के लिए एक मंच प्रदान किया और इसने क्रांतिकारी आंदोलन को आकार देने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

इण्डियन होमरूल सोसायटी के सदस्यों का पहला निशाना बने – कर्ज़न वायली। अमृतसर से आए इंजीनियरिंग के एक विद्यार्थी श्री मदन लाल ढींगरा ने 1 जुलाई, 1909 को उन्हें अपनी गोली से मार गिराया। ढींगरा ने अपनी अंतिम इच्छा यह व्यक्त की कि उनके अंतिम संस्कार हिंदू धर्मविधि के अनुसार संपन्न किए जाएँ। किंतु इंडिया हाउस ने उनकी यह छोटी सी माँग भी ठुकरा दी जिससे उसकी ह्रदयहीनता का संकेत मिलता है। 17 अगस्त, 1909 को ढींगरा का दाह–संस्कार कर दिया गया। भारत के कई नेताओं – वी०सी० पाल, सुरेंद्रनाथ बनर्जी, गोखले इत्यादि ने शहीद मदनलाल ढींगरा की कड़े शब्दों में निंदा की, मगर कई अँग्रेज़ राजनीतिज्ञों ने उनकी प्रशंसा की और आयरलैंड के अखबारों ने उन्हें श्रद्धांजलि अर्पित करते हुए लिखा – "मदनलाल ढींगरा को, जिन्होंने अपने देश की ख़ातिर अपना जीवन न्योछावर कर दिया, आयरलैंड अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करता है।" डब्लयू0 एस0 ब्लण्ट ने अपनी डायरी में लिखा – "लोग इसे राजनैतिक हत्या कहते हैं जब कि ऐसा कहना उनकी ही लक्ष्य–सिद्धि के लिए घातक है, पर यह बकवास है। यह तो बस स्वार्थी शासकों को इस बात का विश्वास दिलाने के लिए चौका देने वाली कार्यवाही थी कि स्वार्थ में भी निर्लज्जता की एक सीमा होती है।

कर्ज़न वायली की हत्या को ब्रिटिश सरकार ने गंभीर रूप में लिया। इंग्लैंड के राजा ने एक पत्र में गवर्नर–जनरल को चेतावनी दी कि वे ऐसे युवकों को उस देश में न आने देने के लिए क़दम उठाएँ क्योंकि ये वहाँ जाकर अंग्रेज़ों के प्रति विद्रोह की शिक्षा ही लेते थे।

मगर भारत में सरकारी जुल्म के बावजूद हिंसा की घटनाएँ होती रहीं। भारत और भारत से बाहर जो एक के बाद एक हत्या की घटनाएँ हुईं उनके अधिकारियों को यह प्रमाण मिल गया कि भारत तथा भारत से बाहर की क्रांतिकारी समितियों में घनिष्ठ संबंध है। यद्यपि संगठित राजनैतिक दलों में से कोई भी इन हत्याओं की कार्यवाही में शामिल नहीं था, फिर भी भारत की ब्रिटिश सरकार इस बात से सहमत थी कि ब्रिटिश अधिकारियों की हत्या के पीछे गहरी साज़िश है। आगे चलकर जब नासिक में जैक्सन की हत्या कर दी गई तो उनका डर पक्का हो गया क्योंकि इस हत्या में लंदन गुट द्वारा भेजी गई बाटनिंग पिस्तौलों में से एक का उपयोग किया गया था। भारत सरकार के आदेश पर दामोदर सावरकर को गिरफ्तार करके भारत भेज दिया गया और नासिक षड्यंत्र मुक़द्दमें में उन्हें सजा हो गई।

प्रथम विश्व युद्ध के दौरान इंडिया हाउस द्वारा स्थापित नेटवर्क भारत में राष्ट्रवादी क्रांतिकारी गतिविधियों के लिए महत्वपूर्ण साबित हुआ। भारत में ब्रिटिश शासन को चुनौती देने के प्रयासों को संगठित करने और समन्वय करने में समाज द्वारा प्रदान किए गए संपर्क और समर्थन महत्वपूर्ण थे।

कुल मिलाकर, इंडियन होम रूल सोसाइटी एक महत्वपूर्ण राष्ट्रवादी आंदोलन था जिसने भारतीय बुद्धिजीवियों, छात्रों और कार्यकर्ताओं को भारत के लिए स्वशासन के विचार को बढ़ावा देने के लिए एक मंच प्रदान किया। इसका प्रभाव लंदन से आगे तक बढ़ा, इसके सदस्यों ने यूरोप, अमेरिका और भारत में अपना राष्ट्रवादी कार्य जारी रखा और भारतीय स्वतंत्रता के लिए व्यापक संघर्ष में योगदान दिया।

सावरकर पर मुक़द्दमा चलने के बाद लंदन गुट ने यह महसूस किया कि ब्रिटिश–विरोधी गतिविधियाँ ज़ारी रखने के लिए अब लंदन कोई सुरक्षित जगह नहीं है, अतः वे वहाँ से पेरिस या अन्य यूरोपीय राजधानियों में चले गए। इन नेताओं में प्रमुख थे – चट्टोपाध्याय, अय्यर और लाला हरदयाल। इन लोगों ने क्रांतिकारी साहित्य का प्रचार किया, यूरोपीय महाद्वीप की क्रांतिकारी एजेंसियों से संपर्क स्थापित किए अपना लक्ष्य प्राप्त करने के लिए योजनाएँ बनाई और देश के अंदर क्रांतिकारी गतिविधियों को संगठित करने के लिए भारत को हथियारों की सप्लाई की। पेरिस इंडियन सोसायटी से जुड़े हुए प्रमुख भारतीय थे– मैडम भीखाजी कामा, एस0 एस0 राणा, एम0पी0टी0 आचार्य, के0 आर0 कोटवाल आदि। भारत में भी हत्याओं का क्रम जारी रहा। 13 नवम्बर, 1909 को लॉर्ड और लेडी मिंटो की गाड़ी पर अहमदाबाद में बम फेंका गया। इस समय वाइसराय लॉर्ड मिंटो, जो कंज़र्वेटिव पार्टी के थे, और लॉर्ड मार्ले में, जो लिबरल पार्टी के थे, मतभेद हो गए। लॉर्ड मिंटो दमन की नीति अपनाना चाहते थे और मार्शल लॉ लागू करना चाहते थे क्योंकि मिंटो–मार्ले सुधार के बावजूद भारत की स्थिति में कोई सुधार नहीं हुआ था, मगर लॉर्ड मालें इस पक्ष में नहीं थे। उन्होंने लिखा– "मार्शल लॉ को, जो कि सभी क़ानूनों को निलंबित कर देने का एक बेहतरीन नाम है, लागू कर देने से भारत में हत्या–संगठनों का उससे अधिक सफ़ाया नहीं हो पाएगा जितना कि इसी तरह के संगठनों का इटली, रूस अथवा आयरलैंड में हो सका"।'

गदर आन्दोलन, 1913 –

भारत और यूरोप से क्रांतिकारी आंदोलन कनाडा और अमरीका भी पहुँचा। अमेरिका के सेण्ट फ्रांसिसको के एस्टोरिया में 1913 में स्थापित गदर पार्टी ने भारतीय स्वतंत्रता संग्राम में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई जिसे इतिहास में गदर आन्दोलन के नाम से जाना जाता है। यह संयुक्त राज्य अमेरिका में प्रवासी भारतीयों द्वारा स्थापित एक राजनीतिक क्रान्तिकारी संगठन था। गदर पार्टी का गठन वास्तव में मुख्य रूप से सिक्खों द्वारा संचालित था। सोहन सिंह भाखना, करतार सिंह, अब्दुल मुहम्मद बराकतुल्ला और रास बिहारी बोस जैसे प्रमुख नेताओं ने संयुक्त राज्य अमेरिका और कनाडा में एक भारतीय राजनीतिक संगठन के लिए आधार तैयार करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। गदर पार्टी का प्रमुख उद्देश्य विदेशों में रहने वाले भारतीयों को एकजुट करना और ब्रिटिश औपनिवेशिक शासन को उखाड़ फेकने के लिए भारत में क्रान्ति जगाना था।

गदर आन्दोलन भारत में ब्रिटिश शासन को उखाड़ फेंकने के लिए प्रवासी भारतीयों का अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक आन्दोलन था। 20वीं सदी की शुरूआत में बढ़ते भारतीय स्वतंत्रता संग्राम के कारण न केवल भारतीय उपमहाद्वीप में बल्कि उसी क्षेत्र से आने वाले दुनिया भर के छात्रों और प्रवासियों के बीच भी राष्ट्रवादी भावनाओं का उदय हुआ। लाला हरदयाल जिनका जन्म 14 अक्टूबर 1884 को हुआ था और तारकनाथ जैसे क्रान्तिकारी बुद्धिजीवियों ने इन छात्रों को राष्ट्रवादी विचार प्रदान करते हुये संगठित करने का प्रयास किया।

गदर पार्टी, जिसे शुरू में पेसिफिक कोस्ट हिंदुस्तान एसोसिएशन नाम दिया गया था, का गठन 15 जुलाई 1913 को संयुक्त राज्य अमेरिका में लाला हर दयाल, पंडित काशीराम, भाई परमानंद, करतार सिंह सराबा और रामचन्द्र, बाबा ज्वाला सिंह, संतोष सिंह और सोहन सिंह भाखना के नेतृत्व में किया गया था। इसके अध्यक्ष लाला हरदयाल थे। गदर पार्टी को संयुक्त राज्य अमेरिका, कनाडा, पूर्वी अफ्रीका और एशिया में रहने वाले भारतीय प्रवासियों के बीच एक बड़ा समर्थन आधार मिला।

प्रथम विश्वयुद्ध से पूर्व उत्तरी अमरीका का पश्चिमी सागर तट पंजाबी आप्रवासियों का स्थायी घर बनने लगा था। भारी संख्या में पंजाबी किसान रोजी–रोटी कमाने का साधन ढ़ूँढने की तलाश में यहाँ आकर बसने लगे थे। इनमें ज्यादातर ब्रिटिश सेना के सेवानिवृत्त सैनिक थे। आर्थिक संकटों और बाहर जाकर एक सुखी जीवन जीने के सपनों ने इन्हें विदेश जाने के लिए उत्प्रेरित किया। लेकिन इनका भावुक सपना सच्चाई से बहुत दूर था। इनमें से ज़्यादातर को कनाडा और अमरीका में घुसने नहीं दिया गया, क्योंकि इनमें से अधिकांश लोग पश्चिमी सभ्यता के तौर–तरीकों से अनभिज्ञ थे। कनाडा की सरकार भारतीय आप्रवासियों (immigrants) के ख़िलाफ़ रंगभेद की नीति अपनाने लगी थी। भारतीय लोगों को तानों और निरादर का सामना करना पड़ता था और कनाडा और अमरीका के मज़दूर उनको अकेला पाकर हमला करते थे। भारतीय लोगों ने महसूस किया कि भारत के उपनिवेश होने के कारण उनका इतना निरादर होता है। अपने गोरे प्रतिपक्षियों (Counterpart) की तुलना में वे स्पष्ट ही कम वेतन पर काम करने के लिए तैयार हो जाते थे जिससे उन्हें संगठित क्षेत्र के अमरीकी तथा कनाडाई कामगारों के क्रोध का भी शिकार होना पड़ा। जिन्हें बसने की इजाज़त मिली वे जातीय द्वेष के शिकार हुये क्योंकि गोरे मजदूर इन्हें फटी आँखों नहीं देखना चाहते थे। इसलिए गोरे मजदूरों और उनके संगठनों ने भारतीयों के प्रवेश के खिलाफ आंदोलन छेड़ दिया। अंग्रेजी हुकूमत के पक्षधर इन देश के सौतेले व्यवहार से भारतीय बहुत क्षुब्ध हुये और यही से उनके मन में राजनीतिक संघर्ष की पृष्ठभूमि तैयार होने लगी। विभिन्न संगठनों और पत्र–पत्रिकाओं के माध्यम से इन भारतीयों में राष्ट्रीय चेतना जागृत करने का प्रयास किया गया।

अमेरिका में राजनीतिक माहौल खुला होने के कारण शीध्र ही वह राजनीतिक गतिविधियों का केन्द्र बन गया। लाला हरदयाल, जो यहॉ राजनीतिक निर्वासन का जीवन व्यतीत कर रहे थे, ने एक परचा 'युगान्तर' जारी किया जिसमें लार्ड हार्डिंग पर हमले को उचित ठहराया गया। इससे प्रभावित होकर आप्रवासीय भारतीयों ने लाला हरदयाल को अपना नेता चुन लिया। लाला हरदयाल ने लोगों से अपील करते हुये कहा कि – यहॉ जो आजादी मिली है, उसका इस्तेमाल अंग्रेजों से लडने में किजिए।

जबतक आप अपने देश में आजाद नही हो जाते आपके साथ यहॉ भी समान व्यवहार नही किया जायेगा। भारत की गरीबी और पतन के लिए अंग्रेजी हुकूमत ही जिम्मेदार है, अतः उसे सशस्त्र विद्रोह से उखाड फेकिये। इस सन्देश को घर–घर पहुॅचाइये। आप सब लोग भारत जाइए और जनता का समर्थन प्राप्त किजिए।

लाला हरदयाल की इस अपील का असर हुआ और शीध्र ही एक समिति का गठन करते हुये एक साप्ताहिक अखबार 'गदर' निकालने तथा इसे निःशुल्क बॉटने का निर्णय लिया गया। इस प्रकार लाला हरदयाल के नेतृत्व में गदर आन्दोलन की शुरूआत हुई और आन्दोलनकारियों ने बडे पैमाने पर प्रचार कार्य शुरू किया। 1 नवम्बर 1913 ई0 को 'गदर' का पहला अंक उर्दू में प्रकाशित हुआ। हर अंक के पहले पृष्ठ पर छपता था– 'अंग्रेजी राज का दुश्मन', ''अंग्रेजी राज का कच्चा चिट्ठा''। यह कच्चा चिट्ठा बहुत ही सरल भाषा में लिखा जाता था और साथ ही सावरकर, अरविन्द घोष, मैडम कामा, बाल गंगाधर तिलक, श्यामजी कृष्ण वर्मा, अजीत सिंह आदि के विचार व लेख छापे जाते थे, जो भारतीयों को संघर्ष की प्रेरणा देते थे। गदर में छपी कविताओं ने जनता को सबसे अधिक प्रभावित किया जिसे बाद में 'गदर की गूॅज' नाम से इन कविताओं का एक संकलन प्रकाशित हुआ और इसे निःशुल्क बॉटा गया। इस प्रकार गदर आन्दोलन ने बहुत जल्द आप्रवासियों को अपना समर्थक बना लिया। गदर का संदेश लोगों के दिलों तक पहुॅचा और युवक संघर्ष के लिए मचलने लगे। इन्होंने पहली बार गुरिल्ला युद्ध के द्वारा भारत को स्वतंत्र कराने की योजना बनाई। महायुद्ध के शुरू होने पर ग़दर पार्टी के नेताओं ने भारत वापस आकर विद्रोह को योजनाबद्ध तरीक़े से चलाने का फ़ैसला किया। इस समय अँग्रेज़ तथा भारतीय सेना की कई टुकड़ियाँ यूरोप और एशिया में लड़ रही थीं और ग़दर नेताओं ने इस संकट का लाभ उठाना चाहा। भारत वापस जाने वाले साथियों को संबोधित करते हुए रामचंद्र ने कहा : "तुम्हें क्या करना है, यह स्पष्ट है। भारत जाओ और देश के कोने–कोने में विद्रोह भड़का दो। अमीरों को लूटों और ग़रीबों की मदद करो। इस तरह पूरी दुनिया की सहानुभूति प्राप्त करो। भारत पहुँचने पर तुम्हें हथियार दे दिए जाएँगे। हथियार न मिल पाएँ तो राइफ़ल प्राप्त करने के लिए पुलिस चौकियों को लूटो। अपने नेताओं की आज्ञा का बिना किसी झिझक के पालन करो"।

इसी बीच हरदयाल को अराजकतावादी गतिविधियों के आरोप में 25 मार्च 1914 को गिरफ्तार कर लिया गया। जमानत पर छूटने के बाद वे चुपके से देश से बाहर चले गये और गदर आन्दोलन को उनका सहयोग फिलहाल समाप्त हो गया। प्रथम विश्वयुद्ध के दौरान गदर आन्दोलन की भावी रणनीति को कामागाटामारू काण्ड ने सबसे अधिक प्रभावित किया।

कामागाटामारू प्रकरण –

कनाडा सरकार ने एक ऐसा आप्रवासी कानून बनाया था, जिसके तहत केवल वही भारतीय कनाडा जा सकता था, जो भारत से सीधे कनाडा आया हो। यह बहुत ही सख्त कानून था, क्योंकि उन दिनों ऐसी कोई नौपरिवहन व्यवस्था नहीं थी जो इस तरह के जलमार्ग से किसी को कनाडा पहुँचाती। लेकिन नवंबर 1913 में कनाडा की सुप्रीम कोर्ट ने ऐसे 35 भारतीयों को कनाडा में प्रवेश की इजाजत दे दी, जो लगातार यात्रा करके नहीं आए थे। अदालत के इस फ़ैसले से उत्साहित होकर सिंगापुर में

ठेकेदारी का काम कर रहे एक भारतीय नागरिक गुरदीत सिंह ने किराए पर एक जहाज लेकर दक्षिण व पूर्व एशिया में इधर–उधर रह रहे भारतीय नागरिकों को लेकर बैंकोवर जाने का फैसला किया। 376 यात्रियों से लदा कामागाटामारू जहाज़ बैंकोवर की ओर चल पड़ा। जापान के याकोहामा शहर में गदर क्रांतिकारी इन यात्रियों से मिले औरे चेतावनी दी गई कि यदि इन भारतीयों को कनाडा में प्रवेश की अनुमति नहीं मिली तो इसके गंभीर परिणाम होंगे। बैंकोंवर में कुछ अखबारों ने इसे कनाडा का अतिक्रमण बताया। इसी बीच कनाडा सरकार ने आप्रवासी कानून की उन खामियों को दूर कर लिया जिसके चलते अदालत ने 35 भारतीयों को कनाडा में प्रवेश की इजाजत दी थी। इस तरह संघर्ष की रूपरेखा तैयार कर ली गई थी।

जहाज़ जब बैंकोवर के पास पहुँचा तो इसे बंदरगाह से दूर ही रोक दिया गया और पुलिस ने घेराबंदी कर ली। यात्रियों के अधिकारों के लिए लड़ने के उद्देश्य से कई विरोध बैठकें होने लगीं और भारत में अँग्रेज़ी हुकूमत के खिलाफ विद्रोह की धमकी दी गई। इनके लिए अन्य देशों में भी प्रभावी आंदोलन छेड़ा गया और भारतीयों से विद्रोह के लिए तैयार होने को कहा गया। लेकिन कनाडा सरकार पर इसका कोई असर न हुआ और कामागाटामारू को कनाडा की जल–सीमा से बाहर कर दिया गया। जब तक यह जहाज याकोहामा पहुँचता, प्रथम विश्वयुद्ध छिड़ गया। अँग्रेज़ी हुकूमत ने आदेश दिया कि जहाज़ को सीधे कलकत्ता लाया जाए और किसी भी यात्री को कहीं भी उतरने न दिया जाए। यह जहाज़ जिस–जिस बंदरगाह से होकर गुज़रता अँग्रेज़ी हुकूमत के खिलाफ भारतीय जनता के मन में नफ़रत की आग सुलगती। किसी तरह जहाज़ जब कलकत्ते के पास पहुँचा, तो पुलिस को देखकर पहले से ही परेशान और क्षुब्ध यात्री अपने क्रोध पर काबू न पा सके और पुलिस से जमकर संघर्ष हुआ। 18 यात्री मारे गए, 202 जेल भेज दिए गए और कुछ निकल भागने में कामयाब रहे। यह समस्त प्रकरण भारतीय इतिहास में कामागाटामारू काण्ड के नाम से प्रसिद्ध है।

प्रथम विश्वयुद्ध और गदर आन्दोलन –

प्रथम विश्वयुद्ध के शुरू होते ही गदर आन्दोलनकारियों को एक और सुनहरा मौका मिला हालांकि इसके लिए वे पूरी तरह तैयार नहीं थे। आनन–फानन में बड़े नेताओं की एक बैठक बुलाई गई, और फैसला किया गया कि हिंदुस्तान में जाकर भारतीय सैनिकों से मदद ली जाए। गदर पार्टी ने 'ऐलान–ए–जंग' अर्थात युद्ध की घोषणा कर दी। गदर पार्टी से जुडे कई नेताओं ने प्रवासी भारतीयों के बीच जा–जाकर सभाएँ की और उनसे हिंदुस्तान जाकर सशस्त्र विद्रोह करने का अनुरोध किया। जापान, फिलीपीन, चीन, हांगकांग, मलाया, सिंगापुर व बर्मा में रहनेवाले भारतीयों को भी समझा–बुझाकर भारत भेजने के लिए कई नेता इन देशों में भेजे गए। कुछ अति उग्रपंथी नेता जैसे करतार सिंह सराभा व रघुवीर दयाल गुप्त पहले ही भारत पहुँच चुके थे। इनमें से करतार सिंह सराभा को गदर षड्यंत्र में शामिल होने के आरोप में फाँसी दे दी गई थी।

दूसरी तरफ गदर आंदोलनकारियों को कुचलने के लिए अंग्रेजी हुकूमत ने कमर कस ली थी। जैसे ही प्रवासी भारतीय हिदुस्तान में दाखिल होते, इनकी पूरी जाँच–पड़ताल की जाती, जिनसे खतरा दिखाई देता उन्हें इस आदेश के साथ छोड़ा जाता कि वे अपने गाँव छोड़कर कहीं नहीं जाएँगे। हुकूमत ने जिन्हें बहुत खतरनाक समझा, उन्हें

गिरफ्तार कर लिया। अनुमान है कि लगभग 8000 प्रवासी भारतीय स्वदेश लौटे, फ़रवरी 1915 तक 189 व्यक्ति नज़रबंद किए गए और 704 व्यक्तियों को अपने ही गाँव में रहने का आदेश दिया गया। श्रीलंका और दक्षिण भारत के रास्ते से आनेवाले तमाम लोग प्रशासन को चकमा देकर पंजाब पहुँच गए। ये गाँव–गाँव घूमे, जनसभाएँ कीं, लेकिन जैसा ग़दर क्रांतिकारियों ने सोचा था, पंजाबी ग़दर क्रांतिकारियों का साथ देने को क़तई तैयार नहीं थे। जनता के इस व्यवहार से क्षुब्ध ग़दर आंदोलनकारी अब भारतीय सैनिकों का समर्थन प्राप्त करने की कोशिशें करने लगे। नवंबर 1914 में अँग्रेज़ी हुकूमत के खिलाफ सैनिक विद्रोह के कई प्रयास किए गए, लेकिन किसी संगठित नेतृत्व और केंद्रीय नियंत्रण के अभाव में ये तमाम प्रयास विफल हो गए। अन्ततः रासबिहारी बोस ने नेतृत्व सँभालना स्वीकार कर लिया और जनवरी 1915 में वह पंजाब पहुँच गए। इनके प्रयास से सैनिक विद्रोह के लिए तैयारी प्रारंभ हुई लेकिन समय से पहले ही सी0आई0डी0 को सब कुछ पता चल गया। सरकार ने पहले से ही इन आंदोलनकारियों को धर दबोचने की तैयारी कर ली। ज्यादातर नेता गिरफ्तार कर लिए गए लेकिन रासबिहारी बोस किसी तरह बच निकलने में सफल रहे। इस तरह व्यावहारिक रूप से ग़दर आंदोलन समाप्त हो गया। सरकार ने दमनात्मक कार्रवाइयाँ और तेज़ कर दीं। पंजाब में चले षड्यंत्र के मुकद्दमों में 42 क्रांतिकारियों को फांसी दी गई और लगभग 200 क्रांतिकारियों को लंबी सजा। इस तरह पंजाब के समूचे राष्ट्रीय नेतृत्व का एक तरह से गला घोंट दिया गया।

स्पष्ट है कि गदर आन्दोलन अपने लक्ष्य को प्राप्त करने में सफल नही हो सका। वस्तुतः ग़दर आंदोलन की अपनी खामियाँ थीं। किसी सशस्त्र विद्रोह के लिए कितनी तैयारी, कितना पैसा, कैसा संगठन चाहिए और कब कैसी रणनीति अपनाई जानी चाहिए, इसका ठीक–ठीक' अनुमान वे नहीं लगा सके। प्रथम विश्वयुद्ध इतनी जल्दी छिड़ जाएगा, इसकी उन्हें आशंका नहीं थी। जैसे ही प्रथम विश्वयुद्ध प्रारंभ हुआ, ग़दर आंदोलनकारी भी अपनी ताकत और संगठन का आंकलन किये बिना अँग्रेज़ी हुकूमत के ख़िलाफ़ मैदान में उतर पड़े। भारत में अँग्रेजी हुकूमत की ताकत को भी उन्होंने कम करके आँका। उन्हें लगा कि हिंदुस्तान की जनता विद्रोह के इंतज़ार में बैठी है, बस उसे ललकारने भर की ज़रूरत है। जैसे ही ललकारा उन्हे उत्प्रेरित किया जायेगा, भारत की जनता अँग्रेज़ी हुकूमत को उखाड़ फेंकेगी। ग़दर आंदोलन ने किसी ऐसे नेतृत्व को भी जन्म नहीं दिया, जो इसे निरंतरता प्रदान करता। लाला हरदयाल को ऐसे समय पर अमरीका छोड़ना पड़ा जब उनकी वहाँ बहुत ज़रूरत थी। इससे ग़दर आंदोलनकारियों का न तो कोई संगठन रह गया, न कोई नेता। सही समझ, प्रभावी नेतृत्व और मज़बूत संगठन के अभाव में यह आंदोलन समाप्त हो गया। प्रथम विश्व युद्ध, के समापन पर गदर पार्टी एक कम्युनिस्ट और एक समाजवादी गुट में विभाजित हो गई। इस झटके के बावजूद गदर पार्टी स्वतंत्रता संग्राम के कई क्रांतिकारियों के लिए प्रेरणा का स्रोत था, उनमें से सबसे उल्लेखनीय भगत सिंह थे।

लेकिन इसका अर्थ यह नहीं कि ग़दर आंदोलन निरर्थक था, या वह पूरी तरह असफल रहा। केवल लक्ष्य को पैमाना मानकर ही किसी आंदोलन की सफलता या विफलता आँकना गलत है। सफलता या विफलता का पैमाना तत्कालीन समाज की राजनीतिक चेतना की बढ़त और संघर्ष के लिए नई रणनीतियों और तरीक़ों का विकास भी होता है। यदि इन मुद्दों पर इस आंदोलन को तौला जाए तो यह कहना पड़ेगा कि भारत की

आज़ादी की लड़ाई में गदर आंदोलन की भूमिका व उसकी उपलब्धि सराहनीय थी। गदर क्रांतिकारियों में किसी तरह की क्षेत्रीय भावना भी नहीं थी। लोकमान्य तिलक, अरविंद घोष, खुदीराम बोस, कन्हाईलाल दत्त व सावरकर जैसे कांतिकारी नेता गदर आन्दोलनकारियों के आदर्श थे। गदर आन्दोलन के प्रणेता लाला हरदयाल का एक और महत्त्वपूर्ण योगदान यह था कि उन्होंने ग़दर क्रांतिकारियों को अंतर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण अपनाने को प्रेरित किया और उन्हें अंतर्राष्ट्रीय दृष्टि दी। गदर आंदोलन की सबसे बड़ी विशेषता तो यह है कि इसने उपनिवेशवाद के खिलाफ वैचारिक संघर्ष छेड़ा। शुरुआती दौर के राष्ट्रवादी नेताओं ने अँग्रेज़ी हुकूमत के औपनिवेशिक चरित्र का जो विश्लेषण और पर्दाफाश किया था, उसे गदर आन्दोलन ने ही सीधी–साधी परंतु प्रभावशाली भाषा में भारतीय आप्रवासी जन समूह तक पहुँचाया। इस व्यापक प्रचार के प्रयास के फलस्वरूप ही ऐसे उत्साही राष्ट्रवादियों का आविर्भाव हुआ जो देश के लिए सब–कुछ न्यौछावर करने को तैयार थे। गदर आंदोलन को अत्यधिक वीरता, कड़ी मेहनत, परिश्रम की कहानी के रूप में वर्णित किया जा सकता है जिसने दूर–दराज के तटों पर बसे हर भारतीय के दिल को छू लिया।

सिंगापुर विद्रोह, 1915 –

सिंगापुर विद्रोह, जिसे 1915 का सिपाही विद्रोह या 5वीं लाइट इन्फैंट्री का विद्रोह भी कहा जाता है, प्रथम विश्व युद्ध के दौरान गदर पार्टी से प्रेरित सिंगापुर में हुआ एक महत्वपूर्ण विद्रोह था। इस इन्फैंट्री के लगभग 700 लोगों ने 15 फरवरी, 1915 को जमादार चिश्ती खान, जमादार अब्दुल गनी और सूबेदार दाउद खान के नेतृत्व में सिंगापुर में विद्रोह कर दिया। विद्रोहियों ने ब्रिटिश और वफादार सेनाओं के साथ भीषण युद्ध किया लेकिन अंततः एक तीखी लड़ाई के बाद वे मारे गये। ब्रिटिश अधिकारियों ने सख्ती से जवाब दिया और परिणामस्वरूप 37 व्यक्तियों को सार्वजनिक रूप से फॉसी पर लटका दिया गया। 41 को विद्रोह में शामिल होने की सजा के रूप में जीवन भर के लिए जेल में डाल दिया गया।

सिंगापुर विद्रोह इस अवधि के दौरान हुए कई विद्रोहों में से एक था, क्योंकि ब्रिटिश साम्राज्य के तहत सेवारत भारतीय सैनिक अपने उपचार और उनके सामने आने वाली स्थितियों से निराश हो गए थे। सिंगापुर में विद्रोह का स्थानीय और क्षेत्रीय राजनीतिक परिदृश्य पर महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ा और भारतीय सैनिकों के बीच बढ़ती अशांति और असंतोष पर प्रकाश डाला गया।

विद्रोह का भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन पर भी प्रभाव पड़ा, क्योंकि इसने राष्ट्रवादी भावनाओं और उपनिवेशवाद–विरोधी प्रतिरोध को और बढ़ावा दिया। सिंगापुर विद्रोह की घटनाओं ने औपनिवेशिक शासन की जटिलताओं और औपनिवेशिक शक्तियों और उनके अधीन सेवारत सैनिकों के बीच तनाव को रेखांकित किया। कुल मिलाकर, 1915 का सिंगापुर विद्रोह उपनिवेशवाद और भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन के इतिहास में एक महत्वपूर्ण घटना के रूप में खड़ा है, जो ब्रिटिश शासन के खिलाफ प्रतिरोध के क्षण और प्रथम विश्व युद्ध के दौरान भारतीय सैनिकों द्वारा सामना किए गए संघर्ष का प्रतिनिधित्व करता है।

कुछ अन्य महत्वपूर्ण घटनाएँ –

इसी समय, बर्लिन में बसे कुछ भारतीय आंदोलनकारी, जिनका संपर्क अमरीका में ग़दर क्रांतिकारी रामचंद्र से था, जर्मनी की मदद से विदेशों में तैनात भारतीय सैनिकों से संपर्क करने और उन्हें विद्रोह के लिए तैयार करने की कोशिश करने लगे। जर्मनी की सहायता से, 1 दिसम्बर 1915 ई0 को काबुल में भी राजा महेंद्रप्रताप के नेतृत्व में एक अस्थायी और अंतरिम भारत सरकार की स्थापना की गई जिसमें प्रथम विश्वयुद्ध के दौरान केन्द्रीय शक्तियों के समर्थन से भारतीय स्वतंत्रता समिति की स्थापना की गई थी। इनके मंत्रिमंडल के अन्य सदस्य थे – मौलाना अब्दुल्ला, मौलाना बशीर, सी० पिल्ले, शमशेर सिंह, डॉ० मथुरा सिंह, खुदाबख़्श और मुहम्मद अली । बरकतुल्ला प्रधानमंत्री चुने गए। इस अंतरिम सरकार का प्रमुख उद्देश्य भारतीय आन्दोलन के लिए कट्टर अमीरों के साथ–साथ रूस, चीन और जापान से समर्थन हासिल करना था। इस अंतरिम सरकार को अफगान सरकार से आंतरिक प्रशासन से महत्वपूर्ण समर्थन मिला। हालॉकि रिच ने खुले समर्थन की घोषणा करने से इन्कार कर दिया। अंतरिम सरकार ने सहायता के लिए कई देशों की सरकारों से संपर्क किया और राजा महेंद्र प्रताप लेनिन से भी मिलने गए। लेकिन इस तरह की तमाम कोशिशों का कोई खास नतीजा नहीं निकला और अन्ततः ब्रिटिश सरकार के दबाव में इसे 1919 में अफगानिस्तान से वापस लेने के लिए मजबूर किया गया। इस प्रकार सशस्त्र विद्रोह के बल पर अँग्रेजी हुकूमत को उखाड़ फेंकने का लक्ष्य पूरा न हो सका।

इसी तरह हिज्रत आंदोलन भी भारत में शुरू किया गया और कई मुसलमान युवक भारत की सीमा पार कर अफ़गानिस्तान और तुर्किस्तान पहुँचे और वहाँ खुदाई सेना की स्थापना की। इनकी कार्रवाइयों में से एक रेशमी रूमाल षड्यंत्र भी था। रूमाल पर प्लान लिखकर एक नौकर के हाथ भारत भेजा गया मगर नौकर अमृतसर पहुँचने पर घबरा गया और उसने क्रांतिकारी तंत्र से संबंधित व्यक्ति को देने के बजाय रूमाल अपने मालिक को दे दिया। मालिक डिप्टी कमिश्नर का मित्र था और उसने यह रेशमी रूमाल उसके हवाले कर दिया जिससे सरकार को इस षड्यंत्र का पता चल गया और उन्होंने कथित लोगों को गिरफ़्तार कर लिया। इस प्रकार यह षड्यंत्र भी कामयाब नहीं हुआ।

विनायक दामोदर सावरकर देश में क्रान्ति की आग लगाकर उसकी ज्वाला को प्रज्वलित करने के लिए लन्दन गये। लन्दन जाते समय उन्होने अपने साथियों से कहा था – ''मैं विदेश जाकर भारत के धनी और योग्य विद्यार्थियों में प्रचार करूंगा। वे लोग जब बैरिस्टर आदि बनकर भारत लौटेंगे तो देश भर में क्रान्ति मचा देंगे। मैं शत्रु के गढ़ में आकर भारतीय शक्ति का लोहा दिखाऊँगा। मैं रूसी आतंकवादियों से बम और पिस्तौल बनाना सीखूँगा। इस तरह से भारतीय स्वतंत्रता शीघ्र ही हाथ में आ जाएगीं।'' सावरकर जी ने पहले 'इण्ड़िया हाउस' में रहकर काम किया फिर 'अभिनव भारत' के द्वारा फ्रांस, जर्मनी और रूस में भारतीय स्वतंत्रता का प्रचार किया।

वीर सावरकर ने लन्दन में अंग्रेजों को ईंट का उत्तर पत्थर से दिया। 1907 ई0 में अंग्रेजों ने 1867 की क्रान्ति में सफलता प्राप्त करने के उपलक्ष में 'अर्द्ध शताब्दी मनाई। सावरकर के लिए यह झूठा प्रदर्शन सर्वथा असहनीय हो गया। इसकी प्रतिक्रिया में उन्होने 8 मई 1908 ई0 को 'इण्डिया हाउस' में 1857 ई0 का स्वतंत्रता दिवस मनाया

और 1857 की क्रांति को सफलता का प्रथम सोपान सिद्ध किया। सावरकर का यह गौरवपूर्ण काम निश्चय ही अंग्रेजों के देश में अंग्रेजों की छाती पर मूँग दलने के समान साबित हुआ।

एक क्रान्तिकारी नेता वीरेन्द्रनाथ चट्टोपाध्याय ने जर्मनी के विदेश कार्यालय की सहायता से बर्लिनवासी भारतीयों की एक समिति बनाई और स्वयं उसके सचिव बने। यह समिति 'भारतीय स्वतन्त्रता समिति' के नाम से जानी गई। वीरेन्द्रनाथ और समिति ने बगदाद, इस्तम्बूल, पर्शिया और काबुल में अपने प्रचारक मण्डल भेजे जिन्होंने भारतीय सेना की टुकड़ियों और भारतीय युद्ध–बन्दियों के बीच काम किया।

मूल्यांकन –

इस प्रकार विदेशों में बसे तमाम नवयुवकों ने ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध विद्रोह का झंडा फहराए रखा और अपने साहस और त्याग से अपनी देशभक्ति का सबूत दिया। यद्यपि विदेशों में हुये भारतीय क्रांतिकारी आन्दोलन भी धीरे–धीरे ठंडा पड गया। वास्तव में एक राजनीतिक अस्त्र के रूप में आन्दोलन की असफलता निश्चित थी। इसने जनता को गतिमान नही बनाया और वास्तव में जनता के साथ इनका भी कोई आधार नही था लेकिन फिर भी राष्ट्रवाद के विकास में क्रांतिकारियों का बहुमूल्य योगदान रहा। हालॉकि राजनीतिक रूप से अधिकांश लोग क्रांतिकारियों के राजनीतिक दृष्टिकोण से सहमत न थे फिर भी ये क्रांतिकारी अपनी वीरता के कारण अपने देशवासियों में बेहद लोकप्रिय हुये।

विदेशी धरती पर हुये इन क्रान्तिकारी आंदोलनों का यदि हम सिंहावलोकन करें यह साफ़ ज़ाहिर होता है कि इनकी तकनीक और तरीक़े एक जैसे थे। इनका यह विश्वास था कि अहिंसा और शांतिमय ढंग से आज़ादी नहीं मिल सकती। ये ब्रिटिश सरकार के अफ़सरों और उनकी सहायता करने वालों के मन में आतंक पैदा करना चाहते थे ताकि वे महसूस करें कि उनका जीवन यहाँ सुरक्षित नहीं है और वे इस दबाव में आकर देश छोड़कर चले जाएँ। 1913–1918 के दौरान क्रांतिकारियों, विशेषकर गदर पार्टी ने महसूस किया कि सिर्फ़ आतंक से अँग्रेज़ों को नहीं निकाला जा सकता। उन्होंने एक प्रकार के गुरिल्ला युद्ध के आधार पर योजना बनाई और सेना को भी अपने साथ लेना चाहा, मगर जैसा हमने देखा, इनके नेता भी अनुभवी नहीं थे और अधिकतर क्रान्तिकारी विचारधारा के ही अनुयायी रहे। देश को आज़ाद कराने के लिए इन्होंने विदेशी सरकारों से सहायता लेने में संकोच नहीं किया और ग़दर पार्टी में इस आधार पर फूट भी पड़ गई।

इस आंदोलन की दूसरी महत्त्वपूर्ण विशेषता यह थी कि ये लोग देश को आजाद तो करवाना चाहते थे मगर स्वतंत्रता के पश्चात् कैसा समाज बनाना चाहिए इस पर उन्होंने कोई ध्यान नहीं दिया। ये मतवाले देशभक्त थे मगर आज़ादी के बाद जनजीवन को बदलने और सामाजिक परिवर्तन लाने के बारे में वे चिंतित नहीं थे जिसके कारण वे भारत की जनता को अपने साथ नहीं ले पाए, विशेषकर उस समय जब सभी मुख्य पार्टियाँ भारत सरकार के साथ थीं। इन्हीं कारणों से इस समय के कई क्रांतिकारी, जैसे लाला हरदयाल और भाई परमानंद, हिंदू राष्ट्रवादी बने मगर ग़दर पार्टी के कई

नेता, जो बाद में रूसी क्रांति से प्रभावित हुए, साम्यवादी बने और उहोंने दूसरे चरण की क्रांति और साम्यवादी आंदोलन में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई ।

फिर भी इन वीरों की स्वतंत्रता संग्राम में महत्त्वपूर्ण भूमिका है। इन्होंने बलिदान और मौत से जूझने का जो साहस दिखाया और जिस तरह ये देश की ख़ातिर हँसते–हँसते अपनी जान गँवाई और फाँसी के तख्ते पर लटके उससे देश के युवकों पर बहुत प्रभाव पड़ा और आने वाले वर्षों में उन्होंने आगे बढ़कर स्वतंत्रता आंदोलन में भाग लिया।

मैडम भीकाजी कामा –

भीकाजी रुस्तम कामा भारतीय स्वतंत्रता संग्राम की एक प्रमुख हस्ती थीं। भीकाजी कामा (Bhikaji Cama), जिन्हें मैडम कामा के नाम से भी जाना जाता है, एक मजबूत और साहसी महिला थीं जिन्होंने भारत की आजादी की लड़ाई में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई थी। वह पहली भारतीय थीं जिन्होंने विदेशी धरती पर गर्व से हमारे देश का झंडा फहराया और दुनिया को आजादी के प्रति हमारा दृढ़ संकल्प दिखाया। इस कार्य के लिए उन्हें 'भारतीय क्रांति की जननी' कहा जाने लगा। भीकाजी कामा न केवल एक बहादुर कार्यकर्ता थीं बल्कि एक प्रतिभाशाली लेखिका भी थीं। उन्होंने 'बंदे मातरम्' और 'तलवार' जैसी प्रभावशाली किताबें लिखीं और साझा कीं, जिन्होंने कई लोगों को स्वतंत्रता आंदोलन में शामिल होने के लिए प्रेरित किया। हमारे राष्ट्र के प्रति उनका समर्पण और योगदान वास्तव में अमूल्य है।

भीकाजी कामा का जन्म 24 सितंबर, 1861 ई0 को सोराबजी फ्रामजी पटेल और उनकी पत्नी जयजीबाई सोराबाई पटेल के घर हुआ था। उनके पिता पेशे से एक व्यापारी थे, हालांकि पारसी समुदाय के एक प्रभावशाली सदस्य होने के साथ–साथ उन्होंने कानून का प्रशिक्षण भी लिया था। वह एलेक्जेंड्रा गर्ल्स इंग्लिश इंस्टीट्यूशन में पढ़ती थी और कथित तौर पर एक मेहनती छात्रा थी। 3 अगस्त 1885 को उनका विवाह उन्होंने रुस्तम कामा से हुआ। इस समय भीकाजी कामा ने अपना अधिकांश समय सामाजिक कार्यों में बिताया। वर्ष 1896 ई0 में बम्बई में प्लेग फेलने के बाद भीकाजी कामा ने इसके मरीजों की सेवा की थी। बाद में वह खुद भी इस बीमारी की चपेट में आ गई थी लेकिन शीध्र ही वह स्वस्थ हो गई। उन्हे आराम और आगे के इलाज के लिए यूरोप जाने की सलाह दी गई थी। वर्ष 1902 ई0 में वह इसी सिलसिले में लंदन गई और वहॉ भी उन्होने भारतीय स्वाधीनता संग्राम के लिए काम जारी रखा।

भारतीय स्वतंत्रता संग्राम में भूमिका –

अपनी लंदन यात्रा के दौरान, भीकाजी कामा की मुलाकात भारतीय राष्ट्रवादी श्यामजी कृष्ण वर्मा से हुई, जो हाइड पार्क में दिए गए अपने भाषणों के लिए जाने जाते थे। इसी समय उनकी मुलाकात दादाभाई नौरोजी के निजी सचिव से भी हुई। बाद में भीकाजी कामा पेरिस चली गईं जहां उन्होंने पेरिस इंडियन सोसाइटी की स्थापना की। मुंचेरशाह बुर्जोरजी गोदरेज और एसआर राणा इस सोसायटी के सह–संस्थापक थे।

निर्वासन के दौरान स्वतंत्रता के लिए लड़ रहे प्रवासी भारतीयों के साथ हाथ मिलाते हुए, उन्होंने स्वतंत्रता आंदोलन के लिए साहित्य लिखा और वितरित किया। उनके द्वारा वितरित कार्यों में से एक में 'बंदे मातरम' की प्रतियां शामिल थीं, जिसे भारत में ब्रिटिश सरकार द्वारा प्रतिबंधित कर दिया गया था। उनके द्वारा रचा गया साहित्य पांडिचेरी में फ्रांसीसी उपनिवेश के माध्यम से भारत तक पहुंचा।

भीकाजी कामा ने 1907 में जर्मनी के स्टटगार्ट में ब्रिटिश उपनिवेशवाद के विनाशकारी प्रभावों के बारे में विस्तार से बात की। इन प्रभावों में लगातार अकाल और भारी कर शामिल थे जिन्होंने भारतीय अर्थव्यवस्था को तहस–नहस कर दिया था। उन्होने कहा कि – भारत में ब्रिटिश शासन जारी रहना मानवता के लिए कलंक है। एक महान देश भारत के हितों को इससे भारी क्षति पहुँच रही है। उन्होने लोगों से भारत को दासता से मुक्ति दिलाने में सहयोग की अपील की और भारतवासियों का आह्वान किया कि – ''आगे बढ़ो, हम हिन्दुस्तानी है और हिन्दुस्तान हिन्दुस्तानियों का है।'' इसी अन्तर्राष्ट्रीय समाजवादी कांग्रेस में उन्होने भारत के लिए ब्रिटिश ध्वज देखा था। मैडम कामा को यह स्वीकार नहीं था इसलिए उन्होंने एक नया झंडा बनाया और "स्वतंत्रता ध्वज" का खुलासा किया। इस झंडे को भीकाजी कामा और साथी कार्यकर्ता विनायक दामोदर सावरकर ने डिजाइन किया था। यह ध्वज भारत के वर्तमान राष्ट्रीय ध्वज के अग्रदूत के रूप में कार्य करता था।

1909 में कर्जन वायली की हत्या के बाद, लंदन में अधिकारियों ने वहां रहने वाले भारतीय राष्ट्रवादियों पर कार्रवाई शुरू कर दी। भीकाजी कामा उस समय पेरिस में थीं और अंग्रेजों ने फ्रांसीसी सरकार द्वारा उन्हे प्रत्यर्पित करने का अनुरोध किया लेकिन फ्रांसीसी सरकार ने इनकार कर दिया। कथित तौर पर व्लादिमीर लेनिन ने उन्हें वर्षों बाद सोवियत संघ में रहने के लिए आमंत्रित किया, लेकिन तब स्वयं उन्होंने मना कर दिया।

प्रथम विश्व युद्ध शुरू होने पर जब फ्रांस और ब्रिटेन सहयोगी बन गए तो स्थितियों ने एक जटिल मोड़ लेना शुरू कर दिया। फ्रांसीसियों ने अपने नए गठबंधन को बनाये रखने की इच्छा रखते हुये भारत के स्वतंत्रता सेनानियों की गतिविधियों को प्रतिबंधित कर दिया। परिणामस्वरूप कई लोगों ने फ्रांस छोड़ दिया, जबकि भीकाजी कामा वहीं रुक गईं। उन्हें रेवाभाई राणा के साथ बोर्डो में भारतीय सैनिकों को उकसाने की कोशिश करते समय गिरफ्तार कर लिया गया था। राणा को कैरेबियन में निर्वासित कर दिया गया था, जबकि भीखाजी कामा को 1915 में दक्षिणी फ्रांस भेज दिया गया था। उनके खराब स्वास्थ्य के कारण, उन्हें बोर्डो में अपने निवास पर लौटने की अनुमति दी गई थी, बशर्ते कि वह स्थानीय पुलिस स्टेशन में साप्ताहिक आधार पर रिपोर्ट करें।

भीकाजी कामा का यूरोप में निर्वासन 1935 तक जारी रहा। इस दौरान उन्हें एक स्ट्रोक के कारण लकवा मार गया, जिसके कारण उन्होंने ब्रिटिश सरकार से घर लौटने की अनुमति देने के लिए याचिका दायर की। अंग्रेज़ इस शर्त पर सहमत हुए कि उन्होंने स्वतंत्रता–संबंधी कोई भी गतिविधि नहीं करने का वादा किया था। भीकाजी कामा नवम्बर 1935 ई0 में सर काउजी जहांगीर के साथ बंबई पहुंचीं, जिन्होंने उनकी ओर से याचिका दायर की थी। 74 वर्ष की आयु में, 13 अगस्त 1936 को पारसी

जनरल अस्पताल में भीकाजी कामा का निधन हो गया। चिरनिद्रा में सोने से पहले उनके मुख से निकले अंतिम शब्द 'वन्दे मातरम्' थे।

भीकाजी कामा को भारतीय राष्ट्रीय ध्वज फहराने वाली पहली भारतीय होने का गौरव प्राप्त है। जिस ध्वज को मूल रूप से डिज़ाइन किया गया था वह एक खाका होगा जिस पर भारतीय राष्ट्रीय ध्वज के अन्य संस्करण आधारित होंगे। एक उत्साही स्वतंत्रता कार्यकर्ता होने के साथ–साथ, वह महिला अधिकारों और सार्वभौमिक मताधिकार की भी समर्थक थीं। जो झंडा उन्होंने स्टटगार्ट में फहराया था, उसे अन्य राष्ट्रवादियों द्वारा भारत में तस्करी कर लाया गया था। आज इसे पुणे की मराठा और केसरी लाइब्रेरी में प्रदर्शित किया गया है।

विनायक दामोदर सावरकर (1883–1966) –

क्रांतिकारियों की गतिविधियों एवं कार्यप्रणाली को पूरी तरह से जानने के लिए प्रमुख क्रान्तिकारी वीर सावरकर (विनायक दामोदर सावरकर) के विचारों और कार्य–कलापों का संक्षेप में वर्णन करना तर्क संगत प्रतीत होता है।

विनायक दामोदर सावरकर, जिनको जनता वीर सावरकर कहती थी, एक महान् क्रान्तिकारी व्यक्ति थे, जिनके हृदय में हिन्दू, हिन्दू राष्ट्र और हिन्दू समाज के प्रति अगाध प्रेम था। हिन्दुत्व से उन्हें असीम प्यार था, लेकिन संकीर्ण साम्प्रदायिक विचारों से ऊपर उठे हुए थे और हिन्दुओं तथा मुसलमानों में प्रेम एवं सामंजस्य का वातावरण देखना चाहते थे। उनका दोष यही था कि वे हिन्दुओं के हितों पर आघात सहन नहीं कर सकते थे, हिन्दुओं को दीन–हीन नहीं देख सकते थे। वीर सावरकर ने 20वीं शताब्दी के प्रारम्भिक दशक में अपने साहसिक राजनीतिक कार्यों द्वारा अमर ख्याति प्राप्त की।

प्रारंभिक जीवन –

वीर सावरकर का जन्म 28 मई 1883 ई0 को महाराष्ट्र में नासिक के समीप भागुर गॉव के एक मध्यमवर्गीय परिवार में हुआ था। उन्होने 6 वर्ष की आयु में गॉव के विद्यालय में प्रवेश लिया और उनका बचपन अपने पिता से रामायण और महाभारत की कहानियॉ और राष्ट्रवादी नेताओं के बारे में गाथागीत सुनते हुये बीता। 1901 ई0 में सावरकर ने फर्ग्युसन कॉलेज, पूना में प्रवेश लिया। जन्म से ही प्रतिभावान सावरकर में कविता रचना की विलक्षण क्षमता थी और 10 वर्ष की आयु में ही उनकी कविताएँ सुप्रसिद्ध समाचारपत्रों में प्रकाशित हुई थी।

बाल्यावस्था में ही विनायक सावरकर लोगों की वेदनाओं के बारे में बहुत सचेत थे। वह अकाल और प्लेग जैसी महामारियों के कारण भावनात्मक रूप से द्रवित हो उठे। इसमें ब्रिटिश शासन के कटु व्यवहार और ज्यादतियों ने आग में घी का काम किया। ऐसे वातावरण में सावरकर उद्वेलित हो उठे। उन्होने अंग्रेजों को अपनी मातृभूमि से निकाल

कर भारत को आजाद कराने के शहीदों के अधूरे लक्ष्य को पूरा करने के लिए अपने परिजनों और मित्रों तक की कुर्बानी देने का प्रण किया।

अपने विद्यार्थी काल में ही मात्र 16 वर्ष की आयु में 1899 ई0 में उन्होंने 'मित्र–मेला' नामक क्रान्तिकारी दल संगठित किया जिसका मूल उद्देश्य भारत की सम्पूर्ण राजनीतिक स्वतंत्रता प्राप्त करना था। बाद में इस संगठन का नाम बदलकर 'अभिनव भारत' रख दिया गया। 1905 में जब स्वदेशी आन्दोलन की धूम मची तो सावरकर ने पूना में विदेशी कपड़ों की होली जलाई और अपनी क्रान्तिकारी गतिविधियों से सरकार का ध्यान अपनी ओर आकर्षित किया। 1906 से 1910 तक सावरकर ने इंग्लैण्ड में अध्ययन किया। वहाँ इण्डिया हाउस में डेरा जमाकर उन्होंने हॉस्टल के छात्रों में क्रान्तिकारी भावनाएँ भर दीं। सावरकर ने इण्डिया हाउस, लन्दन को भारतीय क्रान्ति का एक गढ़ बना लिया। सावरकर पहले ऐसा नेता थे जिन्होने भारत के स्वतंत्रता संग्राम के लिए अन्तर्राष्ट्रीय समर्थन के महत्व को महसूस किया। उन्होंने 8 मई, 1908 को इण्डिया हाउस लन्दन में स्वतन्त्रता दिवस मनाया। 1857 का आन्दोलन अंग्रेजों के विरुद्ध कोरा विद्रोह नहीं था बल्कि स्वाधीनता संघर्ष था, इसे साबित करने के लिए उन्होंने '1857 का स्वाधीनता संग्राम' (Indian War of Independence, 1857) नामक पुस्तक लिखी जिसे ब्रिटिश सरकार ने जब्त कर लिया।

मार्च 1910 में सावरकर को क्रान्तिकारी और हिंसात्मक गतिविधियों के आरोप में लन्दन में गिरफ्तार कर लिया गया। जब उन्हें भारत लाया जा रहा था तो वे जलयान से समुद्र में कूद पड़े और बच निकले, लेकिन फ्रांस की भूमि पर उन्हें पुनः गिरफ्तार कर लिया गया और भारत लाया गया। दो अभियोगों के जुर्म में मात्र 27 वर्ष की छोटी सी आयु में उन्हें पृथक्–पृथक् आजीवन कारावास अर्थात काला पानी का दण्ड मिला। ये दोनों अवधियाँ क्रमशः एक के बाद दूसरी चलने वाली थीं, अर्थात् सावरकर को पचास वर्ष कैद खाने में बिताने थे। यह एक अपूर्व दण्डादेश था जिसका उदाहरण विश्व के राजनीतिक इतिहास में नहीं मिलता। सावरकर को दण्ड देकर अण्डमान निर्वासित कर दिया गया जहाँ उन्हें काफी यातनाएँ भोगनी पड़ीं। कारागार का जीवन जो 1911 से 1924 तक चला, बेहद कठिनाईयों भरा था। उन्हे कोल्हू के बैल की भॉति जोता जाता था और यहॉ तक कि उन्हे निर्धारित मात्रा में अधिक पानी भी नहीं दिया जाता था। उनके साथ किये गये कठोर वर्ताव के कारण उनका स्वास्थ्य लगातार गिरता चला गया।

जेल से छूटने के बाद सावरकर समाज सुधार का कार्य पूरी गंभीरता से करने लगे। उन्होनें जातिवाद और अस्यपृश्यता के विरुद्ध युद्ध छेड़ा और अन्तर्जातीय विवाह, समुद्र यात्रा और पुनः धर्म–परिवर्तन से जुड़ी वर्जना के विरुद्ध जम कर लिखा। वह अस्यपृश्य बच्चों के लिए न्यायसंगत, नागरिक, मानवीय और वैध अधिकारों को सुनिश्चित कर पाये और उन्होने पब्लिक स्कूलों में अस्पृश्य बच्चों को उच्च जाति के बच्चों के साथ बिठाया। सावरकर ने सच्चे दिल से अस्पृश्यों की मुक्ति के लिए डा0 भीमराव अम्बेड़कर के संघर्ष का समर्थन किया।

दिसम्बर 1937 में वे अहमदाबाद अधिवेशन में हिन्दू महासभा के अध्यक्ष चुने गए। तत्पश्चात पॉच लगातार वर्षों के लिए उन्होने महासभा की अध्यक्षता की। अध्यक्षता के तीन वर्षों में वीर सावरकर ने हिन्दुओं में हिन्दू राष्ट्रवाद और संगठन की भावना का

संचार करने के लिए अथक परिश्रम किया। जब स्वतंत्रता निकट आ गई और यह स्पष्ट हो गया कि भारत का विभाजन होगा तो सावरकर ने विभाजन का कड़ा विरोध किया। सावरकर की भारत की संकल्पना ऐसी थी जहॉ सभी नागरिकों के जाति, वंश, प्रजाति या धर्म का भेदभाव किये बिना समान अधिकार और कर्तव्य हो, बशर्ते वे देश के प्रति पूर्ण समर्पण की भावना रखें। उनका मानना था कि सभी नागरिकों को विचार–अभिव्यक्ति, अंतरात्मा, पूजा–पाठ, संगठन की स्वतंत्रता आदि मूलभूत अधिकार समान रुप से दिये जायॅ। संयुक्त मतदाता वर्ग और 'एक व्यक्ति एक मत' सामान्य नियम हो। नौकरियॉ केवल योग्यता के आधार पर ही मिले और प्राथमिक शिक्षा निःशुल्क एवं अनिवार्य हो।

वीर सावरकर ने अर्थव्यवस्था के महत्व को भी समझा और आर्थिक नीति के लिए कुछ मुख्य सिद्धान्तों के सुझाव दिये जिनमें अन्य बातों के साथ–साथ कृषक वर्ग, श्रमिक वर्ग और गॉवों को पुनः सक्रिय बनाने हेतु प्रयास करना, कुछ प्रमुख उद्योगों अथवा विनिर्माण ईकाईयों का राष्ट्रीयकरण करना और विदेशी स्पर्धा से राष्ट्रीय उद्योगों की रक्षा करने के लिए राज्य द्वारा उठाये जाने वाले कदम भी शामिल थे।

सावरकर की साहित्यिक कृतियॉ जोश, उत्कृष्टता और आदर्शवाद से परिपूर्ण थीं। मैजिनी के दर्शन से अत्यधिक प्रभावित होकर सावरकर ने उनकी आत्मकथा का मराठी में अनुवाद किया जो चालीस वर्ष तक प्रतिबंधित रही। अंडमान जेल में लेखन सामग्री के अभाव में उन्होने जेल की अपनी कोठरी की दीवारों पर अपनी कविताऍ लिखी। उनके कविता संग्रह को ठीक ही 'जंगली फूल' का शीर्षक दिया गया है। यद्यपि ये रचनाऍ अपने आप में पूर्ण है, तथापि 'कमला', 'गोमांतक', 'सप्तऋषि', 'महासागर' अपूर्ण महाकाव्य के भाग है। उनकी अन्य कविताऍ 'चेन', 'सेल', 'चैरियट फेस्टिवल ऑफ लार्ड जगन्नाथ', 'ओह स्लीप' तथा 'आन डेथबेड' दार्शनिकता पर आधारित है। वीर सावरकर की प्रसिद्ध कृतियॉ ''हिन्दुत्व'' तथा ''हिन्दू–पद–पादशाही'' मराठा उपनाम से रत्नागिरी जेल में लिखी गई थीं। इस पुस्तक में हिन्दू राष्ट्रवाद के सिद्धान्तों की विस्तृत व्याख्या की गयी थी। 1907–08 के दौरान लंदन में उन्होने ''फर्स्ट इण्डियन वार ऑफ इंडिपेंडेंस : 1857'' नामक पुस्तक की रचना की थी जो कई क्रान्तिकारियों के लिए प्रेरणा का स्रोत रही। ''सिक्स ग्लोरियस इपॉक ऑफ इण्डियन हिस्ट्री'' में लगभग एक हजार संदर्भ है। उन्होने ''माई ट्रांसपोर्टेशन फॉर लाइफ'' हिन्दू राष्ट्र दर्शन और 'एन इको फ्रॉम अंडमान' की भी रचना की।

सावरकर का हिन्दुत्व का सिद्धान्त –

वीर सावरकर हिंदुत्व और हिन्दू राष्ट्र के प्रबल समर्थक थे तथा हिन्दू सांस्कृतिक और दार्शनिक उपलब्धियों में उन्हें गहन विश्वास था। इनका यौवन जेल में बीता, लेकिन सार्वजनिक जीवन में सक्रिय भाग का जो भी अवसर उन्हें मिला, उन्होंने हिन्दुओं को संगठित करने तथा उनमें हिन्दू राष्ट्रवाद की भावनाएँ भरने का अथक प्रयास किया। वास्तव में हिन्दुओं का पुनरुत्थान उनके जीवन का चरम लक्ष्य था।

सावरकर ने 'संगठन में शक्ति है' का विचार जन–मानस में भरने की चेष्टा की। उन्होंने कहा कि हिन्दुओं का वास्तविक विकास तभी सम्भव है जब वे संगठित हों तथा परस्पर एक सूत्र में बँधे हों। हिन्दुत्व के विकास के आधार का निर्माण तभी सम्भव है जब

हिन्दुओं के हितों की रक्षा की जाय, हिन्दुओं में उत्तरदायित्व की भावना का विकास किया जाय और उनमें परस्पर बन्धुत्व तथा विश्वास की भावना जाग्रत की जाय।

सावरकर ने अपनी पुस्तक 'हिन्दुत्व' (Hinduism) में हिन्दू को परिभाषित करते हुए लिखा था कि – "हिन्दू वह है जो सिन्धु नदी से समुद्र तक सम्पूर्ण भारतवर्ष को अपनी पितृभूमि और पुण्यभूमि मानता है।" अपनी पुस्तक में सावरकर ने हिन्दुत्व अथवा हिन्दू होने की तीन कसौटियाँ बताई –

1. हिन्दुत्व का पहला तत्त्व है– राष्ट्र अथवा प्रादेशिक एकता। सावरकर का विश्वास था कि क्षेत्रीय अथवा प्रादेशिक सन्निकटता एकता की भावना का संचार करती है। एक हिन्दू के मन में सिन्धु से ब्रह्मपुत्रं तक और हिमालय से कन्याकुमारी तक सम्पूर्ण भौगोलिक प्रदेश के प्रति अनुराग होना स्वाभाविक है।
2. हिन्दुत्व का दूसरा तत्व है– जाति अथवा रक्त सम्बन्ध। हिन्दू वे हैं जिनकी नसों में उन लोगों का रक्त बहता है जिनका मूल स्रोत वैदिक सप्त सैन्धव के हिमालय प्रदेश में बसने वाली जाति थी। सावरकर ने किसी जातिगत या नस्लगत श्रेष्ठता का सिद्धान्त प्रतिपादित नहीं किया बल्कि इस तथ्य पर बल दिया कि सदियों के ऐतिहासिक जीवन के स्वरूप हिन्दुओं में ऐसी जातिगत विशेषताएँ विकसित हो गई हैं जो जर्मनीवासियों, चीनियों अथवा इथोपियाइयों से भिन्न हैं।
3. हिन्दुत्व अथवा हिन्दू होने की तीसरी कसौटी हैं– संस्कृति। जिस व्यक्ति को हिन्दू सभ्यता और संस्कृति पर गर्व है, वह हिन्दू है।

इस प्रकार सावरकर ने राष्ट्र अथवा प्रादेशिक एकता, जाति अथवा रक्त सम्बन्ध और संस्कृति – इन तीन आधारभूत तत्त्वों को हिन्दू राष्ट्रवाद के विकास के लिए अनिवार्य बताया। उन्होंने कॉंग्रेस द्वारा प्रतिपादित 'भारतीय राष्ट्रवाद' के विचार से असहमति प्रकट की जिसके अनुसार राष्ट्रवाद मुख्यतः प्रादेशिक होता है। अतः भारत में उत्पन्न और पोषित सभी व्यक्ति बिना जाति और भेदभाव के भारतीय राष्ट्र का निर्माण करते हैं। सावरकर ने कहा कि राष्ट्रीयता के लिए केवल सामान्य प्रदेश का होना ही आवश्यक नहीं है वरन् प्रजातीय, भाषाई, धार्मिक तथा अन्य प्रकार की एकता का होना भी अनिवार्य है। यदि जनता पर प्रादेशिक राष्ट्रीयता थोपी जायेगी, जैसा कि पोलैण्ड और चैकोस्लाविया में किया गया, तो इस प्रकार का राष्ट्र सही अर्थों में जीवित नहीं रह सकता।

सावरकर ने कहा कि हिन्दुत्व वह वस्तु है जिसे कभी खोया नहीं जा सकता। हिन्दुओं में सदियों से जो विशेषताएँ और प्रजातिक तत्त्व विकसित हो चुके हैं, उनके आधार पर हिन्दुत्व को अलग से पहचान सकते हैं और जाति खो देने के बाद भी विनष्ट नहीं हो सकता। भारतीय, राष्ट्रीय एकता, राष्ट्रवाद जैसी बातें करना मात्र प्रवंचना है। भारतीय राष्ट्रीय जैसी न कोई चीज है और न कोई हो सकती है। सावरकर के भावात्मक विचार पूर्णतः हिन्दुत्व पर आधारित थे। उनका मानना था कि हिन्दुत्व आध्यात्मिक क्षेत्र पर आश्रित रहता है जिससे उसके विचार पूरी तरह सात्विक एवं मातृप्रेम से ओत–प्रोत होते है। यद्यपि मुसलमानों, ईसाइयों में उन्हें विशेष रुचि नहीं थी और न ही उनके सम्बन्ध में कोई भाव उनके हृदय में थी। न ही वे उनकी कभी परिचर्चा करते थे। फिर

भी हिन्दुत्व के प्रबल समर्थक होते हुए भी वीर सावरकर सभी धर्मों के प्रति सौहार्द्र की भावना रखते थे।

वे तुष्टिकरण की नीति पर विश्वास नहीं करते थे फिर भी उन्हें विश्वास था कि स्वराज्य मुसलमानों के सहयोग के बिना भी प्राप्त किया जा सकता है। उन्होंने मुसलमानों से स्पष्ट रूप से कहा कि – "हिन्दू अपनी राष्ट्रीय स्वाधीनता के लिए यथा सामर्थ्य संघर्ष करते रहेंगे। यदि तुम साथ देते हो तो तुमसे मिलकर संघर्ष करेंगे, यदि तुम साथ नहीं देते हो तो तुम्हारे बिना ही लड़ते रहेंगे और मैं तुम्हारे विरोध के फलस्वरूप युद्ध करता रहूँगा।" वीर सावरकर हिन्दू और राष्ट्रवाद को अलग–अलग मानाने थे और उनका मानना था कि भारत भक्त हुये बिना हिन्दू धर्म का नाम सार्थक नहीं हो सकता।

अखण्ड भारत की परिकल्पना और सावरकर –

वीर सावरकर ने आजीवन अखण्ड भारत की कामना की। जब देश के दो टुकड़े हुए थे तो उन्हें असहनीय एवं मर्मांतक पीड़ा की अनुभूति हुई थी। विभाजन रोकने के लिए उन्होंने बहुत प्रयास किये पर विभाजन टल न सका। चूँकि वीर सावरकर क्रान्तिकारी थे अतः उन्हे गॉधीवादी अहिंसा में कोई विश्वास नही था। वीर सावरकर के चारित्र्य को प्रदर्शित करते हुए डॉ0 वी0 एन0 वर्मा लिखते हैं– "वीर सावरकर को गाँधी जी की द्विपक्षीय नीति कभी रास नहीं आयी। एक तरफ वे इस्लाम धर्म की तलवार को प्रतिकूल परिस्थितियों का परिणाम कहकर अहिंसा की श्रेणी में परिबद्ध करते थे, अंग्रेजो की मार–काट को प्रतिक्रियाशून्य होकर देखते थे तो दूसरी ओर कट्टर राष्ट्रवादियों को अहिंसक होने के लिए बाध्य करते थे। उनकी निगाहों में हिंसा के बदले हुए अर्थ होते थे। इसी के फलस्वरूप अतिवादियों की आक्रामक प्रवृत्ति को उन्होंने पोषित किया और परिणामस्वरूप देश विभाजित हुआ। एकमात्र यही कारण था कि वीर सावरकर ही नहीं अपितु वास्तविक राष्ट्रवादियों की भावना गाँधीजी की भावना से नहीं मिल सकी।''

जीवन के अन्तिम चरण में वीर सावरकर का स्वास्थ्य तेजी से गिरने लगा और वह बिस्तर पर ही रहे। 3 फरवरी 1966 ई0 को उन्होने आमरण अनशन शुरू किया। चिकित्सकों को आश्चर्य था कि बिना दवा के तथा प्रतिदिन मात्र 5–6 चम्मच पानी पीकर भी वे 22 दिनों तक जीवित रहे। अन्ततः 26 फरवरी 1966 को 83 वर्ष की आयु में इस महान देशभक्त का निधन हो गया। वीर सावरकर के निधन पर तात्कालीन राष्ट्रपति डा0 एस0 राधाकृष्णन ने कहा था कि – सावरकर हमारे देश की स्वतंत्रता के एक कर्मठ और जुझारु कार्यकर्ता थे, युवाओं के लिए उनका जीवन एक मिसाल है।

साइमन कमीशन, नेहरू रिपोर्ट और सविनय अवज्ञा आन्दोलन

Simon Commision, Nehru Report and the Civil disobedient Movement.

1922 ई० में असहयोग आन्दोलन के स्थगन ने भारतीय राजनीति में नई प्रवृत्तियों को जन्म दिया। आन्दोलन की समाप्ति पर कांग्रेस के अधिकांश नेताओं और जनता में क्षोभ फैल गया। बंगाल में चितरंजन दास, उत्तर भारत में मोतीलाल नेहरू और दक्षिण में एन0 सी0 केलकर जैसे नेताओं ने विशेष असंतोष प्रकट किया। असहयोग आन्दोलन के स्थगन ने राष्ट्रीय आन्दोलन में गतिहीनता ला दी थी। महात्मा गांधी को 6 वर्ष का कारावास दण्ड दे दिया गया था। कांग्रेस के सामने कोई सुनिश्चित कार्यक्रम नहीं रह गया था। अनिश्चितता और गतिहीनता के वातावरण में कांग्रेस में आपसी फूट दृष्टिगोचर होने लगा। कुछ लोग कांग्रेस की नीति में परिवर्तन चाहते थे और कुछ लोग किसी भी प्रकार के परिवर्तन के विरोधी थे। जो अभी तक असहयोग के पक्ष में और कौंसिलों का बहिष्कार चाहते थे, वे अपरिवर्तनवादी (No-Changers) कहलाये और जो कांग्रेस के कार्यक्रम में परिवर्तन के पक्ष में थे, वे परिवर्तनवादी कहलाये। इस प्रकार परिवर्तनवादी वे थे जो महात्मा गांधी के कार्यक्रम में मतभेद रखते थे, निर्वाचनों में भाग लेकर कौंसिलों में प्रवेश चाहते थे और वहां उत्तरदायी शासन–प्रणाली के प्रचार के लिए उत्सुक थे।

असहयोग आन्दोलन के स्थगन के बाद कांग्रेस के अन्तर्गत दोनों विचारधाराओं का पारस्परिक विरोध तीव्रतर हो गया। चितरंजन दास ने कारावास में ही स्वराज्य दल की स्थापना के हेतु घोषणा की। जेल से मुक्त होने पर उन्होंने दल की स्थापना के लिए सक्रिय प्रयास आरंभ कर दिया। उन्होंने प्रचार के लिए देश भर का दौरा किया। उन्होंने कांग्रेस की नीति परिवर्तन के तीन सुझाव दिये–

1. देश की साधारण जनता असहयोग आन्दोलन के लिए तैयार नहीं है।
2. सत्याग्रही पंजाब और खिलाफत के विरुद्ध की गयी सरकार की भूलों को सुधारने और तुरन्त 'स्वराज्य' की मांग के आधार पर निर्वाचन में भाग लें।
3. यदि उनकी कॉसिलों में बहुमत प्राप्त होता है तो वे सरकार के हर कार्य का विरोध करें और केवल ऊपर व्यक्त की हुई त्रुटियों को दूर करने तथा स्वराज्य की मांग के सम्बन्ध में प्रस्ताव पेश करें किन्तु यदि उनको कौंसिलों में बहुमत प्राप्त नहीं होता है तो कौंसिलों की किसी भी कार्यवाही में भाग न ले।

कांग्रेस की असहयोग समिति के सदस्य इस प्रश्न पर विभाजित थे। हकीम अजमल खां, मोतीलाल नेहरू और बिट्ठल भाई पटेल ने इसका समर्थन किया जबकि सी0 आर0 राज गोपालाचारी, डॉ० अंसारी आदि ने इसका विरोध किया।

स्वराज्य दल की स्थापना –

इस प्रकार 1922 ई० में पुनः स्थिति उत्पन्न हो गयी जिससे मालूम पड़ने लगा कि कांग्रेस 1907 ई० की भांति दो दलों में विभक्त हो जायेगी। उसी वर्ष कलकत्ता अधिवेशन में कौंसिल प्रवेश के प्रश्न पर दोनों गुटों में भीषण वाक् संघर्ष हुआ। लेकिन हिंदु–मुस्लिम दंगा के कारण यह अवसर टल गया और एकता पूर्ववत् बनी रही। 1922 के गया कांग्रेस अधिवेशन का सभापति चितरंजन दास निर्वाचित हुए। उन्होंने अधिवेशन के समक्ष अपना कार्यक्रम प्रस्तुत किया लेकिन उसकी पराजय हुई और अपरिवर्तनवादियों की विजय। फलस्वरुप चितरंजन दास ने सभापति पद से और पण्डित मोतीलाल नेहरू ने कांग्रेस के महामन्त्री पद से त्याग–पत्र दे दिया। यद्यपि चितरंजन दास के कार्यक्रम के विरोध में दो–तिहाई सदस्यों ने मत दिया था, तथापि उन्होंने यह विश्वास व्यक्त किया कि शीघ्र ही बहुसंख्यक उनके कार्यक्रम को अपनायेगा।

कांग्रेस से त्याग–पत्र देकर 1 जनवरी 1923 ई० को देशबन्धु चितरंजन दास तथा मोतीलाल नेहरू ने 'कांग्रेस खिलाफत स्वराज्य पार्टी' की स्थापना की जो कालान्तर में 'स्वराज्य पार्टी' के नाम से जाना जाने लगा। चितरंजन दास इसके अध्यक्ष और मोतीलाल नेहरू इसके महासचिव थे। स्वराज्यवादियों का पहला अधिवेशन मार्च 1923 ई० में इलाहाबाद में बुलाया गया जिसमें दल के संविधान और अभियान की योजना को स्वीकार किया गया। कांग्रेस में बढ़ती हुई फूट को देखकर मौलाना आजाद ने मध्यस्थता की और स्वराज्यवादियों के कार्यक्रम पर विचार करने के लिए कांग्रेस का अधिवेशन सितम्बर 1923 में दिल्ली में बुलवाया। देशबन्धु चितरंजन दास, पण्डित मोतीलाल नेहरू तथा अन्य स्वराज्यवादियों ने उनमें भाग लिया। इस अवसर पर कांग्रेस ने स्वराज्य पार्टी को मान्यता प्रदान कर दी और कौसिलों में प्रवेश के समर्थकों ने बिना कठिनाई के कांग्रेस से यह अनुमतिसूचक प्रस्ताव पास करा लिया कि जिन कांग्रेसियों को कौंसिल प्रवेश के विरुद्ध धार्मिक या और किसी प्रकार की आपत्ति न हो उन्हें अगले निर्वाचनों में खड़े होने और अपनी राय देने के किसी अधिकार का उपयोग करने की आजादी है। इसलिए कौंसिल प्रवेश के विरुद्ध सारा प्रचार बन्द किया जाता है। साथ ही यह भी कहा गया कि रचनात्मक कार्यक्रम को पूरा करने में दूनी शक्ति से काम लेना चाहिए। यह स्वराज्य के सदस्यों के लिए जीत और हर्ष की बात थी। पुनः दोनों दलों का सम्मेलन दिल्ली और बम्बई में बुलाया गया जिससे उनमें समझौता हो सके और कांग्रेस सम्मिलित रूप से कार्य कर सके। इन सम्मेलनों में मतदाताओं को मत देने की स्वतंत्रता दी गयी, लेकिन कांग्रेसियों को कांग्रेस के नाम पर निर्वाचन में भाग लेने अधिकार नहीं दिया गया। स्वराज्यवादियों को इससे संतोष नहीं हुआ। पण्डित नेहरू और देशबन्धु चितरंजन दास ने जोर दिया कि उनका त्यागपत्र स्वीकार कर लिया जाय। उन्होंने स्वराज्य दल के उद्देश्यों का प्रचार करने के लिए देश का दौरा करना आरम्भ किया। उसी साल कोकण्डा कांग्रेस अधिवेशन में कौंसिल–प्रवेश सम्बन्धी प्रस्ताव का समर्थन किया गया और घोषित किया गया कि असहयोग आन्दोलन कौंसिलों के अन्दर भी अपनाया जा सकता है।

इस प्रस्ताव से स्वराज्यवादी काफी उत्साहित हुए। उन्होंने गांधीजी का समर्थन प्राप्त करने का प्रयास किया। यद्यपि गांधीजी को स्वराज्यवादियों की नीति और कार्यक्रम में

विश्वास नहीं था, फिर भी उन्होंने स्वराज्य–दल को अपना आर्शीवाद दिया। उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कहा कि 'हमारे बीच में वास्तविक और मौलिक भेद है' फिर भी "मैं स्वराज्यवादियों के मार्ग में अवरोध अथवा उसके विरुद्ध प्रचार में भाग नहीं ले सकता, लेकिन ऐसी योजना को मैं सक्रिय सहायता नहीं कर सकता जिसमें मुझे स्वयं विश्वास न हो। स्वराज्यवादियों ने गांधीजी के रचनात्मक कार्यक्रम को स्वीकार किया और असहयोग आन्दोलन के समर्थकों ने स्वराज्यवादियों के कौसिल प्रदेश के कार्यक्रम को। इस प्रकार स्वराज्य दल कांग्रेस का एक राजनीतिक अंग बन गया जो संसदीय कार्यों में भाग लेगा। इससे कांग्रेस में पुनः विभाजन होने से बच गया।

स्वराज्य दल के उद्देश्य –

स्वराज्य दल का मूल उद्देश्य था, स्वराज्य प्राप्त करना। गांधीवादियों का भी यही उद्देश्य था। लेकिन दोनों में स्वराज्य–प्राप्ति के साधनों में अन्तर था। स्वराज्यवादी गांधीजी के असहयोग आन्दोलन में विश्वास नहीं करते थे। उनका कहना था कि असहयोग की नीति को अपनाया जाय, लेकिंन इसे कौंसिल में प्रवेश कर क्रियावित किया जाय। कौंसिल में प्रवेश कर ही असहयोग को सफल बनाया जा सकता है तथा स्वराज्य की प्राप्ति की जा सकती है। कौंसिल के अन्दर असहयोग का अर्थ कि भारतीय निर्वाचन में भाग लें और अधिक–से–अधिक संख्या में निर्वाचित होकर कौंसिल में आयें और सरकार की नीति का घोर विरोध कर उसके कार्यों में अड़ंगा (Obstructions) लगावें जिससे सरकार के कार्य में बाधा पड़े और उसे अपनी नीति में परिवर्तन लाने के लिए बाध्य होना पड़े।

स्वराज्य दल के उद्देश्यों पर प्रकाश डालते हुए संस्थापक चितरंजन दास ने बंगाल विधानसभा में कहा था कि – "यह कहा गया है कि हमारा नारा है 'नष्ट करो, नष्ट करो', हम नष्ट करना क्यों चाहते हैं ? हम किससे मुक्त होना चाहते हैं ? हम उस परिपाटी को नष्ट करना तथा उससे मुक्त होना चाहते हैं जो हमारे लिए हितकर नहीं है और न हो सकती है। हम उसे इसलिए नष्ट करना चाहते हैं क्योंकि हम ऐसी पद्धति का निर्माण करना चाहते हैं जो सफलतापूर्वक कार्य कर सके और सार्वजनिक हित में सहायता पहुंचा सके। इस प्रकार स्वराज्यवादियों का उद्देश्य था – स्वराज्य प्राप्त करना और उस परिपाटी का अन्त करना जो अंग्रेजी सत्ता के अधीन भारत में विद्यमान थी और भारत के लिए अहितकर थी। साथ ही स्वराज्यवादी ऐसे विधेयक और प्रस्ताव लाना चाहते थे जिनके द्वारा राष्ट्रीय रचनात्मक कार्यों में सहयोग मिलें। कौंसिल के बाहर वे गांधीजी के रचनात्मक कार्यक्रम में सहयोग देते थे और असहयोग नीति को ब्रिटिश नौकरशाही का अन्तिम अस्त्र मानते थे। संक्षेप में, स्वराज्यवादियों के निम्नलिखित उद्देश्य थे–

1. भारत को स्वराज्य की प्राप्ति ।
2. उसे परिपाटी का अन्त करना जो अंग्रेजी सत्ता के अधीन भारत में विद्यमान थी।
3. कौंसिल में प्रवेश कर असहयोग के कार्यक्रम को अपनाना और असहयोग आन्दोलन को सफल बनाना।

4. सरकार की नीति का घोर विरोधकर उसके कार्यों में अड़ंगा लगाना जिससे उसके कार्य सुचारू रूप से नहीं चल सके और सरकार अपनी नीति में परिवर्तन करने में विवश हो।

स्वराज्य दल का कार्यक्रम –

स्वराज्यदल ने अपने उद्देश्य की प्राप्ति के लिए निम्नलिखित कार्यक्रम निश्चित किया था –

1. सरकारी बजट को रद करना।
2. उन प्रस्तावों का विरोध करना जो नौकरशाही को शक्तिशाली बनाने का प्रयत्न करें।
3. उन प्रस्तावों, योजनाओं और विधेयकों को कौंसिलों में प्रस्तुत करना जिनके द्वारा राष्ट्र की शक्ति में वृद्धि हो तथा नौकरशाही की शक्तियों का अन्त किया जाना संभव हो।
4. कौंसिल के बाहर रचनात्मक कार्यों का सहयोग देना।
5. ज्यों ही उनको यह ज्ञात होगा कि सत्याग्रह करना अनिवार्य है और उनके बिना नौकरशाही ठीक रास्ते पर नहीं आयेगी तो वे शीघ्र ही कौंसिलों में अपने स्थानों को त्याग देंगे और देश को सत्याग्रह के लिए तैयार करने को अपनी समस्त शक्ति का प्रयोग करेंगे।
6. कार्यक्रम को अधिक प्रभावशाली बनाने के उद्देश्य से उन सभी स्थानों पर अधिकार करने का प्रयत्न किया जाय जिनपर कौंसिलों के सदस्य होने के नाते अधिकार करने में सफल हो सकते थे।

स्वराज्य दल की सफलता –

मांटेग्यू–चेम्सफोर्ड सुधारों को नष्ट करने के उद्देश्य से स्वराज्यवादियों ने मोतीलाल नेहरू और चितरंजन दास के नेतृत्व में 1923 ई0 के निर्वाचन में भाग लिया। मध्यप्रदेश और बंगाल में इन्हें आशातीत सफलता मिली। अन्य प्रान्तों में भी स्वराज्य दल का विधानसभाओं में सबसे बड़े दल के रूप में प्रार्दुभाव हुआ लेकिन इतना होने के बावजूद स्वराज्य दल कोई ठोस और नियमित विरोध प्रदान नहीं कर सका। मध्यप्रदेश और बंगाल में उन्होंने द्वैध–शासन (Dyarchy) को निष्क्रिय बना दिया। इन प्रान्तों में मंत्रिमंडल का निर्माण असंभव हो गया क्योंकि स्वराज्य दल जिसे स्पष्ट बहुमत प्राप्त था, नेता स्वयं न सरकार का निर्माण करना चाहता था और न दूसरे दलों को मंत्रिमंडल का निर्माण करने देना चाहता था। 1925 ई0 में चितरंजन दास की अचानक मृत्यु के कारण बंगाल में स्वराज्यवादियों को गहरा धक्का लगा। बाध्य होकर गवर्नर को कौंसिल को भंग करना पड़ा।

केन्द्रीय विधानसभा में स्वराज्यवादियों को 145 स्थानों में केवल 45 स्थान प्राप्त हुए फिर भी कुछ निर्दलीय सदस्यों की सहायता से उन्होंने डटकर सरकार का विरोध किया। प्रान्तीय विधानसभाओं में स्वराजियों को मध्य प्रान्त में स्पष्ट बहुमत मिला, बंगाल में सबसे बड़े दल के रुप में उभरा तथा बम्बई और उत्तर प्रदेश में संतोषजनक सफलता

मिली। ऐसा भी मौका आया कि निर्दलीय सदस्यों की सहायता से स्वराजियों ने सरकार को पराजित किया लेकिन गवर्नर–जनरल को प्राप्त विशेषाधिकारों के कारण वे सरकार के कार्यों में अड़ंगा लगाने में सफल नहीं हुए। उन्होंने कई बार एसॅम्बली से वाकआउट (walk out) किया जिससे सरकार की प्रतिष्ठा पर धक्का लगा। गवर्नर–जनरल द्वारा आयोजित भोजों और समारोहों के निमन्त्रण पत्र भी उन्होंने अस्वीकृत किये। इस प्रकार सुधारों में गतिरोध पैदा करने का उनका प्रयत्न बंगाल और मध्यप्रदेश तक सीमित रहा। स्वराज्यवादियों को केन्द्रीय विधानसभा में एक महत्वपूर्ण सफलता 8 फरवरी, 1924 को हासिल हुई जबकि पंडित मोतीलाल नेहरू द्वारा प्रस्ताव को उन्होंने पास करवाया। यह प्रस्ताव इस प्रकार था – "यह सभा परिषद्–गवर्नर जनरल से आग्रह करती है कि भारत में पूर्ण उत्तरदायी शासन की स्थापना करने के उद्देश्य से 1919 ई० में भारत सरकार अधिनियम को संशोधित करवाने के लिए प्रथम पग उठाये जाएं और इसके लिए (क) भारत के समस्त प्रतिनिधियों की एक गोलमेज परिषद् का आयोजन किया जाय, जो देश के महत्वपूर्ण अल्पसंख्य सम्प्रदायों के अधिकार और हितों की सुरक्षा का ध्यान रखते हुए भारत के लिए एक विधान का निर्माण करे, तथा (ख) वर्तमान केन्द्रीय व्यवस्थापिका सभा को भंग करके नवनिर्मित व्यवस्थापिका के सम्मुख यह योजना (विधान) प्रस्तुत की जाय जो कानून बनाने के लिए बाद में ब्रिटिश संसद् को भेजी जाय। इसी प्रस्ताव का परिणाम था कि भारत सरकार ने सर अलेक्जेण्डर मुडिमान (Sir Alexander Muddiman) की अध्यक्षता में एक 'सुधार जांच सीमित' (Reforms Enquiry Committee) की स्थापना की जिसका उद्देश्य मांटेग्यू–चेम्सफोर्ड सुधारों की आलोचनात्मक समीक्षा करना था।

स्वराज्य दल की नीति में परिवर्तन –

प्रारम्भ में स्वराज्य दल ने सरकार के साथ असहयोग की नीति अपनायी और उसके कार्यों में अड़ंगे लगाये। लेकिन उसे इस नीति में विशेष सफलता नहीं मिली। अतः उसकी नीति में स्वतः परितर्वन आने लगा। उन्होंने असहयोग के स्थान पर 'उत्तरदायित्वपूर्ण सहयोग' (Responsive Co-operation) की नीति को अपनाना शुरू किया। यहां तक चितरंजन दास अपने जीवन–काल में यह अनुभव करने लगे थे कि असहयोग की नीति लाभप्रद नहीं है। 1924 ई0 में फरीदपुर सम्मेलन में उन्होंने सरकार से समझौता करने के लिए कुछ प्रस्ताव प्रस्तुत किया, जैसे– (क) सरकार जनता प्रतिनिधियों को कुछ उत्तरदायित्व सौंपे (ख) सरकार निकट भविष्य में स्वाभाविक रूप से स्वराज्य की स्थापना करें, (ग) शासक वर्ग हृदय–परिवर्तन और शांतिपूर्ण समझौते का वातावरण उत्पन्न करने का व्यावहारिक प्रदर्शन करे, और (घ) सरकार सभी राजनीतिक बन्दियों को क्षमा प्रदान करें। देशबन्धु दास की मृत्यु के बाद स्वराज्यवादियों ने खुलकर सहयोग की नीति का समर्थन करना शुरू कर दिया। लेकिन कुछ स्वराज्यवादी अभी भी 'अड़ंगा' की नीति में विश्वास करते थे। अतः स्वराज्य दल में फूट दिखायी पडने लगी। सरकार ने इस मौका से फायदा उठाया और सहयोगवादियों को विभिन्न समितियों में स्थान देकर खुश करना शुरू किया। 1924 ई0 में कुछ प्रमुख स्वराज्यवादियों को इस्पात सुरक्षा समिति' (Steel Protection Committee) में स्थान दिया। 1925 ई० में स्वयं मोती लाल नेहरू ने 'स्कीन समिति' (Skeen Committee) की सदस्यता स्वीकार की, वी० जे पाटिल केन्द्रीय व्यवस्थापिका सभा के अध्यक्ष चुने

गये; और एस0 वी0 टाम्बे जो मध्यप्रदेश लेजिस्लेटिव कौंसिल के अध्यक्ष थे; गवर्नर–जनरल की कार्यकारिणी परिषद् के सदस्य नियुक्त हुए। थोड़े में, स्वराज्य दल की नीति में पूर्णतया परिवर्तन हो गया। असहयोग का स्थान उत्तरदायी सहयोग ने ले लिया। फलतः स्वराज्य दल कमजोर हो गया और 1926 ई० तक स्वराज्य दल की शक्ति समाप्त हो गयी।

स्वराज्य पार्टी के पतन कारण –

स्वराज्य पार्टी के पतन के अनेक कारण थे। स्वराज्य दल ने देखा कि उसकी असहयोग नीति सफल नहीं हो रही है। अतः उसने सरकार के साथ असहयोग की नीति को अपनाना शुरू किया फलतः उसका राष्ट्रवादी रूप धीमा पड़ गया और उसका आकर्षण जाता रहा। श्री चितरंजन दास स्वराज्य दल के जन्मदाता तथा उसके प्रमुख स्तम्भ थे लेकिन इसी बीच 1925 ई0 में उनकी मृत्यु के बाद दल लड़खड़ा गया। इसके अतिरिक्त 1923 ई0 के कौंसिलों के निर्वाचन में स्वराज्य दल को काफी सफलता मिली लेकिन 1926 ई0 के चुनाव में उसे उतनी सफलता नहीं मिली जिससे दल का महत्व घट गया। 1922 ई0 के बाद भारत के विभिन्न हिस्सों में होने वाले हिन्दू–मुस्लिम दंगा ने भी इस दल की एकता को नष्ट कर दिया। स्वराज्य दल के अतिरिक्त कुछ नेताओं ने कांग्रेस के अन्दर ही एक अन्य स्वतत्रंत दल की स्थापना की। इसके नेता पंडित मदन मोहन मालवीय और लाला लाजपत राय थे। इस दल ने हिन्दुत्व का नारा लगाया जिसके झण्डे के नीचे उत्तर भारत के हिन्दू संगठित होने लगे। फलतः स्वराज्य दल के अनुयायियों की संख्या तेजी से घटने लगी। आपसी मतभेद के कारण स्वराज्य दल में फूट पड़ गयी। अन्त में कुछ स्वराज्यवादी नीति परिवर्तन और सरकार से सहयोग के पक्ष में थे जबकि कुछ असहयोग की मौलिक नीति पर डटे रहना चाहते थे। फरीदपुर सम्मेलन में स्वराज्यवादियों की आपसी फूट स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होने लगी।

स्वराज्य दल के कार्यों का मूल्याकंन –

यह तो सत्य है कि स्वराज्यवादियों की 'अडंगा नीति' तर्कहीन और अव्यावहारिक थी। दल इतनी कमजोर और अवास्तविक थी कि उसके द्वारा स्वराज्य प्राप्त करना असम्भव था। डा० जकारिया के अनुसार यह मानना पड़ेगा कि स्वराज्य पार्टी का विचार वास्तविकता से बहुत दूर था। गांधीजी समझते थे कि परिस्थिति कैसे निर्मित हो रही है और उन्होंने बेलगांव में कांग्रेस का क्षेत्र राजनीतिज्ञों के लिए छोड़ दिया और स्वयं को चरखे और खादी बुनने कार्य में लगा दिया। स्वराज्यवादियों की वास्तविक स्थिति यह थी कि वे रोटी खाना भी चाहते थे और उसे बचाना भी, उन्हें जनता में अपनी प्रसिद्धि बनाये रखने के लिए गरम–गरम बातें करना आवश्यक हो गया था फिर भी वे अपने को संसदीय कार्यों तक ही सीमित रखना चाहते थे। परिणामतः जिस मार्ग का उन्होंने अनुसरण किया, उसमें सहयोग का अर्थ था असहयोग। सी0 वाई0 चिन्तामणि ने स्वराज्यवादियों की कार्य–पद्धति पर टिप्पणी करते हुए कहा था कि – "मार्च 1926 ई0 से व्यवस्थापिका सभा की समाप्ति तक के बीच की अवधि में यह साधारण दृश्य था कि कांग्रेसी व्यवस्थापिका सभा के भीतर जाते थे और तुरन्त ही बाहर चले आते थे। इस कार्यवाही के मर्म को वे ही समझते थे। सर तेजबहादुर सप्रू ने उनकी इस देशभक्ति को "चक्कर लगानेवाली देशभक्ति" कहा है।

लेकिन इन तमाम आलोचनाओं के बावजूद इसका अर्थ यह नहीं कि भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन के इतिहास में स्वराज्यवादियों का कोई महत्व ही नहीं है। गांधीजी द्वारा असहयोग आन्दोलन के स्थगन के बाद भारतीय स्वाधीनता संघर्ष में जो अन्धकार छा गया था तथा देश में निराशा के जो बादल छा गये थे, जनता हतोत्साहित हो गयी थी, राष्ट्रीय भावना को एक गहरा धक्का लगा था, उस काले मंडराते बादलों के बीच भारत के राजनीतिक क्षितिज पर स्वराज्यवादियों के रूप में आशा की लकीर दीख पड़ी। राष्ट्रीयता की बुझती हुई ज्योति को उन्होंने फिर से जगाया, निराश तथा उदासीन जनता में उत्साह और नवजीवन का संचार किया। सरकारी दमन–चक्र की चक्की में पिसती हुई जनता को उन्होंने साहस दिलाया और उसे सरकार का निर्भीकतापूर्वक विरोध करने की सीख दी। व्यवस्थापिका सभाओं में जाकर स्वराज्यवादियों ने सरकार की कमजोरियों को जनता के समक्ष लाया, उसके कार्यों में अड़ंगा लगाया और अनुत्तरदायी और गलत कार्यों को करने से उसे रोका। उन्होंने द्वैध शासन–प्रणाली को असफल बताया और उसे अव्यावहारिक तथा दोषपूर्ण सिद्ध किया। उनकी मांग पर मुडिमान समिति की नियुक्ति की गयी और निर्धारित समय से दो वर्ष पूर्व साइमन कमीशन की बहाली हुई। स्वराज्य दल ने सरकारी कार्यों की आलोचना अनुदानों की अस्वीकृति तथा बजट का विरोध कर जनता में उत्साह का संचार किया। साइमन कमीशन ने भी यह स्वीकार किया था कि उस समय 'स्वराज्य दल' ही एक सुसंगठित अनुशासित दल था जिसके पास एक सुनिश्चित कार्यक्रम था।

अन्त में कहा जा सकता है कि स्वराज्य दल ने भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन के अन्धकारपूर्ण समय में आशा की किरण प्रज्वलित की और जनता में उत्साह तथा नवजीवन का संचार किया।

साइमन कमीशन (Simon Commission) –

1927 ई० का वर्ष भारतीय राजनीति में एक विशिष्ट स्थान रखता है। इस समय तक आते–आते एक तरफ स्वराज्यवादियों की असहयोग तथा अड़ंगा नीति असफल हो चुकी थी तो दूसरी ओर 1924 ई0 में जेल से मुक्त होकर महात्मा गांधी ने देश का दौरा किया। रचनात्मक कार्यक्रम और अस्पृश्यता निवारण की ओर उन्होंने जनता का ध्यान आकृष्ट किया। गांधीजी के नेतृत्व ने पुनः देश में साहस और उत्साह का संचार किया। किसानों और मजदूरों में जागृति के चिन्ह स्पष्ट दिखलाई देने लगे। उन्होंने अपना संगठन करना आरम्भ कर दिया और कांग्रेस के कार्यक्रम तथा नीति में सहयोग देने के लिए उद्यत हो गये। कांग्रेस पर समाजवादी तथा साम्यवादी विचारों का प्रभाव पड़ने लगा। श्री ए0 आर0 देसाई के शब्दों में – 'रूस में समाजवादी क्रान्ति की सफलता और समाजवादी राज्य की स्थापना ने भारत के क्रान्तिकारी राष्ट्रवादियों में समाजवादी और साम्यवादी सिद्धांतों के प्रति रुचि उत्पन्न कर दी।" जगह–जगह मजदूरों और किसानों में आन्दोलन होने लगे। विटले कमीशन (Whitley Commission) की नियुक्ति के समय मजदूरों ने हड़ताल की। बारदौली में सरदार पटेल के नेतृत्व में किसानों ने लगान–वृद्धि के विरोध में तीव्र आन्दोलन किया जिसके सामने सरकार को झुकना पड़ा। इस प्रकार 1927 के राष्ट्रीय आन्दोलन की जड़ पकड़ने लगी और जनता में नई जागृति आने लगी। इसी पृष्ठभूमि में साइमन कमीशन की नियुक्ति हुई और नेहरू रिपोर्ट भारतीयों के सामने आई।

साइमन कमीशन की नियुक्ति :

Simon Go Back

1919 ई0 के भारत सरकार अधिनियम की धारा 84 में यह व्यवस्था की गई थी कि सुधारों के कार्यान्वित रूप पर विचार करने तथा नये सुधारों का सुझाव देने के लिए 10 वर्षों के उपरांत सरकार एक राजकीय आयोग (Royal Commission) की नियुक्ति करेगी। इस धारा के अन्तर्गत 1929 ई0 में राजकीय आयोग की नियुक्ति होनी चाहिए थी लेकिन कई कारणों से दो वर्ष पूर्व ही राजकीय आयोग की नियुक्ति की घोषणा की गयी। 5 नवम्बर 1927 ई0 को वायसराय इरविन ने महात्मा गांधी तथा अन्य दूसरे भारतीय नेताओं को दिल्ली में भेंट करने के लिए आमंत्रित किया। महात्मा गांधी राजकीय आयोग की योजना को सुनकर बहुत खिन्न हुए क्योंकि उस योजना में उन्हें कोई सार नहीं दिखाई पड़ा। उन्होंने वायसराय से कहा कि आप इस सूचना को एक आने के लिफाफे द्वारा मेरे पास भेज सकते थे। अन्त में 8 नवम्बर, 1927 ई० को वायसराय ने एक राजकीय आयोग की नियुक्ति की घोषणा की।

समय से पूर्व कमीशन की नियुक्ति के कारण :

राजकीय आयोग की नियुक्ति सरकार ने समय से दो वर्ष पूर्व ही कर दी जिसके कई कारण थे। यूँ तो ब्रिटिश सरकार का कहना था कि भारतीयों की मांगों के अनुसार शासन में जल्द से जल्द सुधार लाने के उद्देश्य से आयोग की नियुक्ति समय से पूर्व की गयी थी, लेकिन वास्तविक कारण कुछ और ही थे। ब्रिटेन की अनुदार सरकार उस समय भारत में आयोग भेजना चाहती थी जबकि देश में साम्प्रदायिक दंगा जोरों पर था और भारत की एकता नष्ट हो चुकी थी। सरकार चाहती थी कि आयोग भारतीयों के सामजिक तथा राजनीतिक जीवन के विषय में बुरा विचार लेकर लौटे। इंगलैंड में आम चुनाव 1929 ई० में होने वाला था। अनुदार दल को चुनाव में हार जाने का भय था। वे नहीं चाहते थे कि भारतीय समस्या को सुलझाने का मौका मजदूर दल को दिया जाय क्योंकि उसके हाथ में वे साम्राज्य के हितों को सुरक्षित नहीं समझते थे। अतः उन्होंने समय से पूर्व ही आयोग की नियुक्ति करना उचित समझा। स्वराज्य दल ने सुधारं आयोग की जोरदार मांग की थी। ब्रिटिश सरकार ने इस सौदा को बहुत सस्ता समझा क्योंकि इससे यह सम्भावना थी कि स्वराज्य दल आकर्षणहीन हो जायेगा और धीरे–धीरे उसका अस्तित्व समाप्त हो जायगा। प्रो० कीथ के मतानुसार भारत में युवा क्रान्तिकारी आन्दोलन के प्रादुर्भाव के कारण ब्रिटिश सरकार ने यथाशीघ्र राजकीय आयोग की नियुक्ति करना उचित समझा। जवाहरलाल नेहरू और सुभाषचन्द्र बोस ने कांग्रेस के तत्वावधान में एक युवा आन्दोलन का आयोजन किया जिससे उत्तेजित तथा अर्द्ध–शिक्षित युवकों में जागृति आई। ब्रिटिश सरकार ने परिस्थिति को भांप लिया और समय से पूर्व राजकीय आयोग की नियुक्ति का प्रस्ताव संसद में लाया।

कमीशन के सदस्य –

इस प्रकार सर जॉन साइमन की अध्यक्षता में साइमन कमीशन का गठन 8 नवम्बर 1927 को किया गया। इसके प्रमुख सदस्य निम्नलिखित थे–

1. सर जॉन साइमन– स्पेन वैली के सांसद (लिबरल पार्टी)
2. क्लेमेंट एटली– लाइमहाउस के सांसद (लेबर पार्टी)
3. हैरी लेवी–लॉसन– लिबरल यूनियनिस्ट पार्टी
4. सर एडवर्ड सेसिल जॉर्ज काडोगन– फ़िंचली के सांसद (कंज़र्वेटिव पार्टी)
5. वर्नन हार्टशोम– ऑग्मोर के सांसद (लेबर पार्टी)
6. जॉर्ज रिचर्ड लेन– फॉक्स, बार्कस्टन ऐश के सांसद (कंजर्वेटिव पार्टी)
7. डोनाल्ड स्टर्लिन पामर होवार्ड– कम्बरलैंड नॉर्थ के संसद

लेकिन अध्यक्ष सहित 7 सदस्यों की इस समिति का एक भी सदस्य भारतीय न था। इसके पीछे सरकारी तौर पर यह तर्क दिया गया कि चूँकि साइमन कमीशन की रिपोर्ट ब्रिटिश संसद के समक्ष प्रस्तुत की जानी है अतः इसके सभी सदस्यों का ब्रिटिश होना वांछनीय है। हालॉकि यह निराधार तर्क था क्योंकि श्री सकलतवाला और लार्ड सिन्हा उस समय की भारतीय संसद में भारतीय सदस्य भी थे। ऐसी स्थिति में यदि ब्रिटिश सरकार चाहती तो सहजता से इनमें से किसी को इस आयोग में रख सकती थी।

कमीशन का बहिष्कार –

साइमन कमीशन के उद्देश्य तथा तथा इस आयोग में एक भी सदस्य भारतीय न होने से भारतीयों को बहुत क्षोभ हुआ और उन्होंने इसे अपमानजनक समझा। अतः एकमत से सभी ने कमीशन का बहिष्कार करने का निश्चय किया। कांग्रेस, मुस्लिम लीग, हिन्दू महासभा और लिबरल फेडरेशन ने एक स्वर से कमीशन का विरोध किया। केवल सर मोहम्मद शफी के नेतृत्व में मुस्लिम लीग के एक वर्ग ने कमीशन का स्वागत करने का निश्चय किया। इसके अतिरिक्त दक्षिण में जस्टिस पार्टी ने सरकार का समर्थन किया। कांग्रेस ने दिसम्बर 1927 ई0 के मद्रास अधिवेशन में साइमन कमीशन के प्रति अपने दृष्टिकोण तथा नीति को स्पष्ट रूप से व्यक्त किया। उसने विभिन्न वर्गों के लोगों से कमीशन का बहिष्कार करने की अपील की। उसने यह अनुरोध किया कि कमीशन के आगमन के दिन जनता सामूहिक प्रदर्शनों का आयोजन करे, जहां भी कमीशन के सदस्य जाये, प्रदर्शन द्वारा उसका विरोध किया जाय, कौंसिलों के गैरसरकारी सदस्य तथा अन्य नेतागण कमीशन के सामने गवाही न दें और उसके साथ किसी प्रकार का सहयोग न करें। धारा–सभाओं के गैर–सरकारी सदस्य कमीशन से सम्बन्धित किसी 'सिलेक्ट कमिटी' में न रहें तथा इस प्रकार के प्रस्ताव या खर्च की मांग का विरोध करें, विधानसभा के सदस्य केवल तभी सभा की बैठकों में भाग लें जबकि बहिष्कार को प्रभावशाली बनाने के लिए वह दूसरी संस्थाओं तथा राजनीतिक दलों से सहयोग प्राप्त करें। कांग्रेस ने इसी सम्मेलन में 'पूर्ण राष्ट्रीय स्वतन्त्रता' के लक्ष्य की घोषणा की।

कांग्रेस के अतिरिक्त अन्य दलों ने भी साइमन कमीशन का बहिष्कार करने का निश्चय किया। श्रीमती बेसेंट ने कहा कि यह जले पर नमक छिडकना है। नरम दलीय नेता श्री दिनशा वाचा ने कमीशन के विरुद्ध एक घोषणा–पत्र तैयार किया जिस पर कई

राजनीतिक दलों के प्रतिनिधियों ने हस्ताक्षर किया। लाला लाजपत राय ने केन्द्रीय व्यवस्थापिका सभा में एक प्रस्ताव पेश किया जिसमें कहा गया था कि कमीशन की योजना सर्वथा अमान्य है। पंडित मोतीलाल नेहरू ने इसे केवल एक दिखावा मात्र' कहा। भारतीयों द्वारा साइमन कमीशन की निन्दा के बारे में विल्किनसन का कहना था कि – अमृतसर काण्ड के बाद ब्रिटिश सरकार के किसी भी कार्य की भारत में इतनी भारी निन्दा नहीं हुई जितनी कि साइमन कमीशन की।

3 फरवरी, 1929 ई० को साइमन कमीशन बम्बई पहुँचा। इस दिन सारे देश में हड़ताल मनायी गयी और 'साइमन लौट जाओ' (Simon go back) के नारे से आकाश गूँज उठा। ब्रिटिश शासकों ने बम्बई का रंग–ढ़ंग देखकर साइमन कमीशन को तुरन्त दिल्ली रवाना किया। लेकिन वहाँ ट्रेन से उतरते ही उसका स्वागत काले झण्डों और 'साइमन वापस जाओं' के नारों के साथ किया गया। राजधानी में उसके स्वागत समारोह के लिए खोजने पर भी भारतीय न मिले। जहाँ भी कमीशन गया, उसका स्वागत काले झण्डों और विशाल प्रदर्शनों से हुआ। पंजाब केसरी लाला लाजपत राय ने कमीशन के विरुद्ध लाहौर में एक विशाल प्रदर्शन का नेतृत्व किया। पुलिस ने भीड़ को तितर–बितर करने के लिए लाठी चार्ज किया। घायल लाला लाजपत राय ने दहाड़ते हुए कहा था कि – 'ये लाठियों के आघात, जो मुझ पर किये गये हैं, एक दिन ब्रिटिश साम्राज्य के कीलें होंगे।" इसी प्रदर्शन के दौरान लाठी चार्ज में लाजपत राय की मृत्यु हो गयी। यू0पी0 में भी पंडित नेहरू और पंडित गोविन्द बल्लभ पंत के साथ ऐसी ही घटना घटी और कमीशन के आगमन के दिन सम्पूर्ण लखनऊ सैनिक शिविर (Armed camp) के रूप में बदल गया। भारतीयों ने विरोध प्रदर्शित करने के लिए काली पतंग और बैलून का प्रयोग किया जो आकाश मार्ग से केसरबाग में तालुकदारों द्वारा दिये गये दावत भोज में आकर गिरा। इन पतंगों पर 'साइमन वापस जाओं' के नारे लिखे गये थे। कलकत्ता में साइमन कमीशन का बहिष्कार करने के लिए सुभाष चन्द्र बोस ने मोर्चा सँभाला। यहाँ भी विरोध प्रदर्शन कामयाब रहा। सरकार के अन्यायपूर्ण तथा अमानुषिक व्यवहार से जनता में प्रतिशोध की भावना जागृत हो गयी। क्रान्तिकारी पुनः सक्रिय हो गये। उन्होंने एक पुलिस कर्मचारी सैण्डर्स की हत्या कर दी। सरदार भगत सिंह और बटुकेश्वर दत्त ने केन्द्रीय व्यवस्थापिका सभा में बम विस्फोट किया। उस अव्यवस्थित वातावरण में कमीशन ने अपनी जांच–पड़ताल की।

कुछ सम्प्रदायवादियों ने आयोग का स्वागत किया जो नक्कारखाने में तूती की आवाज सिद्ध हुआ। इसके अतिरिक्त जबकि सारे देश में विरोध प्रदर्शन हो रहे थे, पूँजीपतियों और जमींदारों के कुछ प्रान्तीय संघ ब्रिटिश शासकों को माँ–बाप समझकर अपने वर्गीय साम्प्रदायिकता अथवा जातिगत स्वार्थों की रक्षा का भारत साइमन कमीशन के हाथ में छोड़ देने को राजी थे।

कमीशन दो बार भारत आया। तमाम विरोधों के वावजूद अपनी रिपोर्ट तैयार करने में इसने दो वर्ष से अधिक का समय लिया। मई 1930 ई० में इसकी रिपोर्ट प्रकाशित हुई जिसकी मुख्य बाते निम्नलिखित थी –

1. अन्तर्निहित त्रुटियों के कारण प्रान्तों से द्वैध शासन–व्यवस्था को समाप्त कर देना चाहिए और उसके स्थान पर पूर्णतया उत्तरदायी शासन की स्थापना की जानी चाहिए। प्रान्तीय सरकारों पर केन्द्र का नियंत्रण कम–से–कम होना चाहिए इस हेतु

सुरक्षित विभागों (Reserved Department) को समाप्त कर देना चाहिए जिनके माध्यम से केन्द्रीय सरकार तथा राज्य सचिव प्रान्तीय सरकारों को नियन्त्रित करते हैं।

2. अल्पसंख्यकों के अधिकारों की सुरक्षा तथा प्रान्तों में शान्तिपूर्ण व्यवस्था को अत्याधिक महत्वपूर्ण बतलाया गया। इसके लिए कमीशन ने सिफारिश की कि गवर्नर को विशेष अधिकार प्रदान किया जाना चाहिए।

3. केन्द्रीय सरकार की शासन व्यवस्था में परिवर्तन के लिए कोई महत्वपूर्ण सिफारिश नहीं की गयी। उसने प्रान्तों के विपरीत केन्द्र में अनुत्तरदायी शासन को उचित समझा। उसने केन्द्रीय कार्यकारिणी को केन्द्रीय व्यवस्थापिका सभा के नियन्त्रण से पूर्णतया स्वतन्त्र रखने की सिफारिश की किन्तु कमीशन का यह विचार नही था कि केन्द्र में सदैव अनुत्तरदायी सरकार सदा इसी प्रकार चलती रहेगी। रक्षा के प्रश्न के संतोषजनक रूप से हल हो जाने के उपरान्त वह केन्द्र में भी उत्तरदायी शासन की स्थापना करने के पक्ष में थे।

4. कमीशन ने भविष्य में भारत के लिए एक संघ–शासन की स्थापना करने की सिफारिश की जिसमें प्रत्येक प्रान्त जहॉ–तक संभव हो अपने क्षेत्र में अपना स्वामी हो। इस संघ में ब्रिटिश भारत के समस्त भारतीय देशी राज्य सम्मिलित होंगे।

5. भारतीय संघ की स्थापना के पूर्व भारत में एक वृहत्तर भारत परिषद (Council of Greater Indiaa) की स्थापना की जाय जिसमें ब्रिटिश भारत के प्रान्तों और भारतीय देशी राज्यों के प्रतिनिधि सम्मिलित हों। इस परिषद् द्वारा वे अपनी सामान्य समस्याओं का निराकरण करें।

6. कमीशन ने यह सिफारिश की कि जनता में राजनीतिक चेतना लाने के लिए मताधिकार का विस्तार (10 से 15 प्रतिशत तक) किया जाना चाहिए और प्रान्तीय व्यवस्थापिका सभाओं की सदस्य संख्या को बढ़ाना चाहिए।

7. कमीशन ने यह सिफारिश की कि प्रतिनिधित्व का आधार साम्प्रदायिक मतदान होगा। अतः साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व को पूर्ववत् जारी रखा जाय।

8. बर्मा को भारत से और सिन्ध को बम्मई से पृथक कर दिया जाय।

9. सेना का भारतीयकरण हो।

10. समय–समय पर संसदीय जांच–पड़ताल की पद्धति को छोड़ दिया जाय और ऐसे लचीले संविधान का निर्माण किया जाय जो स्वयं विकसित हो।

11. संघ की व्यवस्थापिका सभा का निर्माण संघीय व्यवस्था के आधार पर किया जाना चाहिए। उनके दोनों सदनों का चुनाव अप्रत्यक्ष निर्वाचन पद्धति से होना चाहिये।

साइमन कमीशन रिपोर्ट का मूल्यांकन :

साइमन कमीशन ने अपनी रिपोर्ट में भारतीय राजनीति की समस्त कठिनाईयों और समस्याओं पर प्रकाश डाला। किन्तु उसने तत्कालीन भारत और जनता की अभिलाषाओं

और आकांक्षाओं की ओर तनिक भी ध्यान नहीं दिया। साइमन कमीशन की रिपोर्ट को भारत के सभी तबकों द्वारा विरोध किया गया क्योंकि –

1. रिपोर्ट में औपनिवेशिक स्वराज्य (Dominion status) की स्थापना के विषय में कहीं भी उल्लेख तक नहीं किया गया था।
2. केन्द्र में उत्तरदायी सरकार की स्थापना के सम्बन्ध में रिपोर्ट में कोई उल्लेख नही था।
3. रिपोर्ट में प्रान्तों में उत्तरदायी सरकार की स्थापना की बात तो कही गयी परन्तु गवर्नर को विशिष्ट शक्तियॉ देने की बात भी कही गई।
4. इसमें जनता की अभिलाषाओं और आकांक्षाओं की पूर्ण उपेक्षा की गई थी। इसी कारण यह भारत के किसी भी राजनैतिक वर्ग को मान्य नही थी।

एण्डूज के शब्दों में– "उसने उस भारत को अपने सामने रखा जो मैंने राष्ट्रीय आन्दोलन के प्रारम्भ होने से 30 वर्ष पूर्व, जब मैं यहां से बाहर गया था, देखा था। राष्ट्रीय जागृति के परिणामस्वरूप उदीयमान भारत का इससे परिचय नहीं मिलता। सर शिवस्वामी अय्यर ने तो यहां तक कहा था कि – 'साइमन कमीशन रिपोर्ट को रद्दी की टोकरी में डाल देना चाहिए।' भारतीय कमीशन की रिपोर्ट से आयोग बहुत असंतुष्ट हुए क्योंकि इसने भारतीयों की औपनिवेशिक स्वराज्य की मांग की पूर्णतया उपेक्षा की। इसने भारतीयों की केन्द्र में उत्तरदायी शासन की मॉग को स्वीकार नहीं किया और प्रान्तीय गवर्नरों को ऐसे विशेषाधिकारों से सुसज्जित किया कि प्रान्तों में लोकप्रिय तथा उत्तरदायी मंत्रिमण्डल का कोई मूल्य ही नहीं रह गया। निस्संदेह रिपोर्ट निरर्थक था लेकिन भारतीय समस्याओं के अध्ययन के दृष्टिकोण से यह महत्वपूर्ण प्रलेख है। कूपलैंड के शब्दों में – "यह भारतीय समस्याओं का सबसे अधिक सम्पूर्ण अध्ययन है और इसने राजनीतिशास्त्र के पुस्तकालय को एक और उच्च कोटि की रचना प्रदान की।" इस रिपोर्ट की कई सिफारिशों को 1935 के भारत सरकार अधिनियम में स्थान दिया गया। 1935 में जब प्रांतों में स्वशासन स्थापित किया गया तो गवर्नरों और गवर्नर–जनरल को जो विशेष शक्तियॉ प्रदान की गई उनका आधार यही साइमन कमीशन रिपोर्ट थी।

नेहरू रिपोर्ट, 1928 :

साइमन कमीशन में भारतीयों को सम्मिलित नहीं करने का कारण बतलाते हुए लार्ड बर्केनहेड ने कहा था कि उनके पारस्परिक मतभेद के कारण किसी भारतीय को कमीशन में नियुक्त नहीं किया गया। उसने भारतीयों को यह चुनौती दी कि भारतीय एक ऐसे विधान का निर्माण कर ब्रिटिश संसद के सामने प्रस्तुत करें जिसको उन्होंने सर्वसम्मति से तैयार किया हो। भारतीयों ने इस चुनौती को स्वीकार किया। उन्होंने एक सर्वदलीय सम्मेलन का आयोजन दिल्ली में फरवरी–मार्च, 1928 ई0 में किया। यह तय किया गया कि भारत की वैधानिक समस्या पर विचार "पूर्ण उत्तरदायी शासन' को आधार मानकर ही होना चाहिए। 10 मई 1928 को डॉ० अंसारी के सभापतित्व में फिर सम्मेलन की बैठक हुई जिसमें भारतीय संविधान का प्रारूप तैयार करने के लिए पंडित मोतीलाल नेहरू की अध्यक्षता में एक समिति की नियुक्ति की गई। सर तेजबहादुर सप्रू,

सर अली इमाम, श्री एम0 एस अणे, सरदार मंगरू सिंह, श्री शोएब कुरेशी, श्री जी0 आर0 प्रधान और श्री सुभाषचन्द्र बोस समिति के सदस्य नियुक्त हुए। समिति ने तीन महीनों के कड़े परिश्रम के बाद एक स्मरणीय रिपोर्ट प्रस्तुत की और जुलाई 1928 ई0 में इसे प्रकाशित किया गया। इसे भारतीय इतिहास में नेहरू रिपोर्ट, 1928 के नाम से विख्यात है। डॉ0 जकरिया ने इसे एक परिपक्व रिपोर्ट कहा है।

नेहरू रिपोर्ट की मुख्य बातें –

1. भारत को औपनिवेशिक स्वराज्य प्रदान किया जाना चाहिए और उसका स्थान ब्रिटिश शासन के अन्तर्गत अन्य उपनिवेशों के समान होना चाहिए।
2. केन्द्र में पूर्ण उत्तरदायी शासन की स्थापना होनी चाहिए। भारत के गर्वनर–जनरल को लोकप्रिय मंत्रियों के परामर्श पर और संवैधानिक प्रधान के रूप में कार्य करना चाहिए।
3. केन्द्रीय व्यवस्थापिका द्विसदनीय हो और मंत्रिमण्डल उसके प्रति उत्तरदायी हो। निम्न सदन का निर्वाचन वयस्क मताधिकार पर प्रत्यक्ष पद्धति से हो और उच्च सदन का परोक्ष पद्धति से।
4. प्रान्तों में भी केन्द्र की भॉति उत्तरदायी शासन की स्थापना हो।
5. केन्द्र और प्रान्तों के मध्य शक्ति–वितरण की एक योजना प्रस्तुत की गई जिसमें अवशिष्ट शक्तियॉ (Residuary powers) केन्द्र को प्रदान की गयीं।
6- साम्प्रदायिक निर्वाचन के स्थान पर सयुक्त निर्वाचन. व्यवस्था का सुझाव दिया गया। इसके अतिरिक्त यह भी सिफारिश की गई कि अल्पसंख्यक वर्गों के लिए उनकी जनसंख्या के आधार पर उनका आरक्षण (Reservation of seats) प्रदान किया जाय।
7. उत्तर पश्चिमी सीमा प्रान्त को ब्रिटिश भारत के अन्य प्रान्तों के समान वैधानिक स्तर प्राप्त होना चाहिए।
8. सिंध को बम्बई से अलग कर उसको एक अलग प्रान्त बनाया जाय।
9. रिपोर्ट में मौलिक अधिकारों का उल्लेख किया गया और उन्हें संविधान में स्थान देने की सिफारिश की गयी।
10. रिपोर्ट में यह भी कहा गया कि देशी राज्यों के अधिकारों तथा विशेषाधिकारों की रक्षा की व्यवस्था की जाय। साथ ही साथ उन्हें यह चेतावनी भी दी गयी कि भारतीय संघ में उन्हें तभी सम्मिलित किया जायगा जब उनके राज्य में उत्तरदायी शासन की स्थापना हो जाय।

नेहरू रिपोर्ट का मूल्यांकन :

नेहरू रिपोर्ट के सम्बन्ध में राजनीतिक दलों की भिन्न–भिन्न प्रतिक्रियाएं हुईं। कांग्रेस का एक दल जिसके नेता पंडित जवाहरलाल और सुभाष चन्द्र बोस थे, रिपोर्ट को पूर्ण स्वतंत्रता के आधार पर ही स्वीकार करने को तैयार थे लेकिन पंडित मोतीलाल नेहरू के नेतृत्व में कांग्रेस का पुराना दल इसे पूर्णतया स्वीकार करना चाहता था। महात्मा

गॉधी के हस्तक्षेप पर दोनों में समझौता हुआ और उक्त प्रस्ताव स्वीकृत हुआ। कलकत्ता में कांग्रेस ने यह प्रस्ताव पास किया कि नेहरू कमिटी की रिपोर्ट में शासन–विधान की जो योजना प्रस्तुत की गयी है, उस पर विचार करने के उपरान्त कांग्रेस उसका स्वागत करती है और उसको भारत की राजनीतिक व साम्प्रदायिक समस्याओं का समाधान तथा निराकरण करने में सहायक समझती है। अपनी समस्त सिफारिशों को सर्वसम्मति के पास करने के लिए कमिटि को बधाई भी देती है। जहॉ जक मुस्लिम लीग का प्रश्न है, इस रिपोर्ट के सन्दर्भ में पर्याप्त मतभेद था। राष्ट्रवादी मुसलमान, जिनके नेता डॉ0 अन्सारी और मौलाना अबुलकलाम थे, इसे पूर्णतया स्वीकार करने के पक्ष में थे जबकि दूसरा गुट, जिसके नेता सर मुहम्मद शफी थे, इसे पूर्णतया अस्वीकार करना चाहते थे। मुहम्मद अली जिन्ना के नेतृत्व में तीसरा गुट कुछ ऐसे संशोधन करवाना चाहता था जो इसके वास्तविक रूप को ही नष्ट कर देते थे। जैसे– मुसलमानों के लिए पृथक निर्वाचन–मण्डल विधानसभाओं तथा मंत्रिमण्डलों में अधिक स्थान की मॉग। देशी नरेशों ने भी नेहरू रिपोर्ट का विरोध किया, क्योंकि यह उनकी सार्वभौम सत्ता (Paramountcy) को नष्ट कर देता था। ब्रिटिश सरकार का विरोधी रुख स्वभाविक था।

अनेक कमियों और आलोचनाओं के बावजूद नेहरू रिपोर्ट भारतीय संवैधानिक विकास के दृष्टिकोण से एक मूल्यवान प्रलेख था। इसमें राष्ट्रवादी भारतीयों की आकांक्षाओं का पूर्णतया समावेश किया गया था। स्वतन्त्र भारत का वर्तमान संविधान भी मूलतः नेहरू रिपोर्ट से बहुत–कुछ मिलता–जुलता है। डॉ० जकरिया के शब्दों में– "नेहरू रिपोर्ट को विस्तारपूर्वक पढ़ा जाना आवश्यक है क्योंकि वह प्रत्येक विषय पर जिसका उसमें उल्लेख किया गया है, पूर्ण प्रकाश डालती है और सामान्य व्यावहारिक वृद्धि से, जो न अपने को सैद्धान्तिक कल्पनाओं में खोती है और न निरर्थक बातों का आश्रय लेती है, परिपूर्ण है।"

जिन्ना का चौदह सूत्रीय कार्यक्रम :

नेहरू रिपोर्ट पर संशोधन स्वीकार न किये जाने पर जिन्ना मुस्लिम लीग के मुहम्मद शफी और आगा खॉ गुट से जा मिले। जिन्ना ने नेहरू रिपोर्ट की संवैधानिक योजना को अस्वीकार कर दिया और इसके स्थान पर 9 मार्च 1929 ई0 को दिल्ली में लीग की एक बैठक में चौहद–सूत्रीय योजना प्रस्तुत की। इसे ही जिन्ना के 14 सूत्रीय प्रस्ताव के नाम से जाना जाता है। इनमें निम्नलिखित बातें सम्मिलित थीं –

1. संविधान का स्वरूप संघात्मक हो जिसमें अवशिष्ट शक्तियां प्रान्तों में निहित हो ।
2. सभी प्रान्तों को एक समान स्वायत्तता प्राप्त हो ।
3. सभी व्यवस्थापिका सभाओं और निर्वाचित संस्थाओं का गठन अल्पसंख्यकों को पर्याप्त तथा प्रभावपूर्ण प्रतिनिधित्व के आधार पर हो।
4. केन्द्रीय व्यवस्थापिका सभा में मुसलमानों का प्रतिनिधित्व कम–से–कम एक तिहाई हो।
5. साम्प्रदायिक समूहों को प्रतिनिधित्व देने के लिए पृथक् निर्वाचन मण्डल की व्यवस्था हो।

6. क्षेत्रीय पुनर्गठन इस प्रकार किये जाये कि वह पंजाब, बंगाल और उत्तर–पश्चिमी सीमान्त प्रान्तों में मुसलमानों के बहुमत परिवर्तन न ला सके।

7. सभी सम्प्रदायों को विश्वास, पूजा, प्रचार, संघ और शिक्षा की पूरी स्वतन्त्रता प्राप्त हो।

8. किसी भी व्यवस्थापिका सभा या निर्वाचित निकाय में कोई भी ऐसा प्रस्ताव पास न हो जिसका विरोध किसी सम्प्रदाय के दो–तिहाई सदस्य करें।

9. सिन्ध को बम्बई प्रान्त से अलग कर दिया जाय और सीमांत प्रान्त और बलूचिस्तान में अन्य प्रान्तों की भॉति सुधार लाये जायें।

10. कार्यकुशलता को ध्यान में रखते हुए मुसलमानों को सभी सेवाओं में पर्याप्त स्थान दिया जाय।

11. मुस्लिम संस्कृति, शिक्षा, भाषा, धर्म और वैयक्तिक कानूनों की सुरक्षा और उन्नति के लिए पर्याप्त संरक्षण–व्यवस्था हो।

12. केन्द्रीय या प्रान्तीय मन्त्रिमण्डलों में कम–से–कम एक–तिहाई मुसलमान हों।

13. संविधान में संशोधन लाने के लिए संघ के एकक प्रान्तों की स्वीकृति अनिवार्य हो।

इस प्रकार जिन्ना के चौदह बिंदु स्वशासित भारत में मुसलमानों के राजनीतिक अधिकारों की रक्षा के लिए एक संवैधानिक सुधार योजना थी। उनका उद्देश्य मुसलमानों को अधिकार दिलाना था। चौदह बिंदुओं में मुसलमानों के सभी हितों को एक गर्म समय में शामिल किया गया और इस अनुसरण में जिन्ना ने कहा कि यह "रास्ते का अलगाव" था और वह भविष्य में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के साथ कोई संबंध नहीं रखना चाहते थे और न ही रखेंगे।

जिन्ना द्वारा प्रस्तावित संशोधनों को कांग्रेस ने स्वीकार नहीं किया। इसलिए जिन्ना ने आगे भाग लेने से इनकार कर दिया। इसके अलावा लीग के नेताओं ने जिन्ना को मुस्लिम लीग को पुनर्जीवित करने और उसे दिशा देने के लिए प्रेरित किया। परिणामस्वरूप ये बिंदु मुसलमानों की मॉग बन गए और 1947 ई0 में पाकिस्तान की स्थापना तक मुसलमानों की सोच को बहुत प्रभावित करने में सफल रहा।

लाहौर अधिवेशन एवं पूर्ण स्वराज्य प्रस्ताव (दिसम्बर, 1929)

नेहरू रिपोर्ट को अंग्रेज सरकार ने 1929 ई0 तक स्वीकार नहीं किया। इंग्लैण्ड में रैम्जे मैकडोनाल्ड के नेतृत्व में मई, 1929 में मजदूर दल ने सरकार बनाई। राष्ट्रमण्डल देशों के श्रमिक दलों के सम्मेलन में मैकडोनाल्ड ने भारत के लिए अधिराज्य के दर्जे की घोषणा की एवं भारत के गवर्नर जनरल इरविन को विचार–विमर्श हेतु इंग्लैण्ड बुलाया। लार्ड इरविन ने भारत लौटकर 31 अक्टूबर, 1929 को घोषित किया कि इंग्लैण्ड सरकार की 1917 की घोषणा का अभिप्राय भारत को अधिराज्य का दर्जा दिया जाना है। उसने यह भी स्पष्ट किया कि साइमन कमीशन की रिपोर्ट पर ब्रिटिश सरकार द्वारा गोलमेज सम्मेलन आयोजित किया जायेगा। लेकिन इरविन की घोषणा में यह नहीं कहा कि भारत को स्वराज्य कब प्राप्त होगा ?

इस पृष्ठभूमि में 1929 ई0 में कांग्रेस का वार्षिक अधिवेशन लाहौर में शुरू हुआ, जिसकी अध्यक्षता जवाहरलाल नेहरू को करनी थी। नेहरू के पूर्ण स्वराज्य के प्रस्ताव को कांग्रेस द्वारा अपना मुख्य लक्ष्य बनाये जाने की पृष्ठभूमि में उनकी अध्यक्षता की दावेदारी को समझा जा सकता है जिसे गाँधीजी का भी पूर्ण समर्थन प्राप्त था। जवाहरलाल नेहरू के अध्यक्षीय भाषण के तीन प्रमुख विषय थे – स्वतंत्रता, समाजवादी एवं हिन्दू–मुस्लिम एकता। उन्होंने स्वाधीनता को एकमात्र लक्ष्य घोषित किया और समाजवाद की चर्चा करके स्वतंत्रता संग्राम को नई दिशा दी। अधिवेशन में नेहरू रिपोर्ट को निरस्त करते हुए उसके स्थान पर पूर्ण स्वराज्य को कांग्रेस का लक्ष्य घोषित किया गया।

अधिवेशन में घोषित किया गया कि ब्रिटिश शासन को अब स्वीकार करना मनुष्य और ईश्वर दोनों के प्रति पाप करना है। यद्यपि गाँधीजी कांग्रेस के इस निर्णय के प्रति गम्भीर नहीं थे और उन्होंने जिक्र किया था कि– "स्वतंत्रता के प्रस्ताव से किसी को डरने की आवश्यकता नहीं है।" यह कथन न्यूयार्क वर्ड में प्रकाशित भी हुआ लेकिन नेहरू जी अपने निर्णय पर अडिग थे। उन्होंने लिखा है– "अपनी लड़ाई शुरू करने के लिए और देश की नब्ज भी पहचानने की दृष्टि से 26 जनवरी 1930 को स्वतंत्रता दिवस मनाना तय हुआ है और इस दिन देशभर में आजादी की प्रतिज्ञा ली जाने वाली है।"

31 दिसम्बर, 1929 की अर्द्धरात्रि को रावी के तट पर प्रसन्नता और उल्लास के बीच भारतीय स्वतंत्रता का प्रतीक तिरंगा झण्डा फहराया गया। सुमित सरकार अपनी पुस्तक में लिखते है कि– "वह पूर्ण स्वराज्य के प्रस्ताव से कोसों दूर थी, क्योंकि उसमें राजनीतिक संरचना को बदलने की, यहाँ तक डोमिनियन स्टेट्स तक की माँग नहीं की गई।" इसके अतिरिक्त गाँधीजी ने क्रान्तिकारियों को फाँसी दिये जाने का विरोध नहीं

किया था।

सविनय अवज्ञा आन्दोलन, 1930 –

महात्मा गॉधी के नेतृत्व में 1930 ई0 में दूसरा महत्वपूर्ण देशव्यापी आन्दोलन चलाया गया जिसे भारतीय स्वाधीनता संग्राम के इतिहास में सविनय अवज्ञा आन्दोलन के नाम से जाना जाता है। इसे 'नमक सत्याग्रह' भी कहा जाता है।

1929 ई0 तक भारत में अशान्ति और उथल–पुथल का वर्ष था। इस समय तक देश की आर्थिक हालात सोचनीय हो गयी थी। आर्थिक मन्दी के कारण वस्तुओं के दाम बढ़ गये थे और कृषकों, मजदूरों तथा व्यापारियों की हालत खराब हो गयी थी। किसान और मजदूर संगठित हो गये थे और उनका आन्दोलन संघर्षशील तथा विकराल रूप धारण कर रहा था। मध्यम वर्ग के युवाओं में हिंसात्मक प्रवृति बढत्रती जा रही थी। फरवरी 1930 में साबरमती आश्रम में कांग्रेस कार्यकारिणी समिति की बैठक हुई जिसमें गॉधी को अधिकार दिया गया कि वे अपनी इच्छा से जब और जिस जगह चाहें, सविनय अवज्ञा आन्दोलन की शुरुआत कर सकते है। इस प्रकार साइमन आयोग की नियुक्ति, नेहरू रिपोर्ट की असफलता, वैश्विक मंदी और लाहौर कांग्रेस में स्वाधीनता का प्रस्ताव जैसे अनेक कारणों से नागरिक अवज्ञा आन्दोलन सम्बन्धी घटनाएँ तेज हो गई थी। आन्दोलन शुरू करने से पहले गॉधीजी ने वायसराय लार्ड इरविन से बात की

किन्तु उसने उनकी बातों पर कोई ध्यान नहीं दिया। इसके बाद गॉधीजी ने 'यंग इण्डिया' में एक लेख प्रकाशित कर वायसराय लार्ड इरविन के समक्ष एक चेतावनी भरा 11 सूत्रीय मॉग–पत्र प्रस्तुत किया। इसकी मुख्य बाते निम्नलिखित थी –

1. नशीली वस्तुओं के क्रय–विक्रय पर पूर्ण रोक लगायी जायें।
2. सिविल सेवाओं तथा सेना के खर्चो में 50 प्रतिशत तक की कमी की जाये।
3. शस्त्र कानून में परिवर्तन किया जाये तथा भारतीयों को आत्मरक्षा के लिए हथियार रखने का लाइसेंस दिया जाये।
4. सी0आई0डी0 विभाग पर सार्वजानिक नियंत्रण हो या उसे ख़त्म कर दिया जाये।
5. सभी राजनितिक बंदियों को रिहा किया जाये।
6. डाक आरक्षण बिल पास किया जायें।
7. रुपये की विनिमय दर घटाकर 1 शिलिंग 4 पेन्स की जाये।
8. रक्षात्मक शुल्क लगाये जायें तथा विदेशी कपड़ो का आयत नियंत्रित किया जाये।
9. तटों के लिए यातायात रक्षा विधेयक पास किया जाये।
10. नमक कर समाप्त किया जाये एवं नमक पर सरकारी एकाधिकार ख़त्म कर दिया जाये।
11. लगान में पचास प्रतिशत की कमी की जाये।

यह राजनीतिक जनमत की एक व्यापक श्रेणी को आकर्षित करने और भारतवासियों को फिर से एक राजनीतिक नेतृत्व की छत्रछाया में एकजुट करने के लिए एक मिला–जुला पैकेज था जिसे गॉधी ने स्वतंत्रता की अमूर्त धारणा को कुछ विशेष शिकायतों से जोड़ दिया था। इन मॉगों को स्वीकार या अस्वीकार करने के लिए 31 दिसम्बर 1929 तक का समय दिया गया था।

ब्रिटिश सरकार ने गॉधीजी के इस मॉग–पत्र पर कोई विचार नहीं किया इसलिए कांग्रेस वर्किंग समिति ने 14 फरवरी, 1930 में पूर्ण स्वराज्य प्राप्त करने के लिए सविन**य** अवज्ञा आन्दोलन शुरू करने का अधिकार महात्मा गाँधी को दिया। उचित समय का चयन करने एवं अवज्ञा प्रारम्भ करने के लिए वे प्राधिकृत थे।

नमक सत्याग्रह (Salt Satyagraha)

फरवरी 1930 के अंत में गॉधीजी ने नमक पर एकाधिकार के मुद्दे को नागरिक अवज्ञा आंदोलन का केंद्रीय मुद्दा बनाने का फैसला किया, जो उनकी कुशल समझदारी और दूरदर्शिता का एक उत्कृष्ट उदाहरण था। गाँधीजी ने फैसला किया कि वे गाँव–गाँव पैदल चलकर समुद्र तट पर पहुँचेंगे और वहाँ नमक कानून तोड़ेंगे। लोगों को आकर्षित करने का यह आदर्श तरीका साबित हुआ। नमक पर राज्य का एकाधिपत्य बहुत अलोकप्रिय था। प्रत्येक भारतीय के घर में नमक का प्रयोग अपरिहार्य रूप से होता था, किंतु उन्हें घरेलू प्रयोग के लिए भी नमक बनाने से रोक दिया गया था और इस तरह उन्हें दुकानों से ऊँचे दाम पर नमक खरीदने के लिए बाध्य होना पड़ रहा था। गांधीजी

ने कहा– "पानी से पृथक नमक नाम की कोई चीज नहीं है, जिस पर 'कर' लगाकर सरकार करोड़ों लोगों को भूखा मार सकती है तथा असहाय, बीमार और विकलांगों को पीड़ित कर सकती है। इसलिए यह कर अत्यंत अविवेकपूर्ण एवं अमानवीय है।"

वस्तुतः नमककर वाली शिकायत अनेक कारणों सेबहुत महत्त्वपूर्ण थी। वह जनता के सभी वर्गों को प्रभावित करती थी और इसका कोई विभाजक निहितार्थ नहीं था। वह सरकार के खजाने या किसी निहित स्वार्थ के लिए कोई खतरा नहीं थी, इसलिए यह न ही गैर–कांग्रेसी राजनीतिक तत्त्वों को नाराज करती और न ही सरकारी दमन को न्यौता देती। आखिरी बात यह कि उसे बेहद भावनात्मक बनाया जा सकता था और उसका भारी प्रचार मूल्य था। इस प्रकार नमक को मुद्दा बनाते हुए गाँधीजी ने अंग्रेजी शासन के खिलाफ व्यापक असंतोष को संघठित करने की योजना बनाई। अधिकांश भारतीयों को गॉधीजी की इस चुनौती का महत्त्व समझ में आ गया था, किंतु ब्रिटिश सरकार इसके महत्त्व को समझने में चूक गई।

दांडी मार्च का प्रारम्भ और प्रसार –

सविनय अवज्ञा आंदोलन शुरू करने से पहले 2 मार्च 1930 ई0 को गॅधीजी ने वायसरॉय को एक पत्र लिखा कि यदि सरकार उनकी माँगों को पूरा करने का कोई प्रयत्न नहीं करेगी तो 12 मार्च को वे नमक–कानून का उल्लंघन करेंगे। लार्ड इरविन कोई समझौता करने के पक्ष में नहीं थे, इसलिए गॉधीजी ने नागरिक अवज्ञा आंदोलन आरंभ करने के लिए 12 मार्च 1930 ई0 को ऐतिहासिक दांडी मार्च की की तिथि तय की। उस दिन गॉधीजी चुने हुए अपने 78 समर्थकों को साथ लेकर साबरमती आश्रम से चले और लगभग 200 मील की पदयात्रा मात्र 24 दिनों में पूरी करके वे 5 अप्रैल 1930 को गुजरात के समुद्रतट पर स्थित दांडी गाँव पहुँचे। उनकी यात्रा, उनके भाषणों तथा जनता पर उनके प्रभाव की खबरें प्रतिदिन के समाचार–पत्रों की सुर्खियॉ बनी रही। पुलिस अधिकारियों द्वारा भेजी गई गोपनीय रिपोर्टों से पता चलता है कि रास्ते में पड़ने वाले गाँवों के सैकड़ों अधिकारियों ने गॉधीजी के आह्वान पर अपने पदों से त्यागपत्र दे दिया था। रास्ते में 'वसना' गाँव में गॉधीजी ने ऊँची जाति वालों को संबोधित करते हुए कहा था – "यदि आप स्वराज्य के हक में आवाज उठाते हैं, तो आपको अछूतों की सेवा करनी पड़ेगी। सिर्फ नमक कर या अन्य करों के खत्म हो जाने से आपको स्वराज्य नहीं मिल जायेगा। स्वराज्य के लिए आपको अपनी उन गलतियों का प्रायश्चित करना होगा, जो आपने अछूतों के साथ की है। स्वराज्य के लिए हिंदू, मुसलमान, सिख, पारसी सबको एकजुट होना पड़ेगा। यही स्वराज्य की सीढ़ियां हैं।" पुलिस ने अपनी रिपोर्ट में लिखा था कि गॉधी की सभाओं में तमाम जातियों के औरत–मर्द शामिल हो रहे हैं। हजारों वॉलंटियर राष्ट्रवादी उद्देश्य के लिए सामने आ रहे हैं। उनमें से बहुत सारे ऐसे सरकारी अधिकारी थे जो औपनिवेशिक शासन में अपने पदों से इस्तीफा दे दिये थे।

अपने समर्पित कार्यकर्ताओं के साथ हाथ में लाठी नेकर गॉधीजी ने जब यह यात्रा शुरू की तो इस दृश्य में कुछ ऐसा जादू था कि लोगों का मन आन्दोलित हो उठा। हजारों कांग्रेस कार्यकर्ताओं ने व्याख्यानों के जरिए जनता के सामने इसकी जीवन्त तश्वीर पेश की। कुल मिलाकर जिस समय गॉधीजी दांडी की तरफ बढ़ रहे थे, उस समय कांग्रेस के नेता और कार्यकर्ता विभिन्न स्तरों पर संगठन सम्बन्धी कठिन कामों में व्यस्त थे।

नमक–यात्रा की प्रगति को एक और तरीके से भी समझा जा सकता है। अमेरिकी समाचार पत्रिका 'टाइम' को गांधी की कद–काठी पर हंसी आती थी। पत्रिका ने उनके शारीरिक बनावट को लेकर खूब मजाक उड़ाया था। अपनी पहली रिपोर्ट में ही 'टाइम' ने नमक यात्रा के मंजिल तक पहुँचने पर अपनी गहरी शंका व्यक्त कर दी थी। उसने दावा किया कि दूसरे दिन पैदल चलने के बाद गॉधी जमीन पर पसर गये थे। पत्रिका को इस बात पर विश्वास नहीं था कि इस मरियल से साधु के शरीर में और आगे जाने की ताकत बची है, किंतु एक रात में ही पत्रिका की सोच बदल गई। 'टाइम' ने लिखा कि इस यात्रा को जो भारी जन–समर्थन मिल रहा है, उसने अंग्रेज शासकों को बेचैन कर दिया है। अब वे भी गॉधी को ऐसा साधु और जननेता कहकर सलामी देने लगे हैं जो ईसाई धर्मावलंबियों के खिलाफ ईसाई तरीकों का ही हथियार के रूप में इस्तेमाल कर रहे हैं। कालान्तर में ब्रिटिश प्रधानमंत्री विस्टन चर्चिल ने गॉधीजी को 'अधनंगा फकीर (Half-Naked fakir) कहा था।

6 अप्रैल 1930 ई0 को आत्मशुद्धि के उपरान्त प्रातःकाल गॉधीजी ने समुद्रतट से मुट्ठीभर नमक उठाया और नमक– कानून को तोड़कर नागरिक अवज्ञा आन्दोलन का शुभारंभ किया। यह इस बात का प्रतीक था कि भारतीय जनता अब ब्रिटिश कानूनों और ब्रिटिश शासन के अंतर्गत जीने के लिए तैयार नहीं है। सुभाषचंद्र बोस ने गांधी के दांडी मार्च की तुलना एल्बा द्वीप से लौटने पर नेपालियन के पेरिस मार्च और राजनीतिक सत्ता प्राप्त करने के लिए मुसोलिनी के रोम मार्च से की है। गाँधीजी द्वारा नमक कानून उल्लंघन के साथ सत्याग्रह समूचे देश में शुरू हो गया। समुद्रतल पर गाँधीजी ने ऐलान किया – "अब राजद्रोह मेरा धर्म बन चुका है, हमारा संघर्ष एक अहिंसक युद्ध है। हम किसी की हत्या नहीं करेंगे, मगर इस शासन रूपी अभिशाप को नष्ट होते देखना हमारा धर्म है।"

9 अप्रैल को गांधीजी ने एक निर्देश जारी किया और जनता से अपील की कि जहाँ कहीं भी संभव हो, नमक–कानून तोड़कर नमक तैयार किया जाए और शराब, विदेशी कपड़े की दुकानों तथा अफीम के ठेकों के समक्ष धरने दिये जाएं। यदि संभव हो तो, करों की अदायगी भी रोक दी जाए, न्यायालयों का बहिष्कार किया जाए, सरकारी पदों से इस्तीफा दे दिया जाए और चरखा चलाकर सूत बनाया जायें छात्र सरकारी स्कूलों एवं कॉलेजों का बहिष्कार करें, स्थानीय नेता अहिंसा बनाये रखने में सहयोग करें। इन सभी कार्यक्रमों में सत्य एवं अहिंसा को सर्वोपरि रखा जाए, तभी हमें पूर्ण स्वराज्य की प्राप्ति हो सकती है। आम लोगों में जागृति पैदा करने और उसे आन्दोलन में प्रवृत्त करने में दांडी–मार्च की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही।

सविनय अवज्ञा आन्दोलन का प्रसार –

गाँधीजी द्वारा नमक कानून के उल्लंघन के साथ ही एक बिजली सी कौंध गई और आन्दोलन सम्पूर्ण देश में फैल गया। देश के भिन्न–भिन्न भाग के लोगों ने स्वयं नमक बनाकर कानून का उल्लंघन प्रारंभ कर दिया। भारतीय जनता ने नमक कानून के उल्लंघन को ब्रिटिश कानूनों के विरोध एवं साम्राज्यवाद की समाप्ति के प्रयासों के प्रतीक के रूप में देखा। सी0 राजगोपालाचारी ने त्रिचनापल्ली से वेदारण्यम तक की यात्रा की। मालाबार में वायकोम सत्याग्रह के नायकों के0 केल्लपन एवं टी0के0 माधवन ने नमक कानून तोड़ने के लिए कालीकट से पयान्नूर तक की यात्रा की। आन्ध्र प्रदेश

के विभिन्न जिलों में नमक सत्याग्रह के मुख्यालय के रूप में 'शिविरम्' स्थापित किये गये। नमक कानून को भंग करने पर सरकार गॉधीजी को गिरफ्तार करने में असफल रही। 14 अप्रैल 1930 को जवाहरलाल नेहरू गिरफ्तार कर लिये गये। इसके प्रतिरोध में कलकत्ता, मद्रास और करॉची में उग्र प्रदर्शन हुये और प्रदर्शनकारियों की विशाल भीड और पुलिस के बीच भयंकर टकराव हुये। तमिलनाडु में तंजौर के समुद्री तट पर चक्रवर्ती राजगोपालाचारी ने नमक यात्रा प्रारम्भ की और 30 अप्रैल को जब उन्हें गिरफ्तार किया गया तो उनके शिविर में बड़ी संख्या में लोग एकत्र थे। असम के सिलहट से बंगाल के नोआखाली समुद्र तक सत्याग्रहियों का एक दल नमक बनाने के लिए पहुँचा था। दिनों–दिन लोगों का उत्साह बढ़ता गया। उल्लेखनीय बात यह थी कि अधिकांश जुलूस शांतिपूर्ण रहे।

सविनय अवज्ञा आन्दोलन के समय की बेमिसाल घटना पेशावर में देखने को मिली, जहाँ खान अब्दुल गफ्फार खान के नेतृत्व में मुसलमानों ने राष्ट्रीय आन्दोलन में भाग लिया। वस्तुतः खान अब्दुल पश्चिमोत्तर प्रान्त के पेशावर के इलाकों में बर्षों से सक्रिय थे और उनके द्वारा जनता के लिए किये गये काम की वजह से 'खुदाई खिदमतगार' नामक अहिंसक जत्थे का निर्माण किया था। ये लोग 'लाल कुर्ती' (Red Shirt Indians) के नाम से जाने जाते थे। लाल कुर्ती के पठानों ने राष्ट्रीय एकता का नारा बुलन्द किया और कौमी आजादी के लिए पठानों को अपने स्वभाव के विपरित अहिंसा के रास्ते पर चलने की सलाह दी। यहॉ यह बात महत्वपूर्ण है कि जहॉ अन्य प्रान्तों के मुसलमान अपने आप को नमक सत्याग्रह से अलग रख रहे थे वहीं उत्तर पश्चिमी सीमाप्रान्त के मुसलमानों ने खान अब्दुल गफ्फार खॉ के नेतृत्व में सविनय अवज्ञा आन्दोलन में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। नमक सत्याग्रह के दौरान 25 अप्रैल से 4 मई तक पेशावर पर आम लोगों का नियंत्रण बना रहा। पेशावर की यह घटनाएँ इसलिए भी महत्वपूर्ण थी कि गढ़वाल रेजीमेंट के सैनिकों ने निहत्थी भीड़ पर गोली चलाने से इनकार कर दिया था। बाद में ब्रिटिश सरकार ने हवाई टुकड़ियों की मदद से पेशावर पर फिर से आधिपत्य स्थापित कर लिया।

धरासना सत्याग्रह –

नमक सत्याग्रह की सबसे तीव्र प्रतिक्रिया धरासना नमक सत्याग्रह के दौरान हुई। 21 मई 1930 को सरोजनी नायडू, इमाम साहब एवं गाँधीजी के पुत्र मणिलाल ने दो हजार आंदोलनकारियों के साथ धरासना नमक कारखाने पर धावा बोला। यद्यपि आंदोलनकारियों ने पूर्ण शांति के साथ विरोध–प्रदर्शन किया, किंतु पुलिस ने प्रदर्शनकारियों पर बर्बरतापूर्वक लाठीचार्ज किया, जिसमें दो लोग मारे गये और 320 लोग गंभीर रूप से घायल हो गये। धरासना के दमन का उल्लेख करते हुए पत्रकार मिलर ने लिखा कि– "संवाददाता के रूप में पिछले 18 वर्ष में असंख्य नागरिक विद्रोह देखे हैं, दंगे, गली–कूचों में मारकाट एवं विद्रोह देखे हैं, लेकिन धरासना जैसा भयानक दृश्य मैंने अपने जीवन में कभी नहीं देखा। "

नमक सत्याग्रह बड़ी तेजी से जनांदोलन में परिवर्तित हो गया। जून 1930 को 15,000 लोगों की एक भीड़ पुलिस का घेरा तोड़कर बंबई के वडाला नमक के कारखाने से नमक ले जाने में सफल रही। कर्नाटक में 10,000 लोगों ने सैनीकट्टा नमक कारखाने पर धावा बोला और लाठियाँ तथा गोलियाँ खाईं। मद्रास में नमक– कानून तोड़ने के

कारण जनता और पुलिस में टकराव हुए। आंध्र प्रदेश में महिलाओं ने मीलों चलकर नमक–कानून को चुनौती दिया। बंगाल, विशेषकर मिदनापुर में नमक सत्यागह काफी समय तक चलता रहा। उड़ीसा में बालासोर, पुरी और कटक गैर–कानूनी तौर पर नमक–निर्माण के प्रमुख केंद्र बन गये।

आन्दोलन की व्यापकता –

1930 ई0 के दौरान आन्दोलन जितना शक्तिशाली हो गया था, उसका अंग्रेजों ने अनुमान भी नहीं लगाया था। आन्दोलन में करबन्दी, लगानबंदी, शराबबंदी, नमक सत्याग्रह,जंगल सत्याग्रह, गॉजा–भॉग और विदेशी कपड़ों की दुकानों पर धरना, सरकारी स्कूलों और कॉलेजों एवं अदालतों का बहिष्कार, असहयोग आदि कई रूप धारण किये। गिरफ्तारी से पूर्व गांधीजी ने जोरदार तरीके से विदेशी वस्त्रों तथा शराब के बहिष्कार का आह्वान किया था। उन्होंने महिलाओं से विशेष रूप से इसमें अग्रणी भूमिका निभाने की अपील की थी। 1930 में भारत की महिलाओं ने यह दिखा दिया कि वे शक्ति और सामर्थ्य में किसी से कम नहीं हैं। जो महिलाएं कभी घर की चहारदीचारी से बाहर नहीं निकलती थीं, वे सबेरे से लेकर शाम तक शराब की दुकानों और विदेशी कपड़ों की दुकानों में धरना दिये नजर आती थीं। विदेशी कपड़ों और शराब के बहिष्कार में छात्रों और नौजवानों की भूमिका बहुत महत्वपूर्ण थी। बहिष्कार को क्रियान्वित करने में व्यापारी स्वयं काफी सक्रिय थे। कई मिल मालिकों ने विदेशी घागे का इस्तेमाल बंद कर दिया और शपथ ली कि वे ऐसा कोई मोटा कपड़ा नहीं बनायेंगे जिसकी स्पर्धा खादी से हो। इसका उल्लंघन करने वालों के उपर न केवल आर्थिक दण्ड लगाये गये अपितु उनका सामाजिक बहिष्कार भी किया गया। शराब के बहिष्कार के कारण आबकारी शुल्क भी काफी कम हो गया जिससे सरकारी राजस्व का भी भारी नुकसान हुआ। सरकार ने स्वयं स्वीकार किया था कि सत्याग्रह आन्दोलन बहुत सफल रहा। जुलाई के शुरू तक ब्रिटिश भारत का ऐसा कोई प्रान्त नहीं बचा था जहॉ आन्दोलन का असर न पडा हो। यह भी स्पष्ट है कि असहयोग आन्दोलन की तुलना में महिलाओं का अप्रत्याशित योगदान प्राप्त हुआ।

गॉधीजी के आह्वान पर मई 1930 में पूर्वी भारत की ग्रामीण जनता ने 'चौकीदारी कर न देने का आंदोलन चलाया। वस्तुतः बिहार में इस आन्दोलन के श्रीगणेश का मुख्य कारण यह था कि इन क्षेत्रों में समुदग तट न होने के कारण वहॉ पर नमक आन्दोलन की कोई गुंजाइश नही थी। चौकीदार गाँव के रक्षक होते थे और पुलिस बल की एक इकाई के रूप में काम करते थे। इन चौकीदारों से लोग बड़ी घृणा करते थे क्योंकि वे खुफियागिरी भी करते थे और जमींदारों के पालतू होते थे। बिहार के सारन, मुंगेर तथा भागलपुर के जिलों में जनता ने 'चौकीदारी कर' देने से इनकार कर दिया और चौकीदारों को त्यागपत्र देने के लिए प्रेरित किया। जहाँ आम जनता अपनी इच्छा से इन कार्रवाइयों में शामिल नहीं हुई, वहाँ गाँव के स्तर पर जोशीले कांग्रेसी कार्यकर्ताओं ने अपने बहिष्कार कार्यक्रम को मनवाने के लिए सीमित हिंसा का और सामाजिक बलप्रयोग के दूसरे सूक्ष्म रूपों का सहारा लिया। भागलपुर जिले के बिहपुर गाँव का कांग्रेसी आश्रम राष्ट्रवादी गतिविधियों का केंद्र था। 31 मई 1930 ई0 को पुलिस ने इस आश्रम पर कब्जा कर लिया। आंदोलनकारियों के उत्साहवर्धन के लिए पटना से राजेंद्र प्रसाद एवं अब्दुलबारी ने वहाँ जाकर एक विशाल रैली को संबोधित किया। रैली को

तोड़ने के लिए पुलिस ने लाठियों का प्रयोग किया, जिसमें राजेंद्र प्रसाद को भी चोटें आईं। अन्य जगहों की तरह यहाँ भी दमन के कारण राष्ट्रवादी गतिविधियों की शक्ति और बढ़ गई और स्थिति ऐसी हो गई कि देहाती इलाकों में पुलिस का घुसना असंभव हो गया। मुंगेर के 'बहरी' नामक स्थान पर भी सरकार का राज समाप्त–सा हो गया।

मानसून की दस्तक के कारण बंगाल में नमक बनाने में आई परेशानी के कारण वहॉ भी आन्दोलन नमक से हटकर चौकीदारी एवं यूनियन बोर्ड–विरोधी आन्दोलन में बदल गया। लेकिन वहॉ भी लोगों को भयंकर दमन का सामना करना पडा और पुलिस से बचने के लिए जनता को भागकर जंगलों में भी छिपना पड़ा। असम में कुख्यात 'कनिंघम सरकुलर' के विरोध में छात्रों के नेतृत्व में एक शक्तिशाली आन्दोलन चलाया गया जिसमें छात्रों और अभिभावकों से सद्व्यवहार का प्रमाणपत्र प्रस्तुत करने के लिए कहा गया। आन्दोलन के दौरान इस सरकुलर का उल्लंघन किया गया और इसके विरुद्ध प्रदर्शन किये गये। इस आन्दोलन में मणिपुर की जनता ने बहादुरी के साथ भागीदारी की। नागालैण्ड की एक 13 वर्षीय वीरबाला गिडालू ने कांग्रेस और गॉधीजी के आह्वान पर ब्रिटिश शासन के विरुद्ध विद्रोह का झण्डा बुलन्द किया। नागाओं ने अंग्रेजों को किसी प्रकार का कर या सेवा न देने का निर्णय किया। जब गिडालू के पति को पकड़कर फॉसी दे दी गई तब उसका स्थान गिडालू ने ले लिया, उसने नागाओं को संगठित करना शुरू किया। साम्राज्यवादी सरकार ने उसे पकड़ने के लिए 200 रु0 का इनाम रखा लेकिन वह पकड़ में नहीं आई। उसने अंग्रेजों को मुकाबला करने के लिए बांस का किला बनना शुरू किया। लेकिन अन्य नागाओं के पकड़े जाने पर वह अकेली कितना संघर्ष करती। उसे भी 1932 ई0 में गिरफ्तार कर जेल में डाल दिया। वह 14 वर्ष जेल में रही। नेहरूजी ने उसे छुड़ाने की बहुत कोशिश की, पर वे सफल न हुए। अन्ततः आजादी के बाद ही उसे मुक्त किया जा सका।

गुजरात के खेड़ा, बारदोली, भड़ौच आदि क्षेत्रों में लोगों ने भूमि लगान न चुकाये जाने को लेकर एक व्यापक आन्दोलन चलाया। हजारों की संख्या में लोग अपने घर की चीजें, परिवार के लोग, मवेशियों को लेकर ब्रिटिश नियंत्रण वाले भारत से निकलकर अन्य इलाकों में चले गये। पुलिस द्वारा आन्दोलनकारियों को बुरी तरह प्रताड़ित किया गया और उनके घरों को तोड़कर घर में रखी चीजें नष्ट कर दी गई। पुलिस ने सरदार बल्लभभाई पटेल की 80 वर्षीय वृद्ध मॉ को भी नहीं बख्शा जो अपने घर में खाना बना रही थी। इस दौरान अधिकांश समय तक बल्लभभाई पटेल जेल में रहे लेकिन इस बीच वे जब भी बाहर निकले अपने आस–पास के किसानों को लगातार ढ़ाढस बॅधाते रहे।

महाराष्ट्र, मध्य प्रान्त और कर्नाटक में कड़े वन नियमों के विरूद्ध वन सत्याग्रह चलाये गये और औपनिवेशिक जंगल कानून तोड़े गये। यहॉ सरकार ने वनों को प्रतिबन्धित क्षेत्र घोषित कर वहॉ पशुओं को चराने, लकड़ी काटने एवं वनोत्पादों को एकत्रित करने पर प्रतिबंध लगा दिया था। झारखाण्ड के आदिवासी क्षेत्रों में भी यह आन्दोलन बहुत सक्रिय था। इन समस्त क्षेत्रों में वन नियमों को तोड़नेवाली भीड़ की संख्या काफी अधिक थी। आन्ध्र प्रदेश के तटीय इलाके बुंदुर में टोटा नरसैया नायडू पुलिस बल से मार खाते–खाते बेहोश होकर गिर पडे लेकिन उन्होने राष्ट्रीय झंडा नहीं छोड़ा।

वर्तमान उत्तर प्रदेश अर्थात संयुक्त प्रान्त में आन्दोलन का दृश्य कुछ अलग था। यहाँ पर 'कर न दो', 'लगान न दो' का आन्दोलन चलाया गया। वस्तुतः कर न देने का यह आह्वान जमींदारों के लिए था। चूँकि अधिकांश जमींदार ब्रिटिश सरकार के प्रति वफादार थे, इसलिए यथार्थ रूप में लगान विरोधी आन्दोलन का रूप ही प्रमुख रहा। यद्यपि प्रारंभिक महीनों में आन्दोलन काफी शक्तिशाली था किन्तु सरकारी दमन के कारण यह आन्दोलन धीरे–धीरे कमजोर पड़ता गया। अक्टूबर 1930 ई0 से पुनः इसमें तेजी आई और संयुक्त प्रान्त के अनेक जिलों में इसने सफलता हासिल की। आगरा और रायबरेली इस आन्दोलन के प्रधान केन्द्र थे।

उत्तर–पश्चिमी सीमा प्रांत में जनाक्रोश की अभिव्यक्ति कई रूपों में देखने को मिली जहाँ कांग्रेस नेताओं की गिरफ्तारी को लेकर जनता ने अभूतपूर्व प्रदर्शन किया। जैसा कि उपर उल्लिखित किया जा चुका है कि पेशावर में शेरदिल पठानों ने अपने करिश्माई नेता 'सीमांत गांधी' खान अब्दुल गफ्फार खॉ के नेतृत्व में 'खुदाई खिदमतगार' (ईश्वर के सेवक) नामक संगठन बनाया, जो जनता के बीच 'लाल कुर्ती दल' कहलाते थे। इन्होंने पश्तो भाषा में 'पख्तून' नामक एक पत्रिका निकाली, जो बाद में 'देशरोजा' नाम से प्रकाशित हुई। ये लोग अहिंसा और स्वाधीनता संघर्ष को समर्पित थे। यहाँ आंदोलन की शुरुआत तब हुई, जब 23 अप्रैल 1930 को पुलिस ने स्थानीय कांग्रेसी नेताओं को गिरफ्तार कर लिया। गिरफ्तारी के विरोध में जनता ने हिंसक प्रदर्शन किया। इसी समय पेशावर में गढ़वाली सिपाहियों की दो प्लाटूनों ने चंद्रसिंह गढ़वाली के नेतृत्व में अहिंसक प्रदर्शनकारियों पर गोली चलाने से इनकार कर दिया। इस घटना से स्पष्ट हो गया कि राष्ट्रवाद की भावना भारतीय सेना तक में फैलने लगी थी जो ब्रिटिश शासन का प्रमुख आधार थी।

कुल मिलाकर ऐसा प्रतीत होता है कि देश की जनता ने संभवतः जवाहर लाल नेहरू के संदेश को दिल में धारण कर लिया था। दिसंबर 1929 में लाहौर में जवाहरलाल नेहरू ने राष्ट्रीय झंडे को कभी न झुकने देने का संदेश देते हुये कहा था – "एक बार फिर आपको याद रखना है कि अब यह झंडा फहरा दिया गया है, जब तक एक भी हिंदुस्तानी मर्द, औरत या बच्चा जिंदा है, इसे झुकना नहीं चाहिए।" आंदोलन के दौरान भयंकर और निर्मम दमन के सामने राष्ट्रीय झंडे के सम्मान की रक्षा का प्रयास विचित्र प्रकार की बहादुरी का रूप धारण कर लेता था। सूरत में छोटे–छोटे बच्चों ने पुलिस द्वारा बार–बार झंडा छीन लिये जाने से तंग आकर तिरंगे का ही ड्रेस सिलवा लिया। उस ड्रेस को पहनकर जीवित झंडे शान से गलियों और सड़कों पर घूमते रहे और पुलिस को चुनौती देते रहे। इस सत्याग्रह को जन–आन्दोलन के रूप में लोकप्रिय बनाने के लिए आन्दोलकारियों ने विभिन्न माध्यमों का सहारा लिया। गॉवों और कस्बों में प्रभातफेरियॉ निकाली जाती थी, गॉवों तक सन्देश पहुॅचाने के लिए जादुई लालटेनें काम में लाई जाती थी। बच्चों की बानर सेना संगठत की गई। विभिन्न पत्र–पत्रिकाओं ने भी आन्दोलन को लोकप्रिय बनाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। नेताओं के लगातार दौरे, बैठकें और छोटी–छोटी जनसभाएॅ इस आन्दोलन का केन्द्रीय आधार था। कुल मिलाकर सविनय अवज्ञा आन्दोलन को भारतीय जनता का व्यापक समर्थन मिला।

सरकार का दमन–चक्र :

सविनय अवज्ञा आंदोलन की अप्रत्याशित सफलता से ब्रिटिश सरकार 'दिग्भ्रमित और भौचक्की रह गई। पहले उसने सोचा था कि यदि आंदोलन में हस्तक्षेप न किया जाए, तो आंदोलन अपने आप असफल हो जायेगा। किंतु आंदोलन की तीव्रता और व्यापकता से झल्लाई सरकार ने बाद में नागरिक अवज्ञा आंदोलन के साथ भी पहले जैसा ही व्यवहार किया। आन्दोलन जैसे–जैसे तेजी पकड़ता गया, दमनचक्र भी वैसे–वैसे तीव्र होता गया। अध्यादेश निकाले गये, निर्मम दमन, निहत्थे स्त्री–पुरुषों पर लाठी और गोली की बौछार आदि के द्वारा इसे कुचलने के प्रयास किये गये। सत्याग्रहियों पर होने वाले अत्याचार की एक झलक आन्दोलन के दौरान गॉधीजी द्वारा वायसराय को लिखे गये एक पत्र से मिलती है – ''मै आशा करता हूँ कि सरकार सभ्य तरीके से सत्याग्रहियों का मुकाबला करेगी। यदि सरकार ने सत्याग्रहियों के खिलाफ सामान्य कानून के अन्तर्गत कार्यवाही की होती तो मैं कुछ न करता। परन्तु सरकार ने जबकि सुविख्यात नेताओं के साथ न्यूनाधिक रूप से कानूनी औपचारिकता बरती है, सामान्य कार्यकताओं के साथ बर्बर व्यवहार किया गया है, कुछ मामलों में उन्हे अशोभनीय तरीके से मारा–पीटा गया है।''

सत्याग्रहियों के प्रति सरकार के इस क्रूरतापूर्ण रवैये के प्रतिक्रियास्वरुप गॉधी ने वायसराय को अपने कूच की सूचना दी। उन्होने सरकार से नमक कर उठा लेने का अनुरोध किया, अन्यथा धरासणा के नमक कारखाने पर अधिकार कर लेने के इरादे की घोषणा की। इस बाद सरकार ने गॉधीजी का कूच सहन नहीं किया और 5 मई 1930 ई0 को उन्हे गिरफ्तार कर लिया। गॉधीजी तथा दूसरे कांग्रेसी नेताओं समेत लगभग 90,000 से अधिक सत्याग्रही गिरफ्तार किये गये। कांग्रेस को गैर–कानूनी संगठन घोषित कर दिया गया। समाचार–पत्रों पर कड़ा सेंसर लगाकर प्रेस का मुँह बंद कर दिया गया। सरकारी आँकड़ों के अनुसार पुलिस की गोलीबारी में 110 से अधिक लोग मारे गये और 300 से अधिक घायल हुए। गैर–सरकारी आँकड़ों के अनुसार मृतकों की संख्या इससे बहुत अधिक थी। दक्षिण भारत में दमन का भयानक रूप देखने को मिला। पुलिस प्रायः लोगों को खादी या गॉधी टोपी पहने देखकर ही पीट देती थी। आंध्र प्रदेश के एलौरा नामक स्थान पर भी पुलिस की गोलियों से अनेकों लोग मारे गये। सरकारी दमन चक्र का सबसे भयानक रूप बंबई में देखने को मिला।

भारत के इस मुक्ति संग्राम को कुचलने के लिए साम्राज्यवादियों ने क्रूर दमन का रास्ता अपनाया। सारे पश्चिमोत्तर प्रदेश, संयुक्त प्रान्त तथा बम्बई प्रेसीडेन्सी, पंजाब और बंगाल के कई जिलों में 'मार्शल ला' लागू किया गया। सभा और जुलुसों पर रोक लगा दी गई। बिना मुकदमा चलाये और बिना वारंट के लोगों को गिरफ्तार कर जेल में ठूँस दिया गया। इस घोर दमन के वावजूद जनआन्दोलन की व्यापकता और उग्रता को देखकर साम्राज्यवादियों के शिविर में घबराहट फैल गई। सरकार का दमन–चक्र आन्दोलन को दबाने में सफल नहीं रहा अतः कुछ व्यक्तियों ने सरकार तथा सत्याग्रहियों के बीच समझौता करने का असफल प्रयास किया। सोलोकौम्ब नामक एक अंग्रेज पत्रकार ने महात्मा गॉधी से यर्वदा जेल में भेंट की और आन्दोलन स्थगित करने के सम्बन्ध में बातचीत की। महात्मा गॉधी ने सत्याग्रह आन्दोलन को तबतक जारी रखने को कहा जबतक कि परिषद में भारत को सार रूप से स्वतंत्रता प्रदान न कर दी जाय। इस सम्बन्ध में सोलोकौम्ब ने पण्डित नेहरू से भी बात की जिसे जाकिर हुसैन

और सर तेज बहादुर सप्रू ने सरकार के समक्ष रखा। परन्तु सरकार द्वारा आश्वासन के अभाव में कोई समझौता नहीं हो सका।

प्रथम गोलमेज सम्मेलन, 1930 –

इस बीच 27 मई 1930 को साइमन कमीशन की रिपोर्ट प्रकाशित हुई। इसमें भारत को डोमिनियन स्टेट्स के अधिकार दिये जाने की चर्चा तक नहीं की गई थी। भारत के सभी राजनीतिक दलों ने इसके सुझावों को खारिज कर दिया। इससे सरकार अलग–थलग पड़ गई, यहाँ तक कि गरमदलीय विचार के राजनेता भी नाराज हो गये। सरकार को लगा कि भारतीयों की संवैधानिक माँगों की अब अधिक समय तक उपेक्षा करना ठीक नहीं है। वायसरॉय लार्ड इरविन ने 9 जुलाई 1930 ई0 को एक समझौतावादी घोषणा करते हुये कहा कि भारत के भावी संविधान और डोमिनियन स्टेट्स की माँग पर विचार करने के लिए शीध्र ही ब्रिटिश भारत तथा देसी रियासतों के प्रतिनिधियों का लंदन में एक गोलमेज सम्मेलन बुलाया जायेगा। इस प्रकार लन्दन में 12 नवम्बर 1930 सें 19 जनवरी 1931 ई0 के मध्य प्रथम गोलमेज सम्मेलन का आयोजन किया गया जिसका उद्घाटन ब्रिटिश प्रधानमंत्री रेम्जे मैकडोनाल्ड की अध्यक्षता में ब्रिटिश सम्राट ने किया। इसमें 89 प्रतिनिधियों ने भाग लिया जिनमें से 16 भारतीय देशी राज्यों के, 57 ब्रिटिश भारत के और 16 ब्रिटिश संसद व तीन प्रमुख दलों के प्रतिनिधि थे। ब्रिटिश भारत के प्रतिनिधियों का मनोनयन वायसराय ने किया था। देशी राज्यों के प्रतिनिधियों का चयन भी वायसराय ने ही किया। वस्तुतः सभी प्रतिनिधि सरकार के पिट्ठू थे। देश की प्रमुख राष्ट्रीय संस्था कांग्रेस ने सम्मेलन में भाग नहीं लिया। कांग्रेस देश का प्रमुख राजनीतिक दल था और उसके अनुयायियों की संख्या भी सबसे अधिक थी। सामान्य पद्धति तो यह होनी चाहिए थी कि यहॉ सभी दलों के प्रमुख प्रतिनिधियों को आमंत्रित किया जाता लेकिन ब्रिटिश सरकार ने उन्हे न तो आमंत्रित किया और न ही कांग्रेस ने यहॉ जाने से इनकार किया। उसके प्रतिनिधियों की अनुपस्थिति में भारत की राजनीतिक समस्या को सुलझाने के लिए बुलाया गया कोई भी सम्मेलन बिना दुल्हे के बारात के समान था। बेल्सफोर्ड के शब्दों में –"सेंट जेम्स महल में भारतीय नरेश, हरिजन, सिक्ख, मुसलमान, हिन्दू, ईसाई, जमींदार, मजदूर संघों और वाणिज्य संघों के प्रतिनिधि सम्मिलित थे, किन्तु भारतमाता वहां उपस्थित नहीं थी।'' ऐसी स्थिति में यह स्वाभाविक था कि प्रायः किसी भी महत्वपूर्ण प्रश्न पर कोई एक राय अथवा निर्णय नहीं हो सका। किन्तु इस सम्मेलन में पहली बार ब्रिटिश सरकार की ओर से भारत में संघात्मक व्यवस्था की स्थापना की एक योजना रखी गई। कूपलैंड ने लिखा है कि "यह सम्मेलन एक अत्यन्त ही महत्वपूर्ण ऐतिहासिक घटना थी। इसके पूर्व 40 करोड़ जनता का प्रतिनिधित्व करने वाले तथा एक सम्राट् के प्रति श्रद्धा रखनेवाले प्रतिनिधि समान हित के लिए एक समान महत्व के विषय पर विचार–विमर्श हेतु कभी भी एक स्थान पर एकत्र नहीं हुए थे।"

प्रधानमन्त्री मैकडोनल्ड ने परिषद के केन्द्रीय उद्घाटन भाषण में तीन आधारभूत सिद्धान्तों की चर्चा की।

1. व्यवस्थापिका सभा का निर्माण संघ शासन के आधार पर होगा और ब्रिटिश भारत प्रान्त और भारतीय देशी राज्य संघ–शासन की इकाई का रूप धारण करेगी।

2. केन्द्र में उत्तरदायी शासन की स्थापना होगी, किन्तु सुरक्षा और वैदेशिक विभाग भारत के गर्वनर–जनरल के अधीन होंगे।

3. अतिरिक्त काल में कुछ रक्षात्मक विधान (Statutory safeguards) अवश्य होंगे।

ब्रिटिश प्रधानमन्त्री के सुझावों के प्रति प्रतिनिधियों की भिन्न–भिन्न प्रतिक्रियाएं हुईं। संघ–शासन के सिद्धान्त को सभी प्रतिनिधियों और देशी नरेशों ने स्वीकार किया। ऐसा उन्होंने ब्रिटिश सरकार के इशारे पर किया क्योंकि केन्द्रीय व्यवस्थापिका में प्रगतिशील तत्वों के प्रभाव को कम करने के लिए उनकी उपस्थिति आवश्यक थी। प्रान्तीय स्वतन्त्रता के सम्बन्ध में भी किसी प्रकार का विचार–वैभिन्य नहीं था। भारतीय प्रतिनिधियों ने इसका समर्थन किया। केवल संरक्षण (Safeguard) और उत्तरदायी मंत्रियों पर नियन्त्रण के सम्बन्ध में प्रतिनिधियों में पारस्परिक मतभेद पाया गया। केन्द्र में आंशिक उत्तरदायित्व (Partial responsibility) की स्थापना का भी स्वागत किया गया। श्री जयकर और सर तेजबहादुर सप्रू ने भारत के लिए औपनिवेशिक स्वराज्य (Dominion Status) की मांग की। श्री जयकर ने इस बात पर जोर दिया कि "अगर भारत को औपनिवेशिक स्वराज्य मिल जाता है तो स्वतन्त्रता की मांग स्वतः समाप्त हो जायेगी।"

सम्मेलन में साम्प्रदायिकता की समस्या सर्वाधिक विवादपूर्ण रही तथा इस प्रश्न पर प्रतिनिधियों में काफी मत–विभिन्नता पायी गई। मुसलमान पृथक् तथा साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व के पक्ष में थे। जिन्ना ने अपने 'चौदह सूत्रीय कार्यक्रम' (Fourteen Points Formula) को स्वीकृति करने की जोरदार सिफारिश की। डॉ० अम्बेडकर, जो अनुसूचित जातियों के प्रतिनिधि थे उन्होंने भी पृथक् निर्वाचन–मंडल का समर्थन किया। लेकिन हिन्दू प्रतिनिधि संयुक्त निर्वाचन–प्रणाली और अल्पसंख्यकों के लिए स्थान–संरक्षण के पक्ष में थे। इस प्रकार सबसे अधिक महत्वपूर्ण प्रश्न पर प्रतिनिधियों में मतैव्य नहीं हो पाया। वे किसी एक निश्चित निष्कर्ष पर नहीं पहुँच सके।

अतः प्रथम गोलमेज सम्मेलन के दौरान केवल समस्याओं पर ही चर्चा हो सकी लेकिन कोई वास्तविक परिणाम नहीं निकल सका। कांग्रेस की अनुपस्थिति में यह सम्मेलन किसी के मन में कोई विश्वास नहीं जगा सका परिणाम यह हुआ कि बिना किसी सार्थक परिणाम के ही 19 जनवरी, 1931 ई० को यह सम्मेलन अनिश्चित काल के लिए स्थगित हो गया। ब्रिटिश प्रधानमंत्री रैम्जे मैकडोनाल्ड ने सम्मेलन में हुई वार्ता के आधार पर सरकार की नीति की घोषणा करते हुए कहा कि 'सम्राट की सरकार का मत है भारत सरकार का उत्तरदायित्व केन्द्रीय एवं प्रान्तीय धारासभाओं पर होना चाहिए, पर इसी के साथ–साथ परिवर्तन काल में यह आयोजन होना आवश्यक है कि सरकार अपने विशिष्ट कर्तव्यों का पालन कर सके और अल्पसंख्यकों के अधिकारों एवं स्वतन्त्रता की रक्षा कर सके। परिवर्तन काल की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए बनाये गये अधिरक्षणों के सम्बन्ध में सम्राट की सरकार को यह देखना होगा कि संरक्षित शक्तियॉ इस प्रकार बनायी और प्रयुक्त की जायें कि वे उत्तरदायी शासन की दिशा में; जो विधान के द्वारा स्थापित किया जाता है, भारत की उन्नति में बाधा न डाले। उन्होंने यह भी आशा व्यक्त की कि कांग्रेस भविष्य मैं सम्मेलन में भाग लेगी और भारत के लिए संविधान निर्माण में मदद करेगी।

यह निर्विवाद है कि प्रथम गोलमेज सम्मेलन असफल रहा। इसमें भारत के करोड़ों जनता के सच्चे प्रतिनिधियों ने भाग नहीं लिया। कांग्रेस की कुछ मांगों को आंशिक रूप से स्वीकार किया गया, लेकिन इसकी मुख्य मॉग पूर्ण स्वतन्त्रता पर विचार नहीं किया गया। यहां तक कि औपनिवेशिक स्वराज्य की मॉग को भी स्वीकार नहीं किया गया।

गाँधी–इरविन समझौता

12 नवम्बर, 1930 से 19 जनवरी, 1931 तक लंदन में प्रथम गोलमेज हुआ। कांग्रेस एवं अधिकांश व्यवसायिक संगठनों ने सम्मेलन का बहिष्कार किया, यद्यपि मुस्लिम लीग, हिन्दू महासभा, दलित वर्ग, भारतीय रजवाड़े एवं उदारवादी इसमें शामिल हुए थे। सम्मेलन में कोई निर्णय नहीं हो पाया, इसके परिणामों से यह अनुभव अवश्य किया गया कि जब तक कांग्रेस का सहयोग एवं सहमति नहीं होगी तब तक संवैधानिक विकास की कोई योजना सफल नहीं होगी। फलस्वरूप सर्वप्रथम 26 जनवरी 1931 को गाँधीजी को यर्वदा जेल से रिहा कर दिया गया जिससे गाँधीजी एवं वायसराय की भेंट का रास्ता प्रशस्त हुआ। सरकार ने मैत्रीपूर्ण रूख अपनाया और तेज बहादुर सप्रू और जयकर की सहायता से गॉधीजी को इसके लिए राजी करने में सफल हो गये कि वह वायसराया लार्ड इरविन से बात करें। कांग्रेस के वामपंथी नेता इस बात से नाखुश थे कि भगत सिंह, राजगुरू और सुखदेव को फॉसी की सजा दिये जाने का पूरे देश भर में विरोध था और उन्होने गॉधी से अपील की थी कि वह वायसराय के साथ अपनी बातचीत के दौरान सभी राजनीतिक बंदियों का मामला अवश्य उठाये। इस प्रकार 19 फरवरी 1931 से आगामी 15 दिन तक वायसराय लार्ड इरविन एवं गाँधीजी की आपस में चर्चा हुई एवं 5 मार्च 1931 ई0 को दोनों के मध्य एक समझौता–पत्र पर हस्ताक्षर किया गया। यही समझौता भारतीय इतिहास में 'गाँधी–इरविन समझौता' के नाम से जाना जाता है।

समझौते की शर्तें –

इस समझौते की प्रमुख बातें निम्नलिखित थी –

1. कांग्रेस की ओर से गाँधीजी सविनय अवज्ञा आन्दोलन स्थगित करने के लिए सहमत हो गए।
2. कांग्रेस पुलिस बर्बरता के लिए निष्पक्ष जॉच की मॉग नहीं करेगी।
3. कांग्रेस संवैधानिक सुधारों का प्रारूप तैयार करने के लिए इस शर्त पर द्वितीय गोलमेज सम्मेलन में शामिल होने के लिए सहमत हुई कि प्रस्ताविक संवैधानिक सुधारों का आधार संघीय व्यवस्था, उत्तरदायित्वपूर्ण शासन और भारत के हित को दृष्टिगत करते हुए प्रतिरक्षा, वैदेशिक मामलों, अल्पसंख्यकों से सम्बन्धित मामलों और भारत के वित्तीय ऋणों, जैसे विषयों के सम्बन्ध में सुरक्षात्मक व्यवस्था प्रदान करना होगा।
4. वायसराय सविनय अवज्ञा आन्दोलन के संबंध में लागू किए गए अध्यादेशों को वापस लेने के लिए सहमत हो गए।

5. सरकार आन्दोलन के संबंध में गिरफ्तार किए गए आन्दोलनकारियों अथवा राजनीतिक बन्दियों को रिहा करने तथा आन्दोलन के कारण जब्त की गई सम्पत्तियाँ वापस करने के लिए सहमत हो गई।

6. सरकार समुद्र–तट की कुछ दूरी के भीतर रहने वाले लोगों को निःशुल्क समुद्री नमक लेने या बनाने की अनुमति देने के लिए सहमत हो गई।

7. सरकार शराब तथा अफीम की दुकानों पर शान्तिपूर्ण धरने की अनुमति देने के लिए राजी हो गई।

कांग्रेस के बहुमत ने इस समझौते का स्वागत किया। 26 से 29 मार्च 1931 तक वल्लभभाई पटेल की अध्यक्षता में करॉची में हुए कांग्रेस के वार्षिक अधिवेशन में इस समझौते की संपुष्टि की गई और कांग्रेस ने दूसरे गोलमेज सम्मेलन में गाँधीजी को कांग्रेस का प्रतिनिधित्व करने के लिए भी प्राधिकृत किया।

जिन शर्तों के अधीन समझौते पर हस्ताक्षर किए गए उनको लेकर उस काल के लोगों में और इतिहासकारों में भी आपस में काफ़ी मतभेद और विवाद हैं। इसके मुख्य कारण हैं – इसका समय, हस्ताक्षर करते समय गाँधीजी के इरादे, भगत सिंह और उनके साथियों की फाँसी की सजा माफ़ करने को शर्त के रूप में न रखना। इस समझौते की लोगों ने अलग–अलग रूप में व्याख्या की है। कुछ ने इसे धोखे की संज्ञा दी है तो कुछ ने इसे भारतीय पूँजीपतियों के ढुलमुल स्वभाव का और गाँधीजी का उनके दबाव में आकर काम करने का प्रमाण माना है। यह कहा गया है कि गाँधीजी और भारतीय पूँजीपति दोनों ही जनांदोलनों से भयभीत थे जो काफ़ी क्रांतिकारी मोड़ ले रहा था, तो कुछ लोगों ने कहा कि किसानों के साथ धोखा किया गया क्योंकि उनकी ज़ब्त की हुई जो ज़मीन तीसरे पक्ष को बेच दी गई थी उसे वापस दिलाने की शर्त समझौते में नहीं थी। इसमें गुजरात के किसान विशेष रूप से प्रभावित थे, आदि।

मेरा मानना है कि लोगों की इस प्रकार की समझदारी का जो आधार है, वह भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन की रणनीति और उसके स्वरूप को पहचानने में असमर्थ है। इसमें शक नहीं कि नौजवान काफ़ी निराश हुए थे क्योंकि रोने–बिलखने की तुलना में वे मर मिटने को वरीयता देते थे। इसमें भी शक नहीं कि गुजरात के किसान खुश नहीं थे क्योंकि उनकी कुछ ज़मीनें उनको तत्काल वापस नहीं मिल सकी थीं। उनको ये तब वापस मिलीं जब 1937 में बम्बई में कांग्रेस मंत्रिमंडल सत्ता में आया। लेकिन विशाल जन–समुदाय का अधिकांश हिस्सा इस बात से प्रभावित था कि शक्तिशाली ब्रिटिश साम्राज्य और उसकी सरकार को उनके आंदोलन को महत्त्व देना पड़ा और उनके नेताओं के साथ बराबरी का सलूक करना पड़ा और उनके साथ समझौता भी करना पड़ा। इससे उनको लगा कि उनकी शक्ति को मान्यता मिली है और सरकार पर उन्हें विजय प्राप्त हुई है। इस समझौते के कारण जो हज़ारों लोग जेल से निकलकर बाहर आए उनको युद्धस्थल से विजय प्राप्त कर लौटने वाले सिपाहियों जैसा सम्मान दिया गया। उनको पराजित और अपमान सह कर लौटे युद्धबंदी नहीं बनाया गया। उनको पता था कि शांतिपूर्ण समझौता आत्म–समर्पण नहीं होता है और यह कि यदि शत्रु चाहें तो लड़ाई दोबारा छेड़ी जा सकती है। इस बीच ये थोड़ा आराम कर सकेंगे और भावी

संग्राम के लिए अपने को तैयार करेंगे। उन्हें अपने नेता और अपने आप में पूरा विश्वास था।

यद्यपि सुभाष चन्द्र बोस ने इसे कांग्रेस की पराजय कहा क्योंकि महात्मा गॉधी सरदार भगत सिंह और उनके साथियों को फॉसी की सजा से नहीं बचा सके जिससे भारतीय युवाओं को काफी निराशा हुई और उन्होने 'गॉधी मुर्दाबाद' के नारे भी लगाये। 'टाइम्स' नामक अखबार में स्पष्ट कहा गया कि – यह ब्रिटिश कूटनीति की विजय थी क्योंकि इसके द्वारा कांग्रेस सविनय अवज्ञा आन्दोलन स्थगित करने के लिए तैयार हो गयी जो दिन–प्रतिदिन तीव्र होता जा रहा था और सरकार की स्थिति डावांडोल होती जा रही थी।

कुल मिलाकर ऐसा समझौता समय की मॉग के अनुसार आवश्यक था। गॉधीजी ने इस समझौते को उचित ठहराते हुये कहा कि – इसका सबसे बडा लाभ यह था कि पहली बार अंग्रेजी सरकार ने भारतीय नेताओं के साथ समानता के स्तर पर बातचीत की थी। इससे राष्ट्रीय शक्ति का पता चलता है। उनकी दृष्टि में ब्रिटिश सरकार को कांग्रेस के साथ एक सार्वजनिक सन्धि पर हस्ताक्षर करने पड़े जबकि उसने शुरू में कांग्रेस को एक गैर–कानूनी संगठन घोषित कर दिया था।

द्वितीय गोलमेज सम्मेलन –

कांग्रेस के करॉची अधिवेशन में ही स्पष्ट कर दिया गया था कि द्वितीय गोलमेज सम्मेलन में भाग लेने हेतु गॉधीजी लंदन जायेंगे। लेकिन द्वितीय गोलमेज सम्मेलन प्रारंभ होने से पहले ही इंग्लैण्ड का राजनीतिक वातावरण बदल गया। लेबर पार्टी की सरकार का पतन हो गया और उसके स्थान पर रैम्जे मैकडोनाल्ड के नेतृत्व में एक राष्ट्रीय सरकार का गठन हुआ। भारत में भी लार्ड इरविन के स्थान पर लार्ड विलिंगटन को वायसराय नियुक्त किया गया जिसे गॉधी इरविन समझौते से कोई सहानुभूति नही थी। वर्तमान ब्रिटिश सरकार कांग्रेस को नीचा दिखाने के लिए अन्य भारतीय हितों और वर्गों को ज्यादा महत्व देने का रवैया अपनाया। ऐसी स्थिति में प्रतिक्रियावादी तत्वों से जूझते हुये साम्प्रदायिक समस्या का समाधान ढूँढना गॉधीजी के लिए आसान नही था और बिना इसके सांवैधानिक सुधार की दिशा में कोई ठोस कदम नहीं उठाया जा सकता था। इसलिए गॉधीजी ने गोलमेज सम्मेलन में भाग लेने में असमर्थता व्यक्त की। अन्त में गॉधीजी और लार्ड विलिंगटन की शिमला में भेंट हुई और वार्ता के पश्चात कांग्रेस के एकमात्र प्रतिनिधि के रूप में गॉधीजी गोलमेज सम्मेलन में शामिल होने के लिए तैयार हो गये। ब्रिटिश सरकार ने पंडित मदन मोहन मालवीय और श्रीमती सरोजनी नायडू को व्यक्तिगत रूप से सम्मेलन में भाग लेने के लिए आमंत्रित किया।

7 सितम्बर 1931 को लन्दन में द्वितीय गोलमेज सम्मेलन की शुरूआत हुई। गॉधीजी 29 अगस्त 1931 को इस सम्मेलन में भाग लेने हेतु एस0एस0 राजपूताना नामक जहाज से रवाना हुये और 22 सितम्बर 1931 ई0 को वे लन्दन पहुॅचे। वायसराय विलिंगटन ने रैम्जे मैकडोनाल्ड को सूचित किया कि– यह नाटा शैतान बहुत तेज है, जो सदैव फायदे का सौदा करता है, मैने इसकी प्रत्येक गतिविधि में 'महात्मा' पर 'बनिया' को भारी पड़ते देखा है। चर्चा इस बात से प्रारंभ हुई कि कार्यपालिका को विधायिका के

प्रति उत्तरदायी होना चाहिए। वार्ता के दौरान महात्मा गॉधी ने केन्द्र में द्वैध शासन का विरोध किया। उन्होने सुरक्षा, सेना और वैदेशिक विभाग पर पूर्ण नियंत्रण रखने की मॉग की। उन्होने यह भी कहा कि भारत को राष्ट्रमण्डल से सम्बन्ध–विच्छेद करने का अधिकार प्राप्त होना चाहिए। अंग्रेजों ने भारत में अल्पसंख्यकों के प्रतिनिधित्व के लिए एक अलग निर्वाचन प्रणाली बनाने का समर्थन किया लेकिन गॉधीजी ने इसका विरोध किया क्योंकि वह इस अवधारणा से असहमत थे कि अल्पसंख्यकों के साथ हिन्दुओं से अलग व्यवहार किया जाना चाहिए। उनका मानना था कि यह भारतीय समाज में और विभाजन पैदा करेगा। गॉधीजी ने साम्प्रदायिक समस्या को सुलझाने के लिए नेहरू रिपोर्ट के आधार पर प्रयत्न किया किन्तु उनको सफलता नही मिली। मुस्लिम लीग के अतिरिक्त अन्य वर्गो जैसे हिन्दू महासभा, सिक्ख, युरोपियन लोग, हरिजन आदि भी राष्ट्रीय हित की बजाय अपने संकीर्ण हितों पर ज्यादा जोर दे रहे थे। डा0 भीमराव अम्बेडकर ने तो दलित वर्गों के लिए पृथक प्रतिनिधित्व की मॉग रख दी थी। अन्ततः ब्रिटिश सरकार ने भारतीयों की स्वतंत्रता की मूल मॉग पर विचार करने से ही इनकार कर दिया। इस प्रकार स्वतंत्रता के मुद्दे पर विचार न होने तथा साम्प्रदायिक मसले पर कोई निर्णय न होने के कारण गॉधीजी असन्तुष्ट होकर भारत लौट आये।

गॉधीजी द्वारा भारत लौटने ही द्वितीय गोलमेज सम्मेलन का अधिवेशन 1 दिसम्बर 1931 ई0 को समाप्त हुआ। स्पष्ट है कि यह सम्मेलन भी असफल रहा और इसकी असफलता का मुख्य कारण ब्रिटिश सरकार का विरोधी रूख था। वह वास्तव में भारत की समस्या का हल निकालने के लिए तनिक भी उत्सुक नहीं थी।

सविनय अवज्ञा आन्दोलन का द्वितीय चरण –

28 दिसंबर को गॉधीजी बंबई लौट आये। उन्होंने स्वागत के लिए आई हुई भीड़ को संबोधित करते हुए कहा – "मैं खाली हाथ लौटा हूँ, किंतु देश की इज्जत को मैंने बट्टा नहीं लगने दिया।" दूसरे दिन कांग्रेस कार्यकारिणी की बैठक हुई और नागरिक अवज्ञा आंदोलन को पुनः शुरू करने का निर्णय लिया गया। 31 दिसंबर 1931 ई0 को गांधीजी ने वायसरॉय से बातचीत के लिए समय माँगा, किंतु वायसरॉय ने मिलने से इनकार कर दिया। परिणामतः गॉधीजी ने 3 जनवरी 1932 को नागरिक अवज्ञा आंदोलन का दूसरा दौर पुनः शुरू कर दिया।

देखते ही देखते जनता में आक्रोश की लहर फैल गई। कांग्रेस को जबरदस्त और अप्रत्याशित समर्थन मिला। हजारों सत्याग्रही जेल जाने लगे। पहले चार महीनों के दौरान लगभग 80,000 सत्याग्रही, जिनमें ज्यादातर गॉवों और शहरों के गरीब थे, जेल गये। लाखों लोगों ने शराब और विदेशी कपड़ों की दुकानों पर धरना दिये। अवैध सभाओं, राष्ट्रीय दिवसों के आयोजन, राष्ट्रीय झंडे के प्रतीकात्मक रोहण, चौकीदारी कर की गैर–अदायगी, और वन–कानूनों के उल्लंघन जैसे माध्यमों से अध्यादेशों की अवहेलना की जाने लगी।

पूरी तरह दमन पर उतारू सरकार ने 4 जनवरी 1932 को राष्ट्रीय आंदोलन पर हमला बोल दिया। गॉधीजी गिरफ्तार कर लिये गये, सामान्य कानून निलंबित कर दिये गये और प्रशासन विशेष अध्यादेशों के सहारे चलने लगा। सभी स्तरों पर कांग्रेस के संगठनों को प्रतिबंधित कर दिया गया और उसके कार्यालयों और कोषों पर सरकार ने

कब्जा कर लिया। पुलिस के आतंक का नंगा नाच शुरू हो गया और शांतिपूर्ण धरना देनेवालों, सत्याग्रहियों और प्रदर्शनकारियों पर लाठियाँ बरसाई गईं। एक हफ्ते के भीतर ही देश के प्रायः सभी वरिष्ठ कांग्रेसी नेताओं को जेल में डाल दिया गया। ग्रामीण क्षेत्रों में कर अदायगी न करनेवालों पर बेइंतहा जुल्म ढाये गये, उनकी जमीनों, पशुओं, मकानों और दूसरी संपत्तियों को कुर्क कर लिया गया। गुजरात के एक गाँव 'रास' में कर न देनेवाले किसानों को सबके सामने नंगा करके कोड़े लगाये गये और बिजली के झटके दिये गये। जेल में पुरुषों के साथ महिला कैदियों पर भी तरह–तरह के कठोर जुल्म किये गये। प्रेस पर भी पूरी तरह प्रतिबंध लगा दिया गया। अब वे आंदोलन की खबर या किसी सत्याग्रही की फोटो नहीं छाप सकते थे। 1932 की पहली छमाही के दौरान ही 198 पत्रकारों और 98 प्रिंटिंग प्रेसों के खिलाफ कार्रवाई की गई। राष्ट्रवादी साहित्य पर भी प्रतिबंध लगा दिया गया।

यद्यपि आंदोलन जोरदार ढंग से शुरू हुआ था, लेकिन गॉधीजी व अन्य नेताओं को इस आंदोलन को गति प्रदान करने का समय नहीं मिला। विभिन्न सामाजिक समूहों की भागीदारी भी बहुत उत्साहजनक नहीं रही। अनेक स्थानों, जैसे– तटीय आंध्र, गुजरात या उत्तर प्रदेश में धनी किसान समूह शांत रहे, क्योंकि गॉधीवादी सामाजिक कार्यक्रम के कुछ पहलू, जैसे छुआछूत के विरुद्ध उनका संघर्ष उनको पसंद नहीं थे। दूसरी ओर गॉधीजी की हरिजनोद्धार मुहिम स्वयं हरिजनों को प्रभावित करने में असफल रही। मराठी–भाषी नागपुर और बरार में, जो आंबेडकर की दलित राजनीति के गढ़ थे, अछूतों ने अपनी वफादारी कांग्रेस की ओर मोड़ने से इनकार कर दिया। इस उदासीनता और विरोध के साथ–साथ किसानों के कुछ दूसरे हिस्सों और कुछ निचले वर्गों में उग्रवाद और हिंसा का उदय हुआ और इन्होंने स्थानीय कांग्रेसी नेताओं के नियंत्रण में रहने से मना कर दिया। शहरी क्षेत्रों में औद्योगिक समुदाय दुविधा में पड़े रहे। मजदूर उदासीन ही रहे और मुस्लिम अकसर शत्रुता के भाव से ग्रस्त रहे। शिक्षित नगरवासी भी गॉधीजी के रास्ते पर चलने के प्रति कम उत्सुक थे। दुकानों पर दिये जाने वाले धरने अकसर बमों के उपयोग से त्रस्त होते रहे, और गॉधीजी ने इसकी निंदा की, पर इसे रोक न सके। इसी बीच नवम्बर 1932 में जब कांग्रेस संघर्ष के मजझार में थी, लंदन में एक बार फिर कांग्रेस के बिना तीसरे गोलमेज सम्मेलन का आयोजन किया गया।

अंत में, सरकार ने हजारों कांग्रेसी स्वयंसेवकों को सलाखों के पीछे धकेलकर इस नेतृत्वहीन और थके हुए जनांदोलन को कुछ ही महीनों के भीतर कुचल दिया। 1933 तक कमजोर हो रही अर्थव्यवस्था और बढ़ती हिंसा ने गॉधीजी के सबसे कट्टर समर्थकों, गुजराती और मारवाडी व्यापारियों तक के उत्साह को ठंडा कर दिया। सांप्रदायिकता और दूसरे प्रश्नों पर भारतीय नेताओं में मतभेद के कारण नागरिक अवज्ञा आंदोलन धीरे–धीरे बिखर गया। इसी बीच ब्रिटिश प्रधानमंत्री रैम्जे मैकडोनाल्ड की कुख्यात साम्प्रदायिक अधिघोषणा से इस आन्दोलन की अचानक दिशा परिवर्तित हो गई।

साम्प्रदायिक अधिनिर्णय और पूना समझौता –

द्वितीय गोलमेज सम्मेलन में विभिन्न सम्प्रदायों एवं दलित वर्गों के लिए पृथक् निर्वाचक मण्डल के विषय पर कोई सहमति नहीं हो सकी थी, अतः सम्मेलन ने इस समस्या के निदान के लिए ब्रिटिश प्रधानमंत्री रैम्ज़े मैकडॉनल्ड को प्राधिकृत किया था। तदनुसार, 16 अगस्त 1932 को रैम्ज़े मैकडॉनल्ड ने अपने साम्प्रदायिक निर्णय की घोषणा की। इस अधिनिर्णय के अनुसार –

1. मुसलमान, यूरोपीय तथा सिख मतदाता पृथक्–पृथक् साम्प्रदायिक निर्वाचन मण्डलों में मतदान कर अपने उम्मीदवारों का चुनाव करेंगे। इसका सीधा अर्थ था कि मुसलमान सिर्फ मुसलमान को और सिक्ख सिर्फ सिक्ख को ही बोट दे सकेंगे।
2. दलितों को हिन्दूओं से भिन्न मानकर इस वर्ग के लिए भी पृथक् निर्वाचन मण्डल का प्रावधान किया गया। सरकारी तौर पर दलितों को अनुसूचित जाति के नाम से पृथक् सम्प्रदाय के रूप में स्वीकार किया गया। तथापि मैकडॉनल्ड ने हिन्दुओं और दलित वर्गों में आपसी सहमति से तैयार की गई किसी वैकल्पिक योजना को स्वीकार करने का वचन दिया था।
3. प्रान्तीय व्यवस्थापिका सभाओं की संख्या दूनी कर दी गई।
4. प्रान्तीय व्यवस्थापिका सभाओं में स्त्रियों के लिए तीन प्रतिशत स्थान सुरक्षित कर दिये गये।
5. जमींदारों हेतु सुरक्षित स्थानों के लिए पृथक निर्वाचन क्षेत्रों की व्यवस्था की गई।

स्पष्ट है कि साम्प्रदायिक अधिनिर्णय में भारतीयों की एकता का छिन्न–भिन्न करने तथा विभिन्न वर्गों में फूट डालने के लिए हर संभावित प्रयास किया गया। गॉधीजी की दृष्टि में पृथक निर्वाचन मण्डल का सबसे बडा खतरा यह है कि यह 'अछूतों' को हमेशा अछूत बने रहने की बात सुनिश्चित करता है। दलितों के हितों की सुरक्षा के नाम पर विधानमण्डलों में या नौकरियों में सीटे सुरक्षित करने की जरूरत नहीं, उन्हे अलग समुदाय बनाने की जरूरत नहीं, जरूरत है समाज से छूआछूत की कुरीति को जड़ से समाप्त करने की। पृथक निर्वाचन व्यवस्था और प्रतिनिधित्व को अपनाकर करोडों दलितों को हिन्दू समुदायों से अलग करने की कोशिश की गयी जिससे राष्ट्रीय एकता को सदा के लिए खतरा पहुँचा। वस्तुतः देश के टुकडे–टुकडे करने के लिए और राष्ट्रीयता की भावना को रोकने के लिए इससे बढ़कर कोई दूसरा तरीका नहीं हो सकता था। वस्तुतः यह ''फूट डालो और शासन करो'' की नीति का ही एक अंग था। इसलिए राष्ट्रवादियों ने एक स्वर में इसका विरोध किया।

गाँधीजी का आमरण अनशन तथा पूना समझौता –

गोलमेज सम्मेलन में महात्मा गाँधी ने दलित वर्गों के लिए पृथक निर्वाचन–मण्डल के विचार का कड़े शब्दों में विरोध किया था और यह घोषणा की थी कि वह अपना जीवन देकर भी इसका प्रतिरोध करेंगे। अपने संकल्प की वास्तविकता के बारे में गाँधीजी ने 18 अगस्त, 1932 को ब्रिटिश प्रधानमंत्री को यह लिखा कि वह यरवदा जेल में, जहाँ उन्हें बन्दी बनाकर रखा गया था, 20 सितम्बर को आमरण अनशन प्रारम्भ करेंगे और

यह तभी समाप्त होगा जब इस सम्पूर्ण योजना की समीक्षा की जाएगी तथा सामान्य निर्वाचन मण्डल पुनः स्थापित किया जाएगा।

अपने निश्चय के अनुसार गॉधीजी ने 20 सितम्बर 1932 ई0 को अपना आमरण अनशन प्रारंभ किया। इस दिन को ''उपवास और प्रार्थना दिवस'' के रूप में मनाया गया। देखते ही देखते उनका स्वास्थ्य तेजी से गिरने लगा और उनके जीवन को खतरा पैदा हो गया लेकिन सरकार ने इस ओर कोई ध्यान नही दिया। गाँधीजी के उपवास ने पूरे देश में बड़ी उत्तेजना और चिन्ता उत्पन्न कर दी और गॉधीजी के इस चिन्तनीय स्थिति को देखकर श्री राजगोपालाचारी, डा0 राजेन्द्र प्रसाद, श्री एम0सी0 राजा, डा0 भीमराव अम्बेडकर और पण्डित मदन मोहन मालवीय ने 6 दिनों तक पूना में परस्पर वार्ता की। वार्ता के दौरान एक ऐसा सूत्र निकाला गया जिसपर महात्मा गॉधी और डा0 अम्बेडकर दोनो राजी थे। ब्रिटिश सरकार ने भी इस फार्मूले को स्वीकृति प्रदान कर दी। इस प्रकार डा0 भीमराव अम्बेडकर और गॉधीजी के मध्य एक समझौते पर हस्ताक्षर हुये जिसे भारतीय इतिहास में ''पूना पैक्ट या समझौता'' के नाम से जाना जाता है। पूना पैक्ट की मुख्य बाते निम्नलिखित थी –

1. साम्प्रदायिक निर्णय की तुलना में दलितों को अधिक स्थान दिये गये। साम्प्रदायिक निर्णय के अन्तर्गत दलितों के लिए प्रान्तीय व्यवस्थापिका सभाओं में 71 स्थान सुरक्षित किये गये थे जबकि पूना पैक्ट के अन्तर्गत उनके लिए सुरक्षित सीटों की संख्या बढ़ाकर 148 कर दी गई।
2. केन्द्रीय विधानमण्डल में सुरक्षित सीटों की संख्या में 18 प्रतिशत की वृद्धि की गई।
3. इन सुरक्षित स्थानों के लिए चुनाव दो स्तरों में होगा। शुरू में प्रत्येक सुरक्षित स्थानों के लिए दलित प्रत्याशियों को चुनेंगे। अन्त में हिन्दू और दलित संयुक्त रूप से इन चार प्रत्याशियों में एक प्रत्याशी को चुनेंगे। यह नियम 30 वर्षों तक लागू रहेगा।
4. दलितों को सामान्य निर्वाचक क्षेत्रों में भी मत देने का अधिकार होगा।

इस प्रकार पूना पैक्ट के द्वारा दलितों के लिए पृथक निर्वाचन क्षेत्र की मॉग छोड दी गई और संयुक्त निर्वाचन के सिद्धान्त को स्वीकार कर लिया गया। इसके बाद ही गॉधीजी ने दलित वर्ग के उत्थान पर जोर देना शुरू किया था। समाज में बराबरी दिलाने के लिए दलित का मन्दिर प्रवेश एवं अन्य कई कार्यक्रमों की शुरूआत गॉधीजी की महत्वपूर्ण देन थी। छूआछूत उन्मूलन के लिए उन्होने जबर्दस्त प्रचार किया। दलित वर्गों को 'हरिजन' नाम गॉधीजी ने ही दिया। इसके बाद ही 'हरिजन सेवक संघ' की स्थापना तथा 'हरिजन' नामक पत्रिका की शुरूआत गॉधीजी द्वारा की गई। इस समझौते के पश्चात महात्मा गॉधी ने 26 सितम्बर 1932 को अपना आमरण अनशन तोड़ दिया। पूना पैक्ट कांग्रेस के लिए एक हार थी क्योंकि सिद्धान्ततः उसने हिन्दू समाज में साम्प्रदायिकतावाद को स्वीकार कर लिया।

तृतीय गोलमेज सम्मेलन –

भारतीय राजनीतिक परिदृश्य की गतिविधियों से अबाधित ब्रिटिश सरकार ने अपना सांवैधानिक सरकार ने अपना सांवैधानिक सुधारों का कार्य जारी रखा। इसी क्रम में 17

नवम्बर 1932 ई0 को तृतीय गोलमेज सम्मेलन बुलाया गया जो 24 दिसम्बर 1932 तक चला। कांग्रेस ने तृतीय गोलमेज सम्मेलन का बहिष्कार किया। इसमें भारत से केवल राजभक्तों और साम्प्रदायिकतावादियों तथा ब्रिटेन से केवल उदारवादियों तथा प्रतिक्रियावादियों ने भाग लिया। कुल मिलाकर इस सम्मेलन में मात्र 46 प्रतिनिधियों ने ही इस सम्मेलन में भाग लिया। परिणामस्वरूप सम्मेलन किसी नतीजा पर नहीं पहुँच सका। उसने केवल विगत गोलमेज सम्मेलन के निर्णयों की पुष्टि की और नये संविधान के सम्बन्ध में कुछ बातों पर निर्णय लिया। भारतीय प्रतिनिधियों ने कुछ प्रगतिशील सुझाव रखे जिसपर सम्मेलन में कोई ध्यान नहीं दिया गया। अन्तत' 24 दिसम्बर 1932 ई0 को सम्मेलन समाप्त हो गया।

सविनय अवज्ञा आन्दोलन का अन्त –

सविनय अवज्ञा आन्दोलन धीरे–धीरे शिथिल पडता चला गया। हिन्दुओं और दलितों के प्रति किये गये पापों के प्रायश्चित के लिए गॉधीजी ने 8 मई 1933 को 21 दिन का उपवास शुरू किया। सरकार ने उन्हे जेल से मुक्त कर दिया। गॉधीजी का विचार था कि सरकार की दमनकारी नीति से जनता में भय और आतंक का वातावरण नीर्मित हो गया है। अतः आन्दोलन को कुछ दिनों के लिए स्थगित किये जाने पर सहमति व्यक्त की गई। कांग्रेस ने आधिकारिक रूप में मई 1933 में इसे निलंबित कर दिया और 7 अप्रैल 1934 में वापस ले लिया। गॉधीजी एक बार फिर सक्रिय राजनीति से अलग हो गये। राजनीतिक कार्यकर्त्ताओं के बीच एक बार फिर निराशा छा गई। सुभाषचंद्र बोस जैसे नेताओं ने गॉधीजी के इस कृत्य की आलोचना करते हुये कहा कि– "गाँधीजी ने पिछले तेरह वर्ष की मेहनत तथा कुर्बानियों पर पानी फेर दिया।" सुभाषचंद्र बोस और विट्ठलभाई पटेल ने बहुत पहले 1933 में ही घोषणा कर दी थी कि "एक राजनीतिक नेता के रूप में महात्मा जी असफल रहे हैं।" वायसरॉय विलिंगडन ने भी कहा कि – "कांग्रेस 1930 की तुलना में निश्चित ही कम अच्छी स्थिति में है और जनता पर उसका प्रभाव घटा है।" लेकिन विलिंगडन और उसके सहयोगी भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन के चरित्र और उसकी रणनीति को समझ नहीं सके। सरकारी दमन के कारण कांग्रेस और गॉधीजी में भारतवासियों की आस्था और मजबूत हो गई।

सविनय अवज्ञा आंदोलन का मूल्यांकन –

सविनय अवज्ञा आंदोलन भारत के राष्ट्रीय आंदोलन का एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण अध्याय है। यद्यपि यह आंदोलन स्वाधीनता लाने में असफल रहा था, लेकिन जनता का राजनीतिकरण करने तथा स्वाधीनता संघर्ष के सामाजिक आधारों को और मजबूत बनाने में सफल रहा। एक तरफ यदि तमिलनाडु के शहरी व्यवसायी वर्ग और छात्रों को अधिक सक्रिय बना दिया गया, तो गुजरात, संयुक्त प्रांत, बंगाल, बिहार और आंध्र प्रदेश के किसान अगली पंक्तियों में आकर खड़े हो गये थे और मध्य भारत, महाराष्ट्र, कर्नाटक और बंगाल की जनजातियाँ भी किसी से पीछे नहीं थीं। मजदूरों ने भी कलकत्ता, बंबई और मद्रास के कई सामूहिक प्रदर्शनों में हिस्सा लिया था, जिसमें शोलापुर के मजदूर सबसे आगे थे। मध्यभारत, महाराष्ट्र, कर्नाटक और बंगाल की जनजातियाँ भी इसमें शामिल हुईं। इस आंदोलन में जेल जानेवालों की अनुमानित संख्या 90,000 के आसपास थी, जो 1920–21 के असहयोग आंदोलन में भाग लेने वालों से तीन गुनी से भी अधिक थी। महिलाओं के लिए यह आंदोलन अब तक के

आंदोलनों में सबसे अधिक मुक्तिदायक सिद्ध हुआ। इस आंदोलन के कारण ब्रिटेन से आयातित कपड़े की मात्र गिरकर एक तिहाई रह गई। अन्य आयातित वस्तुओं, जैसे सिगरेट के साथ भी वही हश्र हुआ। शराब तथा भू–राजस्व से होनेवाली सरकारी आमदनी बुरी तरह प्रभावित हुई थी। विधानसभाओं का बहिष्कार अत्यंत प्रभावी तरीके से किया गया था।

सविनय अवज्ञा आंदोलन में मुसलमानों की भागीदारी निश्चित रूप से 1920–22 के असहयोग आंदोलन की अपेक्षा नगण्य थी, किंतु ऐसा सरकार की सांप्रदायिक नीतियों और सांप्रदायिक नेताओं की सांप्रदायिक अपीलों के कारण हुआ था, ताकि राष्ट्रवादी आंदोलन को कमजोर किया जा सके। इसके बावजूद पश्चिमोत्तर प्रांतों में मुसलमानों ने जबरदस्त भागीदारी की। बंगाल में सेनहट्टा, त्रिपुरा, गैबंधा, बांगुरा और नोआखली में मध्यमवर्गीय मुसलमानों की भागीदारी महत्त्वपूर्ण थी। ढॉका में मुसलमान, विद्यार्थी, दुकानदार और यहाँ तक कि निम्न वर्ग की साधारण जनता ने भी आंदोलन को अपना समर्थन दिया था। उच्च वर्गीय और मध्यम वर्गीय मुस्लिम महिलाएँ भी सक्रिय थीं।

इस आंदोलन को जो समर्थन शहरों और गाँवों की गरीब और निरक्षर जनता से मिला, वह अभूतपूर्व था। बंगाल के पुलिस इंस्पेक्टर जनरल ने कहा था– "मुझे इस बात का कतई अनुमान नहीं था कि कांग्रेस को इस प्रकार के अज्ञानी और गंवार लोगों का भी सहयोग प्राप्त होगा।" ब्रिटिश पत्रकार एच0 एन0 ब्रेल्सफोर्ड ने संघर्ष का विश्लेषण करते हुए लिखा है– "भारतीय मानस अब मुक्त हो गया है। अपने दिलों में उन्होंने आजादी हासिल कर ली है।" नागरिक अवज्ञा आंदोलन के वास्तविक परिणाम और वास्तविक प्रभाव का अंदाजा इससे लगाया जा सकता है कि राजनीतिक बंदी जब 1934 में रिहा हुए तो जनता ने उनका वीरों के रूप में स्वागत किया। इस तरह कांग्रेस के लिए सविनय अवज्ञा आंदोलन किसी भी तरह असफल नहीं था।

आम तौर पर हम कह सकते है कि सविनय अवज्ञा आंदोलन असहयोग आंदोलन की तुलना में काफ़ी व्यापक था। असहयोग आंदोलन में जहाँ धरना, जुलूस इत्यादि पर ज़ोर दिया गया था, करबंदी आंदोलन सविनय अवज्ञा का महत्त्वपूर्ण अंग था। साथ ही जनसमर्थन को देखते हुए कहा जा सकता है कि सविनय अवज्ञा आंदोलन का क्षेत्र काफ़ी व्यापक था। समाज के अधिकांश तबके के लोगों ने इसमें भाग लिया, यातनाएँ सही, किंतु अपने उद्देश्य से विचलित नहीं हुए। इस सबके बावजूद यह आंदोलन अपने उद्देश्य की प्राप्ति कर सका, इसमें संदेह है। लोगों में व्याप्त असंतोष और बलिदान की भावना को यदि पूरी तरह इस्तेमाल नहीं किया जा सका तो इसके लिए ज़िम्मेदार तत्कालीन नेतृत्व था। कांग्रेस की अपनी सीमाएँ थीं। या तो कांग्रेस अँग्रेज़ी साम्राज्यवाद के सच्चे स्वरूप को भली–भाँति समझती नहीं थी या फिर वह लोगों के अंदर छिपी क्रांतिकारी शक्ति का भरपूर फ़ायदा उठाना नहीं चाहती थी। कांग्रेस की सबसे बड़ी कमज़ोरी यह थी कि उसके पास स्वतंत्र भारत के लिए कोई भी ऐसा आर्थिक–सामाजिक कार्यक्रम नहीं था जिसके अंतर्गत ग़रीब मज़दूर और किसानों का उद्धार किया जा सके। कांग्रेस के अंदर उभर रहे समाजवादी तत्त्वों ने जब इस ओर गाँधीजी का ध्यान आकृष्ट करना चाहा, तो उन्होंने इसमें कोई दिलचस्पी नहीं दिखलाई। बल्कि उन्होंने ऐसे क़दम उठाए जिससे समाजवादी तत्त्व कांग्रेस संगठन में उभर न पाएँ। इस तरह राष्ट्रीय आंदोलन के इतिहास में कांग्रेस सदा ही बुर्जुआ वर्ग

के हितों का ही प्रतिनिधित्व करती रही, और इस बुर्जुआ नेतृत्व के अगुआ थे गाँधीजी। गाँधीवादी राजनीतिक विचारधारा और तदनुरूप वर्ग–संबंधों के अनुकूल इस नेतृत्व ने राष्ट्रीय आंदोलन का क्षेत्र संकुचित और सीमित रखा।

कांग्रेस के इस बुर्जुआ नेतृत्व के खिलाफ तीव्र प्रतिक्रिया हुई। कांग्रेस के कई कार्यकर्ताओं ने आंदोलन के दौरान गाँवों में काम किया था और वहाँ के लोगों की दयनीय स्थिति उन्होंने देखी थी जिससे वे अप्रभावित नहीं रह सके। चूँकि आंदोलन ग़रीब मज़दूर और किसानों की स्थिति में कोई ख़ास सुधार किए बग़ैर ही समाप्त हो गया, इससे कांग्रेस के अधीन इस गुट को भारी सदमा पहुँचा। इन्होंने कांग्रेस के तत्कालीन नेतृत्व में परिवर्तन की माँग की और एक सामाजिक–आर्थिक कार्यक्रम बनाए जाने पर ज़ोर दिया। इन्हीं लोगों ने आगे चलकर कांग्रेस समाजवादी पार्टी की स्थापना की। समाजवादी तत्त्वों के अलावा उदारवादी भी कांग्रेस संगठन से अलग होने लगे थे।

इस सबके बावजूद सविनय अवज्ञा आंदोलन की उपलब्धियों को नकारा नहीं जा सकता। इस आंदोलन से कुछ स्थायी लाभ हुआ। समाज के विभिन्न तबके के लोगों ने पहली बार खुलकर इस आंदोलन में भाग लिया। इस आंदोलन के पीछे जनता की असीम श्रद्धा, निष्ठा, त्याग और समर्थन था और इसमें कोई संदेह नहीं कि यह आंदोलन सफलता के काफ़ी समीप पहुँच गया था। भारतीय महिला के लिए यह आन्दोलन उस समय तक के आन्दोलनों में सबसे अधिक मुक्तिदायी था। जो विफलता इसे मिली, वह अस्थायी थी। संघर्ष की भट्ठी में तपकर इस आंदोलन ने जनता में एक नई और अपेक्षाकृत अधिक राष्ट्रीय एकता, आत्मविश्वास, गौरव और संकल्प को जन्म दिया। ब्रेल्सफ़ोर्ड ने सविनय अवज्ञा आंदोलन के नतीजे की चर्चा करते हुए लिखा है कि– "भारतीय अपना दिमाग़ निश्चित कर चुके थे, अपने दिलों में वे स्वतंत्रता प्राप्त कर चुके थे, गाँधी ने एक सौम्य तथा निष्क्रिय राष्ट्र को शताब्दियों की निद्रा से जगा दिया था।" 1930–34 के आंदोलन से सबक लेकर लोग संघर्ष के अगले दौर की तैयारी में जुट गए जब उन्हें आजादी हासिल होने ही वाली थी।

भारत छोड़ो आन्दोलन, 1942

The Quit India Movement, 1942.

भारत छोड़ो आन्दोलन, जिसे भारतीय इतिहास में "अगस्त क्रांति" के नाम से भी जाना जाता है, भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन के अन्तर्गत भारतीय जनता की वीरता और जुझारूपन का एक ऐसा पक्ष है जिसे प्रदर्शनीय समझकर पेश किया जाता है। अगस्त क्रांति के वीरों की याद में 9 अगस्त की प्रतिवर्ष होने वाली सभाओं में परम्पर विरोधी राजनैतिक दल 1942 की भावना के उत्तराधिकारी होने का दावा करते हैं। यद्यपि यह आन्दोलन भारत के अधिकांश भागों में एक हिंसक जनविद्रोह के रूप में प्रगट हुआ था फिर भी इसे स्वतंत्रता आंदोलन के मिथक में सहज भाव से सम्मिलित कर लिया गया है। ऐसा करने से इस कथन की पुष्टि करने में सहायता मिलती है कि स्वतंत्रता की प्राप्ति खून बहाए बिना नहीं हुई। यद्यपि हिंसक होने के कारण इस आन्दोलन का आरंभ में अनेक कांग्रेसी नेताओं ने अपना मानने से इनकार कर दिया था, किंतु अब वे उसकी विरासत का दावा करते हैं क्योंकि इससे 'मातृभूमि' की अभिन्नता का चित्र प्रस्तुत करने में सहायता मिलती है। किंतु वे लोग जिन्होंने कुछ सप्ताह के लिए भारत के क्षितिज पर सहना प्रकट होकर शक्तिशाली ब्रिटिश साम्राज्य की सत्ता को चुनौती दी और इस आंदोलन को वीरतापूर्ण जन–विद्रोह का रूप दिया था, अब विस्मृति के अथकार में विलुप्त होते जा रहे हैं।

आज यह कहना एक आम बात हो गई है कि अंग्रेजों ने जन–आंदोलन से भयभीत होकर भारत नहीं छोड़ा था बल्कि इसलिए छोड़ा कि यहाँ बने रहना उनके युद्धोत्तर आर्थिक हितों के अनुरूप नहीं था। वस्तुतः इस तथ्य को समझना आवश्यक है कि 1942 के भारत छोड़ो आंदोलन की विशालता को देखकर ही अंग्रेजों ने भारत के विषय में पुनर्विचार आरंभ किया। इस आंदोलन से यह स्पष्ट हो गया था कि भारत को अपने अधिकार में रखने के लिए उन्हें ताक़त का अधिकाधिक प्रयोग करना पड़ेगा और अंततः ताकत से ही भारत को अपने कब्जे में रखना संभव होगा। यह भी स्पष्ट हो गया था कि अंग्रेजों ने शासन का वैध अधिकार खो दिया है। भारत छोड़ो आंदोलन से यह स्पष्ट हो गया था कि उनकी सत्ता के लिए चुनीती केवल नगरों तक ही सीमित नहीं थी वरन् गाँवों में भी मौजूद थी और लोग अब ब्रिटिश शासन के विरुद्ध हथियार उठाने को तैयार थे। सेना द्वारा रक्षित शहरों की रक्षा करना एक बात थी परन्तु वर्तमान उत्तर प्रदेश और बिहार के सुदूर ग्रामों में स्थित साम्राज्य की चौकियों की रक्षा करना बड़ी हिम्मत का और महँगा सौदा था। साम्राज्य की रक्षा के लिए पहले भी विशेष प्रयत्न करने पड़ते थे किंतु फिर भी खुली बग़ावत शुरू न होने तक अंग्रेज़ लोग बल प्रयोग न कर, बल प्रयोग की धमकी से ही काम चला लेते थे। 1942 के आंदोलन में उपद्रवी भीड़ पर काबू पाने के लिए विमान से मशीनगन चलाने की आवश्यकता पड़ने के बाद यह चिंताजनक आशंका सामने आई कि अगली बार यह विद्रोह अधिक संगठित होगा। इससे भी अधिक चिंताजनक विचार था कि अगली बार उपद्रवी लोग कांग्रेस के झंडे के नीचे आंदोलन न करके ऐसे संगठनों और विचारधाराओं से प्रेरणा लेंगे जो ब्रिटिश साम्राज्य के लिए अधिक खतरनाक थी। सच बात तो यह है कि ब्रिटेन का भारत से

पलायन 1937 में ही शुरू हो गया था जब भारतवासियों को स्वशासन के अधिकार दिए गए थे। 1943 तक आते–आते अँग्रेज शासकों ने कम–से–कम अपने मन में भारत छोड़ने का निश्चय कर लिया था।

यहॉ हम भारत छोड़ो आंदोलन की दो स्तरों पर समीक्षा करने का प्रयास करेंगे– पहले तो यह देखने का प्रयास किया जाएगा कि आंदोलन की योजना गाँधीजी ने किस प्रकार तैयार की। पहले के कठोर अनुशासन में किए जाने वाले व्यक्तिगत सत्याग्रह के विपरीत गाँधीजी ने असंगठित आंदोलन का रास्ता क्यों चुना और दूसरा आंदोलन को सक्रिय रूप देने के लिए गाँधीजी ने कांग्रेस के नेतृत्व को विश्वास में क्यों नहीं लिया। आंदोलन का स्वरूप और उसका आकार क्या उनकी योजना के अनुरूप ही था? यह सिद्ध करने के लिए हम आंदोलन से सर्वाधिक प्रभावित क्षेत्र – पूर्वी संयुक्त प्रांत और बिहार से लगे हुए भागों में हुए विद्रोह का इस दृष्टि से विश्लेषण करेंगे कि उसका नेतृत्व किन लोगों ने किया और विद्रोह में हुई हिंसा का क्या स्वरूप था। लेकिन इन सबसे पहले हम इस आन्दोलन के कारणों और परिस्थितियों को समझने का प्रयास करते है।

भारत छोड़ो आन्दोलन की उत्तरदायी परिस्थितियॉ –

द्वितीय विश्वयु0 के काल में मार्च 1942 ई0 में क्रिप्स मिशन की असफलता से यह स्पष्ट हो गया था कि ब्रिटिश सरकार युद्ध में भारत की अनिच्छुक साझेदारी को तो बरकरार रखना चाहती है, किन्तु किसी सम्मानजनक समझौते के लिए वह तैयार नहीं है। क्रिप्स मिशन पर विस्तार से हम अगले यूनिट में चर्चा करेंगे। क्रिप्स मिशन का एकाएक भारत छोड़ जाना अचानक और बड़े ही नाटकीय अंदाज से हुआ। इससे यह स्पष्ट हो गया कि क्रिप्स मिशन का सारा तमाशा उन मित्र देशों की, जो भारत की स्वाधीनता की मॉग के प्रति सहानुभूति रखते थे, तथा यह भारतीयों की ऑखों में धूल झोंकने का प्रयास था। जिस ढंग से समझौते की बातचीत भंग हुई उसका परिणाम यह हुआ कि ब्रिटिश शासकों और भारतीय नेताओं के बीच खाई और चौड़ी हो गयी। इससे भारतीयों में निराशा और हतोत्साह की लहर दौड़ गई। गॉधीजी और नेहरू जैसे लोग युद्ध में ब्रिटेन को किसी भी तरह से कमजोर करना नहीं चाहते थे लेकिन अन्ततः वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि अब और अधिक चुप रहना यह स्वीकार कर लेना है कि ब्रिटिश सरकार को भारतीय जनता की इच्छा जाने बिना भारत का भाग्य तय करने का अधिकार है।

आमतौर पर इस समय भारत में राजनीतिक अनिश्चितता का वातावरण बना हुआ था। फासीवादी शक्तियों से घृणा होने के बाद भी मित्रराष्ट्रों की लगातार पराजय और ब्रिटेन के साम्राज्यवादी रवैये ने तात्कालीन राजनीतिक वातावरण को अनिश्चितता के अंधेरे में खड़ा कर दिया था। अब तो यह भय भी उत्पन्न हो गया था कि यदि जापान भारत पर अधिकार कर लेता है तो वह आजादी देगा या नही। अपने ''करो या मरो'' वाले भाषण में गॉधीजी ने स्पष्ट कहा था कि– ''मैं रूस अथवा चीन की हार का औजार नहीं बनना चाहता।''

क्रिप्स मिशन की वापसी के कुछ ही समय बाद गॉधीजी को लगने लगा कि संघर्ष अपरिहार्य है क्योंकि ब्रिटेन भारत की रक्षा करने में सक्षम नही है। उनका विचार था कि

जापान की लड़ाई भारत से नही अपितु ब्रिटिश साम्राज्य से है। अंग्रेजों को भारत से चले जाना चाहिए ताकि भारत अपनी रक्षा कर सके। गॉधीजी ने यह आशा प्रकट की थी कि यदि अंग्रेज भारत को उसके भाग्य पर छोड़कर चले जाएँ तो भारत को कोई हानि नही होगी। संभवतः तब जापानी भी भारत को शान्ति में छोड़ दे। अंग्रेजों की भारत में उपस्थिति जापानियों के लिए भारत पर हमला करने का न्यौता है। कांग्रेस कार्यसमिति ने गॉधीजी के विचारों के अनुरूप प्रस्ताव पारित किया। गॉधीजी ने भारतवासियसों को निर्देश दिया कि वे अंग्रेजों को पूरी शक्ति के साथ कह दें– अंग्रेजों भारत छोडो।

बर्मा और मलाया को खाली करने के ब्रिटिश सरकार के तौर–तरीकों से भी जनता में काफी असन्तोष फेला। सरकार ने युरोपियनों की बस्तियों को खाली करा लिया और स्थानीय निवासियों को उनके भाग्य के भरोसे छोड़ दिया। यहॉ दो तरह की सड़के बनाई गई– भारतीय शरणार्थियों के लिए काली सड़क और यूरोपीय शरणार्थियों के लिए सफेद सड़क। ब्रिटिश सरकार की इन हरकतों से अंग्रेजों की प्रतिष्ठा को गहरा आघात लगा और उनकी सर्वश्रेष्ठता की मनोवृति उजागर हो गई। मलाया और बर्मा से भारत वापस आने वाले शरणार्थियों ने न केवल जापानी अत्याचारों की कहानियॉ बताई बल्कि यह भी बताया कि अंग्रेज अधिकारियों ने भारतीय शरणार्थियों को उनके हाल पर छोड़ दिया है। यही नहीं, सरकार असम, बंगाल और उड़ीसा में दमनकारी एवं भेदभावपूर्ण भू–नीति का सहारा भी ले रही थी।

इसी समय बर्मा पर जापानी आधिपत्य के कारण चावल की आपूर्ति में कमी से 'दुर्लभता का संकट' पैदा हो गया था। अप्रैल और अगस्त 1942 के बीच उत्तर भारत में खाद्यान्न के कीमतों का सूचकांक 60 अंक बढ़ गया था। यह मुख्यतः मौसम की खराब दशा, बर्मी चावल की आपूर्ति बंद होने और अंग्रेजों की कठोर खरीद नीति के कारण हुआ था। चावल के दाम आसमान छूने लगे तो बंगाल के सेठ और साहूकारों ने अपने गोदामों में चावल भरना आरंभ कर दिया। इस प्रकार बंगाल ऐतिहासिक अकाल की चपेट में आ चुका था। मूल्यों में बेतहाशा वृद्धि तथा चावल, नमक जैसी आवश्यक वस्तुओं के कारण सरकार के विरूद्ध जनता में तीव्र असन्तोष पैदा हो गया।

इस प्रकार 1942 के मध्य तक तनाव निरन्तर बढ़ता गया। दक्षिण–पूर्व एशिया में शक्तिशाली ब्रिटेन के पतन के समाचार ने भारतीयों में असन्तोष को व्यक्त करने की इच्छाशक्ति को जगा दिया। भारतीय जनता में यह विश्वास फैल गया कि अंग्रेजी राज का शीघ्र ही पतन होने वाला है। जैसे–जैसे जापानी फौजे सफलता प्राप्त करती गई वैसे–वैसे गॉधीजी का जुझारूपन भी बढ़ता जा रहा था। मई 1942 ई0 में गॉधीजी ने लिखा था कि – भारत को भगवान भरोसे छोड़ दिजिए। अगर यह कुछ ज्यादा हो तो उसे अराजकता के भरोसे छोड़ दिजिए।

हालॉकि कांग्रेस के अन्दर आन्दोलन को प्रारंभ करने के विषय पर मतभेद था लेकिन गॉधीजी ने स्पष्ट कर दिया था कि– ''यदि उनका प्रस्ताव स्वीकार नहीं किया गया तो वे कांग्रेस छोड़ देंगे और देश की मिट्टी से एक ऐसा आन्दोलन खड़ा कर देगे जो कांग्रेस से भी बड़ा होगा।'' इस तरह गॉधीजी ने कांग्रेस और जनमानस को अपने जीवन के अन्तिम और सबसे बड़े संघर्ष के लिए तैयार किया।

वर्धा प्रस्ताव –

5 जुलाई 1942 ई0 की कांग्रेस वर्किंग कमिटि की बैठक में गॉधीजी ने जोर दिया कि वह समय आ गया है जब कांग्रेस को अपनी मॉग बुलन्द करनी चाहिए – अंग्रेजों भारत छोड़ो। 14 जुलाई 1942 ई0 को वर्धा में कांग्रेस कार्यसमिति की बैठक हुई जिसमें गॉधीजी के विचारों का समर्थन करते हुये जो प्रस्ताव पारित किया गया, उसमें कहा गया कि – क्योंकि अंग्रेज भारत पर अपनी जकड किसी भी तरह ढीली नहीं करना चाहते थे, उन्हे कांग्रेस की न्यूनतम राष्ट्रीय मॉगे भी स्वीकार नही है। ब्रिटेन के विरूद्ध बड़ी तेजी से और बड़े व्यापक रूप से दुर्भावना बढ़ी है। कार्यकारिणी इससे बहुत चिन्तित है क्योंकि अगर इसे रोका नही गया तो इसका अनिवार्य परिणाम होगा– आक्रमण की निष्क्रिय स्वीकृति। प्रस्ताव में और बातों के साथ–साथ यह भी कहा गया कि भारत की स्वाधीनता न केवल भारत के हित में आवश्यक है वरन विश्व की सुरक्षा और हर प्रकार के साम्राज्यवाद का अंत करने के लिए भी उतनी ही आवश्यक है। कांग्रेस ने अबतक बराबर यह कोशिश की थी कि वह ऐसा कोई आन्दोलन न करे जो युद्धकाल में सरकार के काम में बाधक हो। साथ ही कांग्रेस को आशा थी कि कम से कम सरकार ऐसा कोई काम नहीं करेगी जिससे देश पर ब्रिटिश शासन का शिकंजा और मजबूत हो। किन्तु सब आशाऍ धूमिल हो गई।

कांग्रेस कार्यसमिति के वर्धा प्रस्ताव से यह स्पष्ट हो गया कि कांग्रेस के नेताओं का मस्तिष्क किस दिशा में बढ़ रहा था। कार्यकारिणी का प्रस्ताव पारित होते ही जनता में एक बिजली सी दौड गई और सबको लगने लगा कि कांग्रेस अंग्रेजों को भारत से निकालने के लिए एक भारी जन–आन्दोलन करने वाली है। यही प्रस्ताव ''भारत छोड़ो प्रस्ताव'' के नाम से जाना जाता है। भारत छोडो आन्दोलन की सार्वजनिक घोषणा से पूर्व 1 अगस्त 1942 ई0 को इलाहाबाद में 'तिलक दिवस' मनाया गया। इस अवसर पर बोलते हुये जवाहर लाल नेहरू ने कहा कि – ''हम आग से खेलने जा रहे है, हम दुधारी तलवार का प्रयोग करने जा रहे है, जिनकी चोट उल्टी हमारे उपर भी पड़ सकती है।''

भारत छोड़ो आन्दोलन की घोषणा –

7 अगस्त 1942 ई0 को कांग्रेस का अधिवेशन बम्बई के ऐतिहासिक ग्वालिया टेंक में प्रारंभ हुआ और 8 अगस्त को जवाहर लाल नेहरू ने समिति के समक्ष 'भारत छोड़ो' का अपना ऐतिहासिक प्रस्ताव रखा जिसका अनुमोदन सरदार बल्लभभाई पटेल ने किया। यहॉ यह उल्लेखनीय है कि 'भारत छोड़ो'' का नारा युसुफ मेहरअली द्वारा गढ़ा गया था जिन्होने इससे पहले 'साइमन गो बैक' का नारा गढ़ा था। काफी विचार विमर्श के पश्चात 8 अगस्त 1942 को आधी रात के बाद ''भारत छोडो प्रस्ताव'' कार्यसमिति में पास हुआ। कार्यसमिति में केवल कुछ साम्यवादियों ने इसका विरोध किया और प्रस्ताव के विरोध में केवल 13 मत पडे। प्रस्ताव पास होने के उपरान्त कांग्रेस कार्यसमिति ने औपचारिक रूप से गॉधीजी के नेतृत्व में आन्दोलन चलाने की घोषणा की। इसमें यह तय किया गया कि अगर भारतवासियों को तुरन्त सत्ता नहीं सौंपी जाती तो गॉधीजी के मार्गदर्शन में अहिंसक आन्दोलन शुरू किया जायेगा। भारत अपनी सुरक्षा स्वयं करेगा और साम्राज्यवाद और फासीवाद के विरूद्ध रहेगा। यदि अंग्रेज भारत छोड़ देते है तो भारत की स्वतंत्रता की घोषणा के साथ एक स्थायी सरकार गठित की जायेगी और

स्वतंत्र भारत संयुक्त राष्ट्रसंघ का एक मित्र बनेगा। मुस्लिम लीग से वादा किया गया कि ऐसा संविधान बनेगा जिसमें संघ में शामिल होनेवाली इकाइयों को अधिकाधिक स्वायत्तता मिलेगी और बचे हुये अधिकार उसी के पास रहेंगे। प्रस्ताव का अन्तिम अंश था कि– देश ने साम्राज्यवादी सरकार के विरूद्ध अपनी इच्छा जाहिर कर दी है। अब उसे उस बिन्दु से लौटने का बिल्कुल औचित्य नहीं है। अतः समिति अहिंसक ढंग से व्यापक धरातल पर गॉधीजी के नेतृत्व में जन–संघर्ष शुरू करने का प्रस्ताव स्वीकार करती है। इस प्रस्ताव के पहले ही गुप्त कार्य योजना प्रसारित की गई थी और इसमें कांग्रेसियों को निर्देशित किया गया था कि जब तक नेताओं को कैद नहीं किया जाता है, आन्दोलन अहिंसक रूप से चलाया जाय लेकिन अगर सरकार गॉधीजी और दूसरे कांग्रेस नेताओं को गिरफ्तार कर लेती है तो सरकार को हिंसा का हरसंभव मुकाबला करने के लिए लोगों को हिंसक या अहिंसक कोई भी तरीका अपनाने की आजादी होगी। इस प्रकार ब्रिटिश सरकार के खिलाफ इस अहिंसक जन–संघर्ष को गॉधीजी के नेतृत्व में सम्पूर्ण भारत में चलाने का निर्णय लिया गया।

आन्दोलन का आरंभ और करो या मरो का उद्घोष –

8 अगस्त 1942 ई0 की रात इस ऐतिहासिक सम्मेलन में गॉधीजी ने लगभग 70 मिनट तक अपना युगान्तकारी भाषण दिया जिसमें ऐतिहासिक ''करो या मरो'' (Do or Die) का नारा जनता को दिया। अपने संबोधन में गॉधीजी ने कहा – ''मैं अगर हो सके तो तत्काल, इसी रात, प्रभात से पहले स्वाधीनता चाहता हूँ ..... आज दुनिया में झूठ और मक्कारी का बोलबाला है ..... आप मेरी बात पर भरोसा कर सकते है कि मैं मंत्रिमण्डल या ऐसी दूसरी मॉगों के लिए वायसराय से सौदा करने वाला नही हूँ। ..... अब मैं आपको छोटा से मंत्र देता हूँ जिसे आप अपने हृदय में संजोकर रख लें और हर एक सॉस में इसका जाप करें। वह मंत्र है – करो या मरो। हम या तो भारत को स्वतंत्र करायेंगे या इस प्रयास में मारे जायेंगे किन्तु हम अपनी पराधीनता को जारी रहते देखने के लिए जीवित नहीं रहेंगे।''

डा0 पट्टाभिसितारमैया के शब्दों में– वास्तव में गॉधीजी उस दिन एक अवतार और पैगम्बर की प्रेरक शक्ति से प्रेरित होकर भाषण दे रहे थे। उनके अन्दर आग धधक रही थी। इन्द्र विद्या वाचस्पति के कथनानुसार – गॉधीजी उस दिन ऐसे बोल रहे थे, मानो उनकी अन्तरात्मा से भगवान बोल रहा हो।

अपने सम्बोधन में गॉधीजी ने सत्याग्रहियों को निर्देश दिया कि वे इस अहिंसात्मक सत्याग्रह में करने मरने के लिए जायें, जो कुर्बानी देना नहीं जानते, वे आजादी प्राप्त नहीं कर सकते। गॉधी के इन शब्दों ने भारतीय जनता पर जादू सा असर किया और वह नये जोश, नये साहस, नये संकल्प, नई आस्था, दृढ़ निश्चय और आत्म–विश्वास के साथ स्वतंत्रता संग्राम में कूद पड़ी। गॉधी ने सत्याग्रहियों को यह कहकर एक मनोवैज्ञानिक बढ़ावा दिया कि हर कोई अब स्वयं को स्वतंत्र पुरुष या स्त्री समझे और अगर नेतागण गिरफ्तार कर लिये जायें, तो अपनी कार्रवाई का रास्ता खुद तय करे। यह गॉधी की अहिंसा का सर्वाधिक गरम रूप था, जो अब 'खुली बगावत' तक पहुँच गई थी।

'भारत छोड़ो' आंदोलन को राष्ट्रवादी इतिहास के पन्नों में 'अगस्त क्रांति' कहा गया है। वायसरॉय लिनलिथगो ने इसे 1857 के बाद का सबसे 'गंभीर विद्रोह' बताया है। यह विद्रोह आरंभ से ही हिंसक और पूरी तरह अनियंत्रित रहा, क्योंकि कांग्रेस के नेतृत्व की पूरी पहली कतार इसके आरंभ होने से पहले ही सलाखों के पीछे कर दी गई थी। इसे 'स्वतःस्फूर्त क्रांति' भी कहा जाता है, क्योंकि कोई भी पूर्व–निर्धारित योजना ऐसे तात्कालिक और एकरस परिणाम नहीं दे सकती थी। यद्यपि कांग्रेस से जुड़े विभिन्न संगठनों, जैसे– कांग्रेस समजवादी पार्टी, किसान सभा और फॉरवर्ड ब्लॉक ने ऐसे टकराव के लिए पहले ही जमीन तैयार कर रखी थी और 9 अगस्त से पहले कांग्रेसी नेतृत्व ने एक बारहसूत्री कार्यक्रम तैयार कर रखा था, जिसमें सत्याग्रह की सुपरिचित गॉधीवादी विधियों के साथ औद्योगिक हड़तालों को बढ़ावा देने, रेल रोकने और तार काटने, करों की अदायगी रोकने और समानांतर सरकारें स्थापित करने की एक योजना भी शामिल थी, किंतु जो कुछ वास्तव में हुआ, उसकी तुलना में यह भी एक नरम कार्यक्रम था।

दरअसल अहिंसा के प्रश्न पर गॉधीजी स्वयं अस्पष्ट थे। 5 अगस्त को उन्होंने कहा थाः "मैं आपसे अपनी अहिंसा की माँग नहीं कर रहा। आप तय करें कि आपको इस संघर्ष में क्या करना है? तीन दिन बाद 8 अगस्त को अखिल भारतीय कांग्रेस कमिटि के प्रस्ताव पर बोलते हुए उनका आग्रह था – "मुझे आज पूरे भारत पर विश्वास है कि वह एक अहिंसक संघर्ष शुरू करेगा। लेकिन अहिंसा के इस रास्ते से अगर जनता विचलित हो जाए तो भी मैं नहीं डिगूँगा, मैं पीछे नहीं हटूँगा।"

गॉधीजी ने एक सोची–समझी रणनीति के तहत 'भारत छोड़ो' आंदोलन के लिए 9 अगस्त, 1942 का दिन चुना था। ब्रिटिश सरकार का तख्ता पलटने के उद्देश्य से बिस्मिल के नेतृत्व में हिंदुस्तान प्रजातांत्रिक संघ के दस जुझारू कार्यकर्ताओं ने 9 अगस्त, 1925 को काकोरी ट्रेन एक्शन को अंजाम दिया था और उसकी स्मृति बनाये रखने के लिए भगतसिंह ने पूरे देश में प्रतिवर्ष 9 अगस्त को 'काकोरी कांड स्मृति दिवस' मनाने की परम्परा प्रारंभ कर दी थी। इस दिन बड़ी संख्या में नौजवान एकत्र होते थे, इसलिए यह आंदोलन 9 अगस्त को आरंभ किया गया।

भारत छोड़ो आंदोलन का विस्तार –

गांधीजी सांगठनिक कार्यों और लगातार प्रचार अभियान से आंदोलन का वातावरण निर्मित कर चुके थे। लेकिन सरकार न तो कांग्रेस से किसी तरह के समझौते के पक्ष में थी, न ही वह आंदोलन के औपचारिक शुभारंभ की प्रतीक्षा कर सकती थी। फलतः 9 अगस्त 1942 को सूरज निकलने से पहले भोर में ही 'ऑपरेशन जीरो ऑवर' के तहत गॉधी और दूसरे कांग्रेसी नेता गिरफ्तार कर लिये गये। गॉधी के साथ 'भारत कोकिला' सरोजिनी नायडू, कस्तूरबा गॉधी, भूलाभाई देसाई को यरवदा (पुणे) के आगा खाँ पैलेस में, डॉ0 राजेंद्र प्रसाद को पटना के बांकीपुर सेन्ट्रल जेल में, जवाहर लाल नेहरु को अल्मोडा जेल में, मौलाना अबुल कलाम आजाद को बॉकुड़ा जेल में, जयप्रकाश नारायण को हजारीबाग जेल में व अन्य सभी सदस्यों को अहमदनगर के किले में नजरबंद कर दिया गया।

गॉधीजी और दूसरे कांग्रेसी नेताओं की गिरफ्तारी से पूरे देश में 'खुली बगावत' आरंभ हो गई। ब्रिटिश सरकार ने कांग्रेस को अवैधानिक (गैरकानूनी) संस्था घोषित कर उसकी संपत्ति को जब्त कर लिया और समाचार–पत्रों, जुलूसों आदि पर प्रतिबंध लगा दिया। सरकार के इस दमनात्मक कृत्य से जनता में आक्रोश फैल गया और शीघ्र ही बंबई, उत्तर प्रांत, दिल्ली और बिहार तक एक स्वतःस्फूर्त जन आंदोलन फूट पड़ा। 9 अगस्त, 1942 को लालबहादुर शास्त्री ने 'मरो नहीं, मारो' का नारा दिया, जिससे आंदोलन की आग पूरे देश में फैल गई। 19 अगस्त, 1942 को शास्त्री गिरफ्तार कर लिये गये।

विद्रोह का माहौल –

शीर्षस्थ नेताओं की गिरफ्तारी से कांग्रेस संगठन नेतृत्वविहिन हो गया और आन्दोलन की बागडोर युवा गरमपंथी तत्वों के हाथों में आ गई। सरकार के इस अचानक हमले से देश भर में तूफान आ गया। बम्बई में लाखों लोग ग्वालिया टेंक की ओर उमड़ पडे। नेताविहिन और संगठनविहिन जनता ने स्वयं अपना नेतृत्व संभाल लिया और जिस ढंग से ठीक समझा, अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त की। सुमित सरकार भारत छोड़ो आन्दोलन के इतिहास को मुख्य रूप से तीन चरणों में विभक्त करते है –

1. प्रथम चरण में आन्दोलन अल्पकालिक किन्तु सर्वाधिक हिंसक था। यह मूलतः शहरी आन्दोलन था और इसका प्रभाव बम्बई, दिल्ली, कलकत्त के साथ–साथ लखनऊ, कानपुर, नागपुर, अहमदाबाद पर अधिक पड़ा। इस चरण में आन्दोलन को विद्यार्थियों ने प्रारंभ किया और मध्य वर्ग ने इसमें बढ–चढ़कर हिस्सा लिया। सरकार द्वारा स्वयं भड़काई गई हिंसा को दवाने के लिए पुलिस ने निर्देशानुसार निर्दयता से काम लिया और केवल बंबई में ही 10 अगस्त को 26 बार गोली चलाकर कम–से–कम 13 व्यक्तियों को मार दिया और बीसियों को घायल कर दिया।

2. दूसरे चरण में आन्दोलन ग्रामीण आन्दोलन में बदल गया। अगस्त के मध्य तक आते–आते आन्दोलन गॉवों में विस्तारित हो गया। बार–बार की गोलीबारी और दमन से क्रोधित होकर जनता ने अनेक स्थानों पर हिंसक कार्यवाहियॉ की। अनेक स्थानों पर हिंसक झडपें हुई और आन्दोलनकारियों ने बलपूर्वक तिरंगा फहराये। संचार साधन नष्ट करना और विदेशी सत्ता के विरूद्ध किसान संघर्ष का नेतृत्व करना आन्दोलन की विशेषता रही। इस दौर में आन्दोलन का मुख्य केन्द्र बिहार, पूर्वी उत्तर प्रदेश, बंगाल, महाराष्ट्र, कर्नाटक आदि के कुछ क्षेत्र। अनेक स्थानों पर अल्पकालीक समानान्तर व राष्ट्रीय सरकारें स्थापित की गई। 23 अगस्त 1942 ई0 को लार्ड लिंलिथगो ने एमरी को अपनी भेजी हुई रिपोर्ट में लिखा – ''.....पहले दो दिन की चिन्ताजनक खामोशी के बाद भारत के अनेक भागोंमें, जो एक दूसरे से काफी दूरी पर थे, आन्दोलन पूरे वेग में एक साथ भड़क उठा और कम से कम अगस्त के अन्त तक स्थित चिन्ताजनक रही।..... बिहार और संयुक्त प्रान्त में एक बार स्थिति ऐसी हो गई जिसमें फौजी शासन की घोषणा करना न्यायोचित होता।''

3. आन्दोलन का तीसरा चरण सितम्बर 1942 ई0 के मध्य से आरम्भ हुआ। यह सबसे लम्बा किन्तु सबसे कम उग्र चरण था। इस चरण की मुख्य विशेषता यह थी कि शिक्षित मध्यमवर्गीय नवयुवकों ने क्रान्तिकारी गतिविधियों और छापामार संघर्षों को चलाया। इसके अतिरिक्त कालान्तर में समानान्तर सरकारों की स्थापना भी की गई और भूमिगत कार्यवाहियों तथा गुप्त रेडियो स्टेशन का संचालन कर विद्रोह की चिंगारी को जीवन्त बनाये रखने का प्रयास किया गया।

भारत छोडो आन्दोलन भारतीय इतिहास का ऐसा पक्ष है जिसके स्वरूप और विस्तार के बारे में किसी निश्चित निष्कर्ष पर पहुॅचना अभी भी कठिन है। वर्तमान समय में इस आन्दोलन के स्थानीय और क्षेत्रीय स्वरूप पर काफी अध्ययन हुये है किन्तु इन अध्ययनों से भी कोई स्पष्ट चित्र नहीं उभरता। तथापि इसमें सन्देह नहीं है कि समग्र भारत छोड़ो आन्दोलन का विश्लेषण स्थानीय अध्ययनों के आधार पर ही किया जा सकता है। यहॉ यह भी समझना आवश्यक है कि यद्यपि भारत छोड़ो आन्दोलन की तीव्रता मुख्यतः पूर्वी संयुक्त प्रान्त और बिहार में आई, शेष भारत में आन्दोलन का प्रभाव अलग–अलग ढंग से पड़ा। इतिहासकार प्रो0 रामलखन शुक्ल द्वारा प्रदत्त निम्नलिखित तालिका से समग्र आन्दोलन की तीव्रता का अनुमान लगाया जा सकता है –

जैसा कि तालिका से पता चलता है कि कुछ प्रान्तों पर आन्दोलन का अपेक्षाकृत अधिक प्रभाव पड़ा और कुछ पर कम। कम से कम पॉच प्रान्तों – बिहार, यू0पी0, बम्बई, मध्यप्रान्त और बंगाल में स्थिति गंभीर हो गई थी।

बिहार में आन्दोलन की तीव्रता –

पूर्वी संयुक्त प्रान्त और बिहार में तो विद्रोह का माहौल बन गया। अगस्त के मध्य तक विद्यार्थियों तथा अन्य राजनीतिक कार्यकर्ताओं के जरिये आन्दोलन की खबर ग्रामीण क्षेत्रों में पहुॅचने लगी। नवीन शोधों से यह पता चलता है कि यह आन्दोलन बिहार में सबसे अधिक प्रभावशाली था। पटना में राजेन्द्र प्रसाद की गिरफ्तारी के विरोध में छात्रों द्वारा प्रबल विरोध किया गया और सभी शैक्षणिक संस्थानों में हड़ताल रही। इसी क्रम में 11 अगस्त को पटना शहर में छात्रों ने सचिवालय पर एक विशाल रैली की और सचिवालय भवन पर कांग्रेस का झंडा फहराने की कोशिश की जिसमें पटना के जिला कलेक्टर डब्लू0 जी0 आर्चर के आदेश पर देशभक्त छात्रों पर गोली चलाई गई जिसमें 07 छात्र मारे गये। इस पूरी घटना को ''सचिवालय गोलीकाण्ड'' के नाम से जाना जाता है। इस गोलीकाण्ड में सतीश प्रसाद झा, उमाकान्त सिन्हा, देवीपद चौधरी, रामानन्द सिंह, रामगोविन्द सिंह, राजेन्द्र सिंह त जगपति कुमार शहीद हुये थे। अंग्रेजों द्वारा की गई इस दमनात्मक एवं कायरता पूर्ण कार्यवाही के बाद सम्पूर्ण बिहार में विद्रोह की चिंगारी फेल गई। इसके बाद जनता ने रेलवे स्टेशनों, नगरपालिका की इमारतों और ड़ाकखानों को आग के हवाले कर दिया। बढती भीड़ को देखते हुये स्थानीय पुलिस को पटना में सेना बुलानी पड़ी। सचिवालय गोलीकाण्ड के बाद पटना लगभग दो दिनों तक बेकाबू रहा।

विभिन्न प्रान्तों में 9 अगस्त से 30 नवम्बर 1942 तक भारत छोड़ो आन्दोलन की तीव्रता:

विवरण	आसाम	बंगाल	बिहार	बम्बई	म0 प्रा0	मद्रास	उ0प0 सी0प्र0	उड़ीसा	पंजाब	सिंध	यू0पी0	दिल्ली
पुलिस द्वारा गोली चालन	4	62	83	155	40	24	1	9	1	0	70	21
सांघातिक रूप से हताहत व्यक्ति	15	85	134	98	43	39	2	74	0	0	133	20
असांघातिक रूप से हताहत व्यक्ति	22	142	362	309	156	44	1	119	0	0	227	10
संघातिक रूप से हताहत पुलिस कर्म0	—	3	9	4	8	0	0	0	0	0	24	1
असांघातिक रूप से हताहत पुलिस कर्म0	16	176	165	478	273	48	40	55	0	100	12	—
क्षतिग्रस्त/विनष्ट पुलिस थाने	6	3	86	13	22	9	—	4	—	—	21	1
गिरफ्तारियॉ	1236	1126	14478	15144	8260	2000	1924	1700	1840	601	11000	742
क्षतिग्रस्त/विनष्ट रेलवे स्टेशन	16	13	106	16	30	15	—	14	—	—	31	9
सिद्धदोष व्यक्ति	—	1582	8212	—	3695	—	—	—	—	—	8062	—

जमशेदपुर में आन्दोलन 9 अगस्त को स्थानीय कांस्टेबुलरी की हड़ताल के साथ शुरू हुआ। इसके बाद 10 व 20 अगस्त को टिस्को में हड़ताले हुई जिनमें लगभग 30 हजार मजदूरों ने भाग लिया। डालमियानगर में भी 12 तारीख को मजदूरों की हड़ताल हुई लेकिन इसके बाद बिहार के लगभग हर जिले में ग्रामीण जनता के विद्रोह होने लगे जिसे व्यापारियों और जमींदारों का भी गुप्त समर्थन मिला। बिहार में इस आन्दोलन में किसान और महिलाओं ने भी व्यापक पैमाने पर हिस्सेदारी की। बिहार के तिरहुत प्रखण्ड में तो दो सप्ताह तक कोई सरकार ही नही थी। मुजफ्फरपुर, चम्पाराण, दरभंगा, भोजपुर, गया, अरवल, शाहाबाद, पूर्णिया, कटिहार, भागलपुर, मुंगेर आदि क्षेत्रों में कई हिंसात्मक घटनाएँ हुई और स्वतंः स्फूर्त जनविद्रोह होने लगे। इस दौरान लगभग 80 प्रतिशत थानों पर जनता का राज स्थापित हो गया। छपरा में शान्ति देवी के नेतृत्व में जुलूस निकाला गया किन्तु जब पुलिस द्वारा लाठीचार्ज की कोशिश की गई तो महिलाओं ने नारा दिया कि पुलिस हमारा भाई है। इस नारे से भारतीय सिपाहियों ने लाठीचार्ज करने से इनकार कर दिया। तीव्र किसान संघर्ष के चलते बिहार के सारण जिला को कुख्यात रुप से 'अपराध जिला' घोषित कर दिया गया।

इसी क्रम में 13 अगस्त 1942 ई0 को गया में जगन्नाथ मिश्र, श्री कैलाश राम और श्री मुई को गोली मार दी गई। बक्सर के डुमरॉव में आन्दोलन को दबाने के प्रयास में ब्रिटिश अधिकारियों द्वारा कपिल मुनि, रामदास विश्वकर्मा, गोपाल कहार एवं बालेश्वर दुबे की गोली मारकर हत्या कर दी गई। इस आन्दोलन में सिवान के महाराजगंज में 16 अगस्त को ध्वंसात्मक कमेटी का गठन करते हुये एक जुलूस का आयोजन किया गया जिसमें आन्दोलनकारी महाराजगंज थाने पर झंडा फहराने के लिए पहुॅचे और झंडा फहराने के क्रम में फुलेना प्रसाद श्रीवास्तव पुलिस की गोली लगने से शहीद हो गये। इसके बार उनकी पत्नी तारा रानी द्वारा थाना भवन पर झंडा फहराया गया। कटिहार में आन्दोलकारियों के जुलूस ने थाने का घेराव किया तथा निबंधन कार्यालय को जला दिया। इसके जबाब में सरकार ने भीड़ पर गोलियॉ चलवाई जिससे ध्रुव कुमार कुंडू, कलानन्द मण्डल, रामाधार सिंह और दामोदर सिंह की मृत्यु हो गई। इस आन्दोलन में छात्रों ने रेलगाड़ियों पर कब्जा कर अपने नियंत्रण में कर लिया एवं ट्रेन का नाम 'स्वराज ट्रेन' रखा।

बिहार के उत्तरी जिलों में भीड़ ने किसी पुलिस चौकी को नहीं छोडा। दरभंगा के 25 थानों में से 19 पर, मुजफ्फरपुर में 23 थानों में से 19 पर और सारण में 29 थानों में से 27 पुलिस थानों पर हमला किया गया। पटना के निकट फतुहा में शाही वायुसेना के दो अफसरों को रेलगाड़ी के डिब्बे से बाहर निकालकर प्लेटफार्म पर भालों से मार डाला गया। बाद में उनके नंगे शवों को टमटम में रखकर नगर में घुमाया गया और अन्ततः पुनपुन नदी में फेंक दिया गया। 18 अगस्त और 30 अगस्त को मुंगेर जिले में दुर्घटनाग्रस्त होकर गिरने वाले शाही वायुसेना के कर्मचारियों की हत्या की गई जो स्पष्ट करता है कि लोगों में अंग्रेजों के विरूद्ध कितना रोष था। इन घटनाओं से जनता द्वारा की गई संगठित हिंसा के बारे में संकेत मिलता है। ये घटनाएँ उतनी महत्वपूर्ण नहीं है, महत्व इस बात का है कि इन घटनाओं से यह संकेत मिलता है कि राष्ट्रीयता की भावना जनमानस में कितनी गहराई तक समा चुकी थी।

उत्तर प्रदेश में आन्दोलन की तीव्रता –

वर्तमान उत्तर प्रदेश अर्थात संयुक्त प्रान्त में भारत छोडो आन्दोलन के दौरान उपद्रव वाराणसी और इलाहाबाद से प्रारंभ हुये और एक सप्ताह के अन्दर ही ग्रामीण क्षेत्र में फैल गए। पूर्वी संयुक्त प्रान्त में यह एक ऐसे जन–आन्दोलन के रूप में प्रकट हुआ जिसका विस्तार अभूतपूर्व था और जिनकी कुछ घटनाओं ने 1857 की क्रान्ति की याद ताजा कर दी। वस्तुतः संयुक्त प्रान्त के अधिकारियों को इतने विस्तृत आन्दोलन के फैलने का सन्देह पहले ही होने लगा था। जनवरी 1942 में ही एक रिपोर्ट में 1857 के घटनाओं की पुनरावृति होने की बात कही गयी थी। बिहार की तरह ही संयुक्त प्रान्त में भी उपद्रवों का एक सामान्य स्वरूप था। सरकारी कार्यालयों, पुलिस थानों, रेल मार्गों और रेलवे स्टेशनों तथा टेलीफोन और तार–संचार व्यवस्था पर बड़े पैमाने पर आक्रमण किया गया। इसका विशद विवरण एक उदाहरण के रूप में आजमगढ़ के जिला मजिस्ट्रेट की डायरी में दिया गया है जिसमें यह भी उल्लेख किया गया है कि लूटने के इरादे से अथवा इसके बिना भी, सरकारी सम्पत्ति का योजनाबद्ध तरीके से विनाश करने के उद्देश्य से भीड़ कितनी जल्दी इकट्ठी हो जाती थी।

पूर्वी संयुक्त प्रांत के गाजीपुर और आजमगढ़ जिलों में बनारस हिंदू विश्वविद्यालय के छात्रों के साथ स्थानीय ग्रामीणों ने रेल लाइनों और स्टेशनों पर तोड़–फोड़ की। इन जिलों के शेरपुर– मुहम्मदपुर जैसे क्षेत्रों में कुछ प्रतिबद्ध गॉधीवादी नेताओं ने अहिंसा की शुद्धता बनाये रखने की कोशिश की।

आन्दोलन बलिया जिले में सबसे अधिक तीव्र था, जहाँ कुछ दिनों तक अंग्रेजी राज का अस्तित्व ही नहीं रहा। यहाँ बनारस हिंदू विश्वविद्यालय और इलाहाबाद विश्वविद्यालय के छात्र नेताओं ने आन्दोलन को तीव्रता प्रदान की। इलाहाबाद के छात्र तो एक कब्जा की गई 'आजाद रेलगाडी' में आये थे। हजारों आंदोलनकारी ग्रामीणों ने पहले एक सैनिक आपूर्ति की गाड़ी को लूटा, फिर बाँसडीह कस्बे में थाना और तहसील की इमारतों पर कब्जा कर लिया। 19 अगस्त को एक भारी भीड़ ने बलिया नगर पर कब्जा कर लिया और जिला मजिस्ट्रेट को बंधक बनाकर सरकारी खजाने के सारे नोट जला दिये। सभी राजनीतिक कैदी छोड़ दिये गये और रिहा किये गये गॉधीवादी नेता चित्तू पांडे को 'स्वराज्य जिलाधीश' घोषित किया गया। 1930 के दशक के दौरान कांग्रेस ने इस क्षेत्र में अपनी छवि को किसानों के दल के रूप में प्रस्तुत करने का विशेष प्रयत्न किया। इसमें कांग्रेस को चित्तू पांडे ने किसानों और अपने हितों को एक ही समझा था।

भारत छोड़ो आन्दोलन की दृष्टि से कांग्रेस कौमी सेवा दल का विस्तार अधिक महत्वपूर्ण था। इस स्वयंसेवी संगठन के प्रमुख कार्यकर्ता और संगठनकर्ता समाजवादी थे। अतः इसमें आश्चर्य नही कि बलिया में दल का नेतृत्व दो नवयुवकों– राजेश्वर तिवारी और विश्वनाथ चौबे के हाथों में था जबकि दल का निरीक्षक बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय के रामलच्छन तिवारी को बनाया गया। इस दल ने गॉवों में प्रशिक्षण शिविर आयोजित किये और नवयुवकों को राष्ट्रीय कार्यक्रम के लिए संगठित किया। 1942 में कांग्रेस के वरिष्ठ नेताओं को बन्दी बनाये जाने के बाद उन्होने तुरन्त आगे बढकर कांग्रेस का नेतृत्व सॅभाल लिया और लोगों ने उनके नेतृत्व को स्वीकार भी कर लिया। गाजीपुर के मोहम्मदाबाद के सीताराम राय और बेलथरा रोड के पारसनाथ मिश्र,

बनारस नगर में प्रदर्शनों में भाग लेने के बाद 12 अगस्त को विश्वविद्यालय परिसर में एक सभा में भाग लिये और यह निश्चय किया गया कि विद्यार्थी गॉवों में जाकर भारत छोडो आन्दोलन के सन्देश को पहुँचाएँ।

यहॉ हमने विशेष रूप से बलिया पर दो कारणों से ध्यान केंद्रित किया गया है – पहला, बलिया में हमें ऐसे उग्र राष्ट्रीय संगठन और नेतृत्व का उदाहरण मिलता है जो राजनैतिक दृष्टि से पिछड़े क्षेत्र में उदित हुआ दूसरा, बलिया के आन्दोलन में हमें ऐसे क्षेत्र का उदाहरण मिलता है जहाँ आन्दोलन को विजय तो मिली किंतु यह विजय क्षणभंगुर थी। जैसी सफलता भारत छोडो आंदोलन को बलिया में मिली, वैसी कहीं नहीं मिली; साथ ही आंदोलन को कमजोरियाँ भी सर्वाधिक बलिया में ही प्रकाश में आईं। गाजीपुर में अन्य स्थानों में जो एक–दूसरे से बहुत दूरी पर थे, जैसे ग़ाज़ीपुर में मोहमदाबाद, बिहार में दानापुर, बंगाल में मिदनापुर और बंबई में चिम्बर–उनमें भी हिंसा की ऐसी ही घटनाएँ हुई। वस्तुतः बलिया में, अँग्रेज़ों की स्थिति कमज़ोर होने के कारण, जनहानि अपेक्षाकृत कम हुई। किन्तु किसी अन्य स्थान पर उग्र राष्ट्रवाद को सम्पूर्ण विजय की दिशा में इतनी सफलता नहीं मिली और कदाचित् इस सफलता ने ही कार्यक्रम के थोथेपन को भी उजागर कर दिया।

भारत छोड़ो आंदोलन के अध्ययन में उत्तर प्रदेश के लिए बलिया को चुनना इसलिए भी उपयुक्त है क्योंकि राष्ट्रीयता की गाथाओं में बलिया का उल्लेख है; स्वतंत्रता संघर्ष के जिन विशिष्ट पक्षों को काल्पनिक सैद्धांतिक महत्त्व से विभूषित किया गया उनमें बलिया की घटनाओं का लगभग उतना ही महत्त्व है जितना 1857 में हुए दिल्ली के पतन का महत्व है। बलिया का आंदोलन ब्रिटिश राज के विरुद्ध किए गए विस्तृत जन–आंदोलन की विजय का महान प्रतीक था। किन्तु बलिया की विजय भी शेष आंदोलन से कम विखंडित नहीं थी। जहाँ जिला प्रशासन को ध्वस्त करने वाले विद्रोह में तीन दशकों के राष्ट्रवादी संगठन की सफलता परिलक्षित हुई वहाँ उसके शीघ्र अवसान से संगठन–प्रक्रिया की कमियों का भी पता चला।

इन सभी बातों के बावजूद बलिया का एक विशेष महत्व है। जब कि अन्य क्षेत्रों में विद्रोह की आग महीनों और वर्षों तक सुलगती रही, बलिया में आंदोलन हिंसात्मक मार्ग अपनाकर समाप्त हो गया।

अन्य क्षेत्रों में आन्दोलन का प्रसार –

बिहार और पूर्वी संयुक्त प्रांत के विपरीत भारत के दूसरे क्षेत्रों में भारत छोड़ो आंदोलन कम स्फूर्त और कम तीव्र रहा, किंतु लंबे समय तक चला। उड़ीसा में आंदोलन का आरंभ कटक जैसे नगरों में हुआ, जहाँ हड़तालें हुईं और शिक्षण संस्थाएँ बंद रहीं, और फिर आंदोलन कटक, बालासोर (बालेश्वर) और पुरी जैसे तटवर्ती जिलों के गाँवों में फैल गया। यहाँ किसानों ने उपनिवेशी सत्ता के सभी गोचर प्रतीकों पर हमले किये, थानों से कैदियों को रिहा करा लिये और स्थानीय पुलिसवालो की वर्दियाँ उतरवा लिये। उन्होंने 'चौकीदारी कर' देना बंद कर दिया और कुछ मामलों में जमींदारों की कचहरियों पर हमले किये और सूदखोरों से धन की वसूली की। किंतु यह ग्रामीण विद्रोह पुलिस दमन और सामूहिक जुर्माने के कारण अक्तूबर–नवंबर तक लगभग समाप्त हो गया।

नीलगिरि और धेनकनाल रजवाड़ों में दलित और आदिवासी किसानों ने जंगल कानूनों के उल्लंघन किये। तलचर रजवाड़े में स्थानीय प्रजामंडल के नेताओं ने स्थानीय राजा और उसके अंग्रेज संरक्षकों का राज खत्मकर रजवाड़े के अधिकांश भाग में 'चासी मुलिया राज' कायम कर लिया। वहाँ शाही वायुसेना के विमानों से आंदोलनकारियों पर मशीनगनों से गोलियाँ चलाई गईं और निर्मम दमन का चक्र चला। फिर भी, इस क्षेत्र में मई, 1943 तक छापामार युद्ध जारी रहा। मलकानगिरि और नवरंगपुर में करिश्माई नेता लक्ष्मण नायक ने 'रक्तवाहिनी' संगठन द्वारा आदिवासी और गैर–आदिवासी ग्रामीणों को जमा करके शराब और अफीम की दुकानों पर हमले किये और सभाओं में गर्व के साथ घोषणा की कि अंग्रेजी राज खत्म हो गया। अब उसकी जगह गाँधीराज आ गया है, जिसमें 'मद्य–कर'' और 'जंगल–कर' देने की जरूरत नहीं है। बस्तर रजवाड़े से बुलाये गये सैनिकों ने सितंबर के अंत तक इस आंदोलन को भी कुचल दिया।

देश के अन्य भागों में जब आंदोलन अपने अंतिम अवस्था में पहुँच चुका था, तो महाराष्ट्र के सतारा में समानांतर सरकार ने जन्म लिया। बिहार के आजाद दस्तों के विपरीत सतारा की सरकार ने अपनी सत्ता और वैधता स्थापित करने के लिए स्थानीय डाकू गिरोहों का सफाया करने का प्रयास किया। यद्यपि इसमें मध्य श्रेणी के कुनबी किसानों का वर्चस्व था, किंतु सामंतवाद–विरोधी और जाति–विरोधी रुझान के कारण इसमें गरीब दलित किसानों की भी भागीदारी रही। अगस्त, 1944 में, जब गॉधी ने समर्पण का आह्वान किया तो मेदिनीपुर के विपरीत सतारा की समानान्तर सरकार के अधिकांश सदस्यों ने महात्मा के आदेश को ठुकरा दिया और वे उनके 'करो या मरो' वाले पिछले आह्वान पर कायम रहे। ब्रिटिश सरकार के तमाम प्रयासों के बावजूद सतारा की समानांतर सरकार 1946 के चुनाव तक काम करती रही।

पश्चिमी भारत

पश्चिमी भारत में गुजरात के खेड़ा, सूरत और भड़ौच जिलों में और बड़ोदरा रजवाड़े में आंदोलन सबसे मजबूत था। यहाँ आंदोलन का आरंभ मजदूरों की हड़तालों, कामबंदी और झगड़ों के साथ अहमदाबाद और बड़ोदरा नगरों में हुआ। अहमदाबाद में एक समानांतर आजाद सरकार स्थापित हुई और यहाँ कांग्रेस के शीघ्र सत्ता में आने की आशा में उद्योगपतियों ने भी राष्ट्रवादी लक्ष्य से सहानुभूति जताई। किंतु इस क्षेत्र में पहले के आंदोलनों के विपरीत इस बार कोई 'मालगुजारी रोको अभियान' नहीं चला। भड़ौच, सूरत और नवसारी जिलों में ग्रामीण एकता ने जाति और वर्ग की सीमाओं को तोड़ दिया। अंग्रेजी राज को निर्मम दमन के बल पर ही दोबारा स्थापित किया जा सका। यद्यपि कई स्थानों पर आदिवासी किसानों ने आंदोलन में हिस्सा लिया, किंतु खेडा और मेहसाना जिलों में कांग्रेसी मंत्रिमंडल से असंतुष्ट दलित बड़ैया और पट्टनवाडिया किसानों ने भारत छोड़ो आंदोलन का सक्रिय विरोध किया। मद्रास प्रेसीडेंसी जैसे कुछ क्षेत्रों में कई कारणों से भारत छोड़ो आन्दोलन निश्चित रुप से बिल्कुल धीमा रहा।

भूमिगत गतिविधियॉं –

भारत छोडो आन्दोलन के दौरान देश के कई हिस्सों में कई भूमिगत संगठनात्मक ढ़ॉचा भी तैयार हुआ और भारत छोडो आन्दोलन की यह एक प्रमुख विशेषता भी रही है। ब्रिटिश सरकार को जनता के इस स्वतःस्फूर्त विद्रोह पर काबू पाने में कई महीने लग गये। जैसे जैसे पुलिस का दमन बढ़ने लगा वैसे वैसे जयप्रकाश नारायण, राममनोहर लोहिया, उषा मेहता, अरुणा आसफ अली, अच्युत पटवर्द्धन, सुचेता कृपलानी, बीजू पटनायक, आर0पी0 गोयनका, आचार्य नरेन्द्र देव जैसे युवा समाजवादी राष्ट्रवादियों ने भूमिगत रहकर इस आन्दोलन का नेतृत्व प्रदान किया। स्वतंत्रता आन्दोलन के ''ग्रैण्ड ओल्ड लेडी'' के नाम से लोकप्रिय अरुणा आसफ अली को इस आन्दोलन के दौरान ग्वालिया टेंक मैदान में भारतीय ध्वज फहराने के लिए जाना जाता है। ये लोग पैसा, बम, हथियार, बारुद जैसा सामग्री एकत्रित करते और देश भर में बिखरे हुये गुप्त संगठनों में बॉटते थे। स्थानीय गुप्त संगठन ही इसका फैसला करते थे कि इन सामग्रियों का क्या करना है। बम्बई, पूना, बड़ौदा, सतारा, कर्नाटक, संयुक्त प्रान्त, बिहार, दिल्ली आदि इस भूमिगत गतिविधियों के मुख्य केन्द्र थे।

भारत छोड़ो आन्दोलन के दौरान 1942 ई0 में जयप्रकाश नारायण को गिरफ्तार कर हजारीबाग जेल में डाल दिया गया था लेकिन वह 9 नवम्बर, 1942 को अपने 5 साथियों (रामानंदन मिश्र, सूरज नारायण सिंह, योगेंद्र शुक्ल, गुलाबी सोनार और शालीग्राम सिंह) के साथ हजारीबाग सेण्ट्रल जेल से फरार हो गए और एक केन्द्रीय संग्राम समिति का गठन किया। जयप्रकाश नारायण के नेतृत्व में नेपाल में युवकों को छापामार युद्ध का प्रशिक्षण देने के लिए 'आजाद दस्ता' का गठन किया गया। इस आजाद दस्ता का प्रमुख उद्देश्य सरकार के विरूद्ध तोडफोड़ करना था।

बिहार एवं नेपाल सीमा पर जयप्रकाश नारायण तथा रामानन्द मिश्रा ने समानान्तर सरकार का भी गठन किया। भूमिगत आंदोलनकारियों को समाज के हर वर्ग के लोगों से गुप्त सहायता मिलती थी। उदाहरणार्थ, सुमति मुखर्जी जो बाद में भारत की अग्रणी महिला उद्योगपति बनीं, ने अच्युत पटवर्द्धन को को बहुत आर्थिक सहायता दी। भूमिगत आंदोलनकारियों ने गुप्त कांग्रेस रेडियो का भी संचालन किया। ऐसे ही एक गुप्त कांग्रेस रेडियो का संचालन कई महीनों तक बम्बई में उषा मेहता ने किया। इसका एक अन्य प्रसारण केन्द्र नासिक में भी था जिसका संचालन बाबू भाई करते थे। इन प्रसारणों को मद्रास तक सुना जा सकता था। हालॉंकि शीघ्र ही बाबू भाई तथा उषा मेहता पकड़े गए तथा उन्हें 4 वर्ष की सजा हुई।

राममनोहर लोहिया नियमित रूप से रेडियो पर बोलते थे। नवंबर 1942 में पुलिस ने इसे खोज निकाला और रेडियो प्रसारण से सम्बन्धित सारा सामान जब्त कर लिया। भूमिगत गतिविधियों में संलग्न लोगों को व्यापक जन सहयोग मिल रहा था। समय के साथ भूमिगत गतिविधियॉं तीन धाराओं में व्यवस्थित हो गई – इनमें से जयप्रकाश नारायण के नेतृत्व वाले एक उग्रदल ने भारत–नेपाल सीमा पर छापामार युद्ध का संचालन किया और इनके द्वारा गठित **'आजाद दस्ता'** 1943 तक सक्रिय रूप से आन्दोलन करता रहा लेकिन इन्हे गिरफ्तार कर लिया गया। अरुणा आसफ अली जैसे कांग्रेस समाजवादियों के एक दूसरे दल ने तोड़–फोड़ के लिए पूरे भारत में स्वयंसेवक

भर्ती किये, और सुचेता कृपलानी व अन्य के नेतृत्व में तीसरे गांधीवादी दल ने अहिंसक कार्रवाई और रचनात्मक कार्यक्रम पर जोर दिये।

भूमिगत गतिविधियों में संलग्न लोगों की संख्या बेशक कम थी पर उन्हे व्यापक सहयोग मिल रहा था। बहुत से लोगों ने भूमिगत नेताओं को छुपने की जगह दी। छात्र खबर और पर्चे ले जाने का काम करते थे। पायलट और रेल ड्राइवर बम अथवा अन्य सामान एक स्थान से दूसरे स्थान तक पहुँचाते थे। इस भूमिगत आन्दोलन की मुख्य गतिविधि यह होती थी कि पुलों को उडाकर, टेलाफोन के तार काटकर तथा रेलों की पटरी उखाड़कर संचार के साधन नष्ट कर दिये जाएँ। कम से कम इन कार्यवाहियों से जनता का मनोबल तो बरकरार रखा गया।

समानान्तर सरकार अथवा प्रति–सरकार का गठन –

भारत छोड़ो आंदोलन की सबसे महत्वपूर्ण एवं उल्लेखनीय विशेषता थी – देश के कई भागों में समानांतर सरकारों का गठन। पूर्वी संयुक्त प्रांत (उत्तर प्रदेश) के बलिया, बंगाल के कोंटाई व मिदनापुर, बंबई में सतारा एवं बिहार के कुछ क्षेत्रों में क्रांतिकारियों ने समानांतर सरकारों का गठन किया।

सबसे पहले अगस्त 1942 में ही उत्तर प्रदेश के बलिया जिले में चित्तू पांडे के नेतृत्व में प्रथम समानांतर सरकार की घोषणा की गई। चित्तू पांडे एक गॉधीवादी स्वतंत्रता सेनानी थे और बलिया में इनका विशेष प्रभाव था। उन्हें 'बलिया का शेर' अर्थात 'शेर–ए–बलिया' के नाम से भी जाना जाता है। एक के बाद एक थाना व तहसीलों पर लोगों ने कब्जा जमाना शुरू कर दिया और 19 अगस्त 1942 को वह दिन भी आ गया जब बागी धरती के सपूतों के सामने ब्रिटिश हुकूमत को घुटने टेकने पड़े। इसी दिन शाम पांच बजे जिला कारागार के बाहर करीब 50 हजार की संख्या में लोग हाथों में हल, मूसल, कुदाल, फावड़ा, हसुआ, गुलेल, मेटा में सांप व बिच्छू भरकर अपने नेता चित्तू पाण्डेय व उनके साथियों की रिहाई की मॉग कर रहे थे। लोगों का हुजूम देखकर तत्कालीन जिलाधिकारी जगदीश्वर निगम व एसपी रियाजुद्दीन को मौका पर आना पड़ा और दोनों अधिकारियों ने जेल के अंदर जाकर आंदोलनकारियों से बात की। इसके बाद चित्तू पांडेय संग राधामोहन व विश्वनाथ चौबे को तत्काल जेल से रिहा किया गया। चित्तू पाण्डेय के नेतृत्व में लोगों ने कलेक्ट्रेट सहित सभी सरकारी कार्यालयों पर तिरंगा झंडा फहराया गया और 19 अगस्त 1942 की शाम करीब छह बजे बलिया को आजाद राष्ट्र घोषित करते हुए देश में सबसे पहले ब्रिटिश सरकार के समानांतर स्वतंत्र बलिया प्रजातंत्र की सरकार का गठन हुआ। चित्तू पांडेय को शासनाध्यक्ष नियुक्त किया गया।

चित्तू पाण्डेय ने 22 अगस्त 1942 तक यहां सरकार भी चलाई, लेकिन 22 अगस्त की रात ब्रिटिश सरकार के गवर्नर जनरल हैलट ने वाराणसी के कमिश्नर नेदर सोल को बलिया का प्रभारी जिलाधिकारी बनाकर भेज दिया। नेदर सोल अपने साथ बलूच फौज लेकर 22 अगस्त की रात ही बलिया पहुँचकर अंधाधुंध गोलियां चलवाते हुए एक–एक कर थाना, तहसील व सरकारी कार्यालयों पर कब्जा करने लगा। स्थिति को काबू में करने के लिए इलाहाबाद से लेफ्टिनेंट मार्स स्मिथ भी आंदोलनकारियों पर सख्ती के लिए 23 अगस्त को बलिया पहुँच गए। इस दौरान ब्रिटिश हुकूमत ने एक के बाद एक

सुखपुरा, बांसडीह, चौरवां, रसड़ा, नरहीं, चितबड़ागांव आदि स्थानों पर भारत माता के सपूतों पर गोलियां बरसा कर उन्हें तितर–बितर कर दिया, जिसमें कौशल कुमार सिंह, चंडीप्रसाद, गौरीशंकर, मकतुलिया देवी सहित कुल 84 लोग शहीद हो गए। वहीं चित्तू पांडेय, महानंद मिश्र, राधामोहन सिंह, जगन्नाथ सिंह, रामानंद पांडेय, राजेश्वर त्रिपाठी, उमाशंकर, विश्वनाथ मर्दाना, विश्वनाथ चौबे आदि को जेल में डाल दिया गया। इस प्रकार ब्रिटिश सरकार ने सितम्बर के प्रथम सप्ताह में फिर से बलिया को अपने कब्जा में ले लिया। वस्तुतः बलिया का आन्दोलन ब्रिटिश राज के विरुद्ध किये गये विस्तृत जन–आन्दोलन की विजय का महान प्रतीक था।

बंगाल के मिदनापुर जिले के तामलुक नामक स्थान पर 17 दिसम्बर, 1942 को जातीय सरकार का गठन किया गया, जो 1944 ई0 तक चलती रही। बंगाल में आंदोलन सबसे मजबूत मेदिनीपुर जिले के कोंटाई (कंठी) और तामलुक संभागों में था जहाँ राष्ट्रीय आंदोलन 1930 से ही किसानों की लोक–संस्कृति का अंग बन चुका था। इन दोनों संभागों में अंग्रेजों का प्रशासन लगभग समाप्त हो गया, किंतु अंग्रेजी दमन और समुद्री चक्रवात से स्थिति विकराल हो गई थी।

बंगाल में कोंटाई संभाग में नवंबर में 'कंठी स्वराज्य पंचायत' का आरंभ हो चुका था जबकि तामलुक में 17 दिसम्बर से सतीश सावंत के नेतृत्व में 'ताम्रलिप्त जातीय सरकार' काम करने लगी थी। तामलुक की जातीय सरकार के पास प्रशिक्षित स्वयंसेवकों की 'विद्युतवाहिनी' थी, स्वयंसेविकाओं की 'भगिनी सेना' थी और 'विप्लवी' नाम का मुखपत्र था। इस सरकार ने असैनिक प्रशासन चलाया, तूफान पीड़ितों के लिए राहत कार्य आरंभ किये, मध्यस्थता की अदालतों में 1681 मामले हल किये, स्कूलों को अनुदान दिया, शक्तिशाली निष्ठावान जमींदारों, व्यापारियों और स्थानीय अधिकारियों का अतिरिक्त धन गरीबों में बाँटा।

निर्मम दमन के बावजूद यह सरकार 8 अगस्त 1944 तक काम करती रही। 'कंठी स्वराज्य पंचायत' भी लगभग उन्हीं दिनों भंग कर दी गई।

लेकिन स्थापित समानान्तर सरकारों में सर्वाधिक प्रभावशाली और लम्बे समय तक चलने वाली सरकार सतारा की थी जिसके नेता वाई0 बी0 चाह्वाण तथा नाना पाटिल थे। सतारा में प्रति–सरकार का औपचारिक रूप से गठन फरवरी और जून 1943 के बीच हुआ जब दूसरे प्रांतों में भारत छोड़ो आंदोलन लगभग समाप्त हो चुका था। महाराष्ट्र में वैकल्पिक राष्ट्रीय सरकार की स्थापना का यह प्रयोग सबसे सफल रहा, क्योंकि बीसवीं सदी के आरम्भ में गैर–ब्राह्मण आंदोलन ने बहुजन समाज को जाति–विरोधी और सामंत–विरोधी कार्रवाइयों के लिए तैयार कर दिया था और 1930 के दशक के दौरान उसने राष्ट्रवाद और कांग्रेस के साथ संबंध स्थापित कर लिये थे। सतारा की राष्ट्रीय सरकार का एक लंबा–चौड़ा सांगठनिक ढाँचा था, जिसमें सेवा दल (स्वयंसेवक दल) और तूफान दल (ग्रामीण दल) थे। इस सरकार ने ग्रामीण पुस्तकालयों की स्थापना की, न्यायदान मंडलों (लोक अदालतों) का गठन किया और रचनात्मक कार्यक्रमों, जैसे शराब बंदी अभियान तथा गॉधी–विवाहों के आयोजन किये। इनकी गतिविधियों में जन–अदालतें (न्यायदान मंडल) और विभिन्न किस्म की हथियारबंद कार्रवाइयां और रचनात्मक कार्यक्रम भी शामिल रहे। आन्दोलन के अधिकांश कार्यकर्ता 1944 तक गिरफ्तारी से पूरी तरह बचते रहे, उसके बाद कुछ लोग तो गॉधी की सलाह

पर खुद ही पकड़ा गए और कुछ अन्य को पकड़ लिया गया। लेकिन दूसरे लोगों ने उनकी जगह ले ली और अधिकांश लोग तो कभी पकड़े ही नहीं जा सके। समानान्तर सरकार के संस्थापक अन्त समय तक जंगलों में ही घूमते रहे और उन्होने अपने जीवन के एक बडे हिस्से में भूमिगत रहकर ही कार्य किया। ब्रिटिश सरकार के तमाम प्रयासों के बावजूद यह समानांतर सरकार 1946 के चुनाव तक काम करती रही।

यहॉ एक प्रश्न जहन में उभरता है कि क्या 1942 में कांग्रेस के लिए उग्र होना आवश्यक था? आन्दोलन के स्वरुप को देखकर प्रतीत होता है कि उग्रता का मार्ग जान–बूझकर रणनीति के रुप में नही अपनाया गया था। इसलिए कुछ क्षेत्रों में आन्दोलन का स्वरूप उग्र हुआ जबकि अन्य क्षेत्रों में आन्दोलन उग्र नही हुआ। जहॉ का आन्दोलन उग्र हुआ वहॉ की प्रवृति के बारे में ज्ञानेन्द्र पाण्डेय के शब्दों में कहा जा सकता है कि वहॉ लोगों को 'सत्ता की अपेक्षा' थी। फिर भी संयुक्त प्रान्त और बिहार के आन्दोलनों, मिदनापुर की जातीय सरकार और सतारा की प्रान्तीय सरकार के विश्लेषणात्मक अध्ययन के बावजूद 1942 का आन्दोलन अभी भी एक रहस्य बना हुआ है। वास्तविकता तो यह है कि इस प्रश्न का उत्तर ढूँढ़ना ही निरर्थक है क्योंकि अन्य स्थानीय अध्ययनों के प्रकाशित होने के बाद कदाचित सम्पूर्ण चित्र उभरकर सामने आये। जो भी हो, जिन क्षेत्रों में आन्दोलन नही हुआ वहॉ की जानकारी के बिना भारत छोडों आन्दोलन की जटिलता को समझना संभव नही है। वस्तुतः कांग्रेस के हिंसात्मक कार्य के लिए जनता को प्रोत्साहन नहीं दिया अपितु इसके बिपरित सरकार की दमन–चक्र ने ही उनमें यह भावना अंग्रेजी राज्य का अन्त करने के अभिप्राय ने उत्पन्न की।

सरकारी प्रतिक्रिया और दमनचक्र

1942 के भारत छोड़ो आन्दोलन का दमन करने के लिए ब्रिटिश सरकार ने क्रूरता व जंगलीपन की सभी सीमाओं को तोड़ दिया। सुमित सरकार के शब्दों में – इस दमन की तुलना कल 1857 से की जा सकती थी, अन्तर केवल इतना था कि अब अंग्रेजों के हाथ में आधुनिक सैन्य विज्ञान के सभी साधन थे जबकि जनता लगभग पूर्णरूप से निहत्थी थी। आन्दोलन के हिंसात्मक होने के कारण सरकार को दमन का उचित बहाना भी मिल गया था। युद्धकालीन आपात शक्तियों का प्रयोग करके पहली बार सेना का उपयोग किया गया और अंग्रेजी सेना की पूरी 57 बटालियनें लगाई गईं। प्रेस का गला पूरी तरह घोंट दिया गया; प्रदर्शन कर रही भीड़ पर मशीनगनों से गोलियाँ चलाई गईं; हवा में बम बरसाये गये, कैदियों को कठोर यातनाएँ दी गईं, चारों ओर पुलिस और खुफिया पुलिस का राज था। गाँव के गाँव जला दिये गये, अनेक नगरों और कस्बों को सेना ने अपने नियंत्रण में ले लिया। विद्रोही गाँवों को जुर्माने के रूप में भारी–भारी रकमें देनी पड़ीं और गॉववालों पर सामूहिक रूप से कोड़े लगाये गये। सरकारी सूत्र के अनुसार 538 अवसरों पर निहत्थी जनता पर पुलिस ने गोलियॉ चलाई। लगभग दो महीने तक समूचे देश में इस तरह की हिंसात्मक घटनाएँ घटती रही। दिल्ली की सेंट्रल असेंबली में ऑनरेबुल होम मेम्बर द्वारा प्रस्तुत सरकारी आँकड़ों के अनुसार इस जन–आंदोलन में 940 लोग मारे गये, 1630 घायल हुए, 18,000 डी0आई0आर0 में नजरबंद हुए तथा 60229 गिरफ्तार हुए। गैर–सरकारी आँकड़े बताते हैं कि पुलिस और सेना की गोलीबारी में 10,000 से भी अधिक लोग मारे गये थे।

माइकल ब्रेचर के अनुसार – सरकार का दमन चक्र बहुत कठोर था और आन्दोलन को दबाने के लिए पुलिस राज की स्थापना हो गई थी। वस्तुतः 1857 के महान् विद्रोह के बाद भारत में इतना निर्मम दमन कभी देखने को नहीं मिला था। युद्ध की आवश्यकताओं का नाम लेकर चर्चिल ने इस त्वरित और निर्मम दमन को उचित ठहराया और आलोचनात्मक विश्व– जनमत को शांत किया। सरकार की दमन–चक्र ने आन्दोलन को दबा तो दिया लेकिन भूमिगत रुप से आन्दोलन चलता रहा।

आंदोलन के प्रति दलों के दृष्टिकोण –

अन्ततः 1942 के अन्त तक सरकार अगस्त क्रान्ति को कुचलने में सफल रही। जहॉ तक इस आन्दोलन के प्रति विभिन्न दलों के दृष्टिकोण का प्रश्न है – मुस्लिम लीग ने 'भारत छोड़ो' आन्दोलन को मुसलमानों के लिए घातक बताकर मुसलमानों को इसमें भाग न लेने का निर्देश दिया था। मुस्लिम लीग ने तो सरकार को भरसक सहायता प्रदान की और कांग्रेस विरोधी दलों की सहायता से केन्द्र में अस्थायी सरकार बनाने का असफल प्रयत्न किया। यह बात जरुर है कि इस पूरे काल में सांप्रदायिक हिंसा का नामो–निशान नहीं था। डॉ0 भीमराव आंबेडकर भी आन्दोलन को 'अनुत्तरदायित्त्वपूर्ण और पागलपन भरा' कहकर इससे अलग रहे, फिर भी, इस आंदोलन में विभिन्न क्षेत्रों में दलितों की भागीदारी के साक्ष्य मिलते हैं और जातिगत एकता इस अभियान में कभी एक दुर्लभ वस्तु नहीं रही। हिंन्दू महासभा ने भी 'व्यर्थ, पौरुषहीन और हिंन्दुत्व के ध्येय के लिए हानिकर' कहकर भारत छोड़ो आंदोलन की निंदा की और प्रमुख हिन्दू नेताओं ने अंग्रेजों के युद्ध–प्रयासों का समर्थन किया। इसके बावजूद एन0सी0 चटर्जी के नेतृत्व में एक गुट के दबाव में महासभा की कार्यकारी समिति को एक प्रस्ताव पारित करना पड़ा कि भारत की प्रतिरक्षा में तब तक समर्थन नहीं दिया जा सकता, जब तक कि भारत की स्वतंत्रता को तत्काल मान्यता न दी जाए। दूसरा हिन्दू संगठन आर0एस0एस0 भी अलग–थलग पड़ा रहा। बम्बई की सरकार ने एक मेमो में दर्ज किया कि संघ ने सावधानी के साथ अपने को कानून के दायरे में रखा है और खासतौर पर उस उथल–पुथल में स्वयं को शामिल होने से रोके रखा है, जिसका आरंभ अगस्त, 1942 में हुआ। दिसंबर, 1941 में सोवियत संघ के विश्वयुद्ध में शामिल होने के बाद भारत की कम्युनिस्ट पार्टी ने भी भारत छोड़ो आंदोलन का समर्थन नहीं किया। फिर भी, कुछ देशप्रेमी कम्युनिस्ट इस आन्दोलन में सक्रिय भाग लिये।

विभिन्न वर्गों की भागीदारी

वास्तव में भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन के इतिहास में यह पहला जन–आंदोलन था, जो नेतृत्व–विहीनता के बाद भी उत्कर्ष पर पहुँचा और अंग्रेजों के विरुद्ध संयुक्त कार्रवाई के प्रश्न पर विभिन्न वर्ग और समुदाय एकजुट थे। यद्यपि समाज का कोई भी वर्ग सहायता एवं समर्थन देने में पीछे नहीं रहा, लेकिन इस आन्दोलन ने युवाओं को बड़ी संख्या में अपनी ओर आकृष्ट किया। आमतौर पर छात्र, मजदूर और किसान ही इस आन्दोलन के आधार थे, जबकि उच्च वर्गों के लोग और नौकरशाही सरकार के वफादार रहे। 11 अगस्त को पटना में साम्यवादी नेता **राहुल सांकृत्यायन** ने घोर आश्चर्य से कहा था कि नेतृत्व रिक्शा चालकों, इक्कावानों और ऐसे ही दूसरे लोगों के हाथ में जा चुका था, जिनका राजनीतिक ज्ञान बस इतना ही था कि अंग्रेज उनके दुश्मन हैं। उद्योगपतियों ने अनुदान, प्रश्रय एवं अन्य वस्तुओं के रूप में सहयोग देकर,

छात्रों ने संदेशवाहक के रूप में, सामान्य ग्रामीणों ने सरकारी अधिकारियों को आंदोलनकारियों के संबंध में सूचनाएँ देने से इनकार करके तथा ट्रेन चालकों ने ट्रेन में बम एवं अन्य आवश्यक वस्तुएँ ले जाकर आंदोलनकारियों का सहयोग दिया। यहाँ तक कि कुछेक जमींदारों, विशेषकर दरभंगा के राजा ने भी आंदोलन में भाग लिया।

भारत छोड़ो आन्दोलन में आम जनता की हिस्सेदारी तथा समर्थन एक नई सीमा तक पहुँचा। पूर्ववर्ती आन्दोलन की तरह ''भारत छोड़ो' में भी युवा वर्ग काफी सक्रिय रहा। स्कूलों और कॉलेजों के छात्रों का उत्साह तो देखते ही बनता था। पुलिस दमन झेलते हुये भी लम्बी–लम्बी हड़ताले कर मजदूरों ने महत्वपूर्ण कुर्बानी दी। देश भर में किसान, चाहे वे अमीर हो या गरीब, इस आन्दोलन की शान थे। छोटे–छोटे जमींदारों ने भी आन्दोलन में हिस्सा लिया जबकि बड़े जमींदारों ने तटस्थता का रुख अपनाया और सरकारी दमन में सरकार का सहयोग नहीं किया। आन्देालन की एक प्रमुख विशेषता यह थी कि किसानों को मौका मिलने के बावजूद जमींदारों के खिलाफ हिंसा नही की और अपनी गतिविधियों का लक्ष्य ब्रिटिश सत्ता के प्रतीकों को ही बनाया। प्रशासन के निचले तबके के अधिकारियों ने हर तरह से आन्दोलनकारियों की मदद की। जेल अधिकारी बंदियों के प्रति उदार हो गये। यह सच है कि भारत छोड़ो आन्दोलन में मुसलमानों की हिस्सेदारी बहुत उल्लेखनीय नही रही परन्तु इसमें भी कोई सन्देह नही है कि कहीं कोई साम्प्रदायिक दंगा नही हुआ जो इस बात का प्रतीक था कि भले ही आन्दोलन ने मुस्लिम जनता में उत्साह न जगाया हो, पर कोई रोष भी पैदा नही किया।

महिलाओं की भागीदारी –

भारत छोड़ो आन्दोलन में महिलाओं का योगदान, बलिदान और देशभक्ति की कहानी है जो स्वतंत्रता आन्दोलन के इतिहास में सबसे महत्वपूर्ण रूप में दर्ज है। महिला क्रांतिकारियों ने बहुत ही योजनापूर्ण तरीके से विभिन्न स्तर पर सक्रिय भूमिका निभाई। हजारों की संख्या में जुलूस निकालकर सभाएँ और प्रदर्शन किए और ब्रिटिश जुल्मों के ख़िलाफ़ आवाज़ बुलंद की। महिला स्वयंसेवकों ने गाँव–गाँव जाकर सभाएं की और गॉधी के संदेश 'करो या मरो' से जोड़ा। शुरुआत में केवल कुछ विशेष घरों और जाति की महिलाएं आजादी के आंदोलन में शामिल रही थी लेकिन उसके बाद हर जाति और समुदाय की औरतों ने देश को बचाने के लिए आन्दोलन में हिस्सा लिया। पंजाब, महाराष्ट्र, ग्वालियर, बंगाल, असम में देश के हर कोने–कोने की महिलाएं भारत छोड़ो आंदोलन में शामिल हुईं। महिलाएं सड़कों पर उतर आईं, नारे लगाए, सार्वजनिक भाषण दिए और प्रदर्शन किया। भारत छोड़ो आंदोलन में निम्नलिखित महिला नेताओं ने अपना बहुमूल्य योगदान दिया –

कनकलता बरुआ –

स्कूली छात्रा कनकलता बरूआ ने असम के ब्रह्मपुत्रा वैली में 'भारत छोड़ो' आंदोलन का नेतृत्व किया। वह एक सक्रिय आयोजक और 'मृत्यु वाहिनी' की सदस्य थीं। कनकलता बरुआ असम के सोनितपुर ज़िले के गोहपुर की रहने वाली थीं। भारत छोड़ो

आंदोलन के दौरान उनकी आयु मात्र 18 वर्ष की थी। स्थानीय लोग उन्हें 'बीरबाला' के नाम से जानते हैं। 20 सितंबर, 1942 को भारी संख्या में लोग गोहपुर पुलिस चौकी पर पर शांतिपूर्ण तरीके से प्रदर्शन करने के लिये पहुँच रहे थे। उनका उद्देश्य पुलिस चौकी पर लगे यूनियन जैक को उतार कर भारतीय झंडा फहराना था। कनकलता महिलाओं के समूह का प्रतिनिधित्व कर रही थीं। थाने के दरोगा के धमकी देने पर भी वो नहीं मानी और झंडा लेकर आगे बढ़ती रहीं। आखिरकार वो पुलिस की गोली का शिकार हुईं और शहीद हो गईं।

कल्पना दत्ता –

कल्पना दत्ता बंगाल में वामपंथी राजनीति तथा क्रांतिकारी गतिविधियों में सक्रिय थीं। वर्ष 1930 के चटगाँव शस्त्रागार लूट में वो सूर्य सेन के साथ लड़ी थीं तथा वर्ष 1932 ई0 में उन्हें आजीवन कारावास की सज़ा सुनाई गई थी।

वर्ष 1935 के भारत शासन अधिनियम के बाद राज्यों स्वायत्तता दी गई। जिसके बाद भारतीय नेताओं– रबींद्रनाथ टैगोर, सी0एफ0 एंड्रूज तथा महात्मा गॉधी ने उनको जेल से छुड़ाने में मदद की तथा वर्ष 1939 में वो जेल से रिहा हुईं। जेल से बाहर आने के बाद उन्होंने अपनी आगे की पढ़ाई पूरी की तथा बंगाल के धोबीपाड़ा में मज़दूरों के हक में कार्य करती रहीं। वे बाद में भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी से जुड़ गईं ।

द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान सरकार ने उनके बाहर निकलने पर प्रतिबंध लगा दिया था तथा 24 घंटे के अन्दर गिरफ्तार करने का आदेश दिया। लेकिन वो भूमिगत तरीके से पार्टी तथा आज़ादी के लिये लगातार कार्य करती रहीं।

राजकुमारी अमृत कौर –

राजकुमारी ने भारत छोड़ो आन्दोलन में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई थी। वो पंजाब के कपूरथला राजघराने से संबंधित थीं तथा लंदन से पढ़ाई करने के बाद वो भारत लौटीं। वह गॉधीजी के विचारों से काफी प्रभावित थीं तथा नमक सत्याग्रह में भी उन्होंने अपने योगदान दिया था। उनका मुख्य कार्यक्षेत्र शिक्षा के माध्यम से महिलाओं तथा हरिजन समाज को सशक्त बनाना था। वह अखिल भारतीय ग्रामोद्योग संगठन की अध्यक्ष भी रही थीं। भारत छोड़ो आंदोलन में वो लोगों के साथ मिलकर जुलूस निकालती और विरोध प्रदर्शन करती थीं। शिमला में 9 से 16 अगस्त 1942 के बीच उन्होंने प्रतिदिन जुलूस निकला तथा पुलिस ने उनपर 15 बार लगातार निर्दयता से लाठीचार्ज किया। अन्ततः सरकार ने उन्हें बाहर छोड़ना उचित नहीं समझा तथा कालका में उन्हें गिरफ्तार कर लिया गया।

सरोजिनी नायडू –

सरोजिनी नायडू प्रारंभ से आज़ादी के संघर्ष में सक्रिय रहीं थीं। उन्होंने धरसाना नमक सत्याग्रह के दौरान गाँधीजी व सभी अन्य नेताओं की गिरफ्तारी के बाद सत्याग्रहियों का नेतृत्व किया था। 3 दिसंबर, 1940 को विनोबा भावे के नेतृत्व में हुए व्यक्तिगत

सत्याग्रह में हिस्सा लेने के कारण पुलिस ने उन्हें गिरफ्तार कर लिया लेकिन स्वास्थ्य कारणों से उन्हें शीघ्र ही जेल से रिहा कर दिया गया।

भारत छोड़ो आंदोलन के दौरान गिरफ्तार हुए प्रमुख नेताओं में वो भी शामिल थीं। उन्हें पुणे के आगा खाँ महल में रखा गया था। 10 महीने के बाद जेल से वो रिहा हुई तथा फिर से राजनीति में सक्रिय हुईं। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद उन्हें उत्तर प्रदेश का राज्यपाल नियुक्त किया गया तथा मार्च 1949 तक वो इस पद पर बनी रहीं एवं अपने कार्यकाल के दौरान ही उनकी मृत्यु हो गई।

भारत में फैले प्लेग महामारी के दौरान लोगों की सेवा करने के लिये भारत सरकार ने कैसर–ए–हिंद की उपाधि दी थी जिसे उन्होंने जलियाँवाला बाग हत्याकांड के बाद वापस कर दिया था। सरोजिनी नायडू भारत में हिंदू–मुसलमान एकता की प्रबल समर्थक थीं और उन्हें उनकी कविताओं के लिये 'भारत की बुलबुल' (Nightingale of India) कहा जाता है।

कमलादेवी चट्टोपाध्याय –

कमलादेवी चट्टोपाध्याय नमक सत्याग्रह तथा सविनय अवज्ञा आंदोलन से ही राजनीति में सक्रिय रहीं थीं। अपने राजनीतिक संघर्ष के दौरान उन्हें कई बार जेल जाना पड़ा। भारत छोड़ो आंदोलन के दौरान उन्हें भी गिरफ्तार किया गया। जेल से छूटने के बाद वो अमेरिका गईं तथा वहाँ के लोगों को भारत में ब्रिटिश हुकूमत की सच्चाई के बारे में बताया। उन्होंने राष्ट्रीय नाट्य अकादमी, संगीत नाटक अकादमी तथा भारतीय दस्तकारी परिषद की स्थापना में अपना योगदान दिया। वर्ष 1955 में कला के क्षेत्र में योगदान के लिये उन्हें पद्म भूषण से सम्मानित किया गया।

ऊषा मेहता –

भारत छोड़ो आंदोलन के प्रारंभ होने के बाद जब सभी मुख्य कॉग्रेसी नेता गिरफ्तार कर लिये गए तब जिन लोगों ने गुप्त तरीके से आन्दोलन को चलाया उनमें से ऊषा मेहता प्रमुख नाम है। कॉग्रेस के कुछ सदस्यों ने मिलकर भारत छोड़ो आंदोलन के दौरान होने वाली सभी घटनाओं को जनता तक पहुँचाया। इस सदस्यों में ऊषा मेहता के अलावा, विट्ठलदास, चंद्रकांत झावेरी, बाबूभाई ठक्कर और शिकागो रेडियो, मुंबई के टेक्निशियन नानक मोटवानी शामिल थे। कॉग्रेस रेडियो के माध्यम से ऊषा मेहता ने भारत छोड़ो आंदोलन में अभूतपूर्व योगदान दिया। उनके द्वारा देश भर के विभिन्न स्थानों से आने वाली क्रांति की खबरें इस पर प्रसारित की जाती थीं जिसकी वजह से स्थानीय स्तर पर आन्दोलन कर रहे सत्याग्रहियों को हौसला मिलता था।

सुचेता कृपलानी –

सुचेता कृपलानी का राजनीतिक जीवन तब प्रारंभ होता है जब वह काशी हिंदू विश्वविद्यालय में इतिहास की लेक्चरर थीं। वर्ष 1936 में कॉन्ग्रेस के वरिष्ठ नेता आचार्य जे0बी0 कृपलानी से उनका विवाह हुआ। उसके बाद वो सक्रिय राजनीति में भाग लेने

लगीं और अपनी लेक्चरर की नौकरी छोड़ दी। उन्होंने आचार्य विनोबा भावे के नेतृत्व में व्यक्तिगत सत्याग्रह में हिस्सा लिया और जेल गईं।

जेल से निकलने के बाद वो भारत छोड़ो आन्दोलन के दौरान वो भूमिगत होकर प्रचार–प्रसार करती रहीं। वर्ष 1943 में जब कॉग्रेस में महिला विभाग की स्थापना की गई तब सुचेता कृपलानी को उसका सचिव बनाया गया। उसके बाद उन्होंने महिला कॉग्रेस के प्रचार तथा उसमे लोगों को जोड़ने के लिये लगातार प्रयास किये। वर्ष 1963 में वह उत्तर प्रदेश की मुख्यमंत्री बनीं और वह भारत की पहली महिला मुख्यमंत्री थीं।

अरुणा आसफ अली –

अरुणा नमक सत्याग्रह के दिनों से ही राजनैतिक रूप से सक्रिय रहीं थीं लेकिन उनकी पहचान 9 अगस्त, 1942 को बम्बई के ग्वालिया टैंक मैदान में बनी जब सभी नेताओं की गिरफ्तारी के बाद उन्होंने राष्ट्रीय ध्वजारोहण समारोह का नेतृत्व किया। उस समय बहुत बड़ी संख्या में भीड़ एकत्रित हुई थी और पुलिस ने उस पर नियंत्रण हेतु लाठी, आँसू गैस तथा गोली चलायी फिर भी अरुणा ने उस सभा का सफलतापूर्वक नेतृत्व किया। भारत छोड़ो आंदोलन में अरुणा आसफ अली ने भी अन्य नेताओं की भाँति ही भूमिगत तरीके से भागीदारी की और आन्दोलन के प्रचार में अपना योगदान किया। उन्होंने राममनोहर लोहिया के साथ मिलकर 'इंकलाब' नामक मासिक पत्रिका का संपादन किया।

इसके अलावा असंख्य महिला नेताओं व स्थानीय महिलाओं ने भारत छोड़ो आंदोलन में अपनी भागीदारी दी जिसकी वजह से यह आंदोलन सभी पूर्ववर्ती आन्दोलनों से व्यापक तथा प्रभावशाली साबित हुआ। इसने द्वितीय विश्व युद्ध समाप्त होने के बाद अंग्रेजों को भारत छोड़ने में भूमिका तैयार की।

भारत छोड़ो आंदोलन का स्वरुप और महत्व –

भारत छोड़ो आन्दोलन से भारत को स्वतंत्रता भले ही न मिली हो, किंतु यह भारत की स्वाधीनता के लिए किया जाने वाला अंतिम महान् प्रयास था। इस आन्दोलन ने दिखा दिया कि देश में राष्ट्रवादी भावनाएँ किस गहराई तक अपनी जड़ें जमा चुकी हैं और जनता संघर्ष और बलिदान की कितनी बड़ी क्षमता प्राप्त कर चुकी है। इस आन्दोलन का महत्त्व इस बात में भी है कि इसके द्वारा स्वतंत्रता की माँग राष्ट्रीय आंदोलन की पहली माँग बन गई। इस आन्दोलन की व्यापकता ने यह स्पष्ट कर दिया कि अब अंग्रेजों के लिए भारत पर शासन करना संभव नहीं है। आन्दोलन की तीव्रता और विस्तार से अंग्रेजों को भी विश्वास हो गया कि उन्होंने भारत पर शासन करने का वैध अधिकार खो दिया है। यही नहीं, इस आन्दोलन ने विश्व के कई देशों को भारतीय जनमानस के साथ खड़ा कर दिया।

सरकार ने 13 फरवरी, 1943 को भारत छोड़ो आंदोलन के दौरान हुए विद्रोहों के लिए महात्मा गॉधी और कांग्रेस को दोषी ठहराया। गॉधीजी ने इस आरोप को अस्वीकार करते हुए कहा था कि मेरा वक्तव्य अहिंसा की सीमा में था। स्वतंत्रता संग्राम के प्रत्येक अहिंसक सिपाही को कागज या कपड़े के एक टुकड़े पर 'करो या मरो' का नारा लिखकर चिपका लेना चाहिए, जिससे यदि सत्याग्रह करते समय उसकी मृत्यु हो जाए

तो उसे इस चिन्ह के आधार पर दूसरे तत्त्वों से अलग किया जा सके, जिनका अहिंसा में विश्वास नहीं है। उन्होंने अपने ऊपर लगे आरोप को सिद्ध करने के लिए सरकार से निष्पक्ष जाँच की माँग की।

जब सरकार के गाँधी की माँग पर ध्यान नहीं दिया तो उन्होंने 10 फरवरी, 1943 को इक्कीस दिन का उपवास शुरू कर दिया। गाँधी के उपवास की खबर से पूरे देश में आक्रोश फैल गया। पूरे देश में प्रदर्शनों, हड़तालों एवं जुलूसों के आयोजन किये गये। वायसरॉय की कार्यकारिणी परिषद् के तीन सदस्यों– सर मोदी, सर ए0 एन0 सरकार एवं आणे ने इस्तीफा दे दिया। विदेशों में भी गाँधी के उपवास की खबर से व्यापक प्रतिक्रिया हुई तथा सरकार से उन्हें तुरन्त रिहा करने की माँग की गई। उपवास के तेरहवें दिन गाँधी की स्थिति बहुत बिगड़ गई। ब्रिटिश सरकार शायद यह मानकर चल रही थी कि यदि उपवास के कारण गाँधी की मृत्यु हो जायेगी तो उसकी साम्राज्यवादी नीति का सबसे बड़ा कंटक दूर हो जायेगा। कहते हैं कि आगा खाँ महल में उनके अंतिम संस्कार के लिए चंदन की लकड़ी की व्यवस्था भी कर दी गई थी। किन्तु गाँधी हमेशा की तरह अपने विरोधियों पर भारी पड़े और 6 मई, 1944 को बीमारी के आधार पर रिहा कर दिये गये।

रिहाई के बाद गाँधी ने आत्मसमर्पण का आह्वान किया, किन्तु हर किसी ने उनकी बात नहीं मानी। उन्होंने ऐसे लोगों की जमकर प्रशंसा तक की, जो उनके अहिंसा के मार्ग से स्पष्ट तौर पर दूर चले गये थे। सतारा की प्रति सरकार के प्रसिद्ध नेता नाना पाटिल से उन्होंने कहा कि "मैं उन लोगों में से एक हूँ, जो यह मानते हैं कि वीरों की हिंसा कायरों की अहिंसा से बेहतर होती है।" किंतु कांग्रेसी नेतृत्व ने, जिस पर अब दक्षिणपंथियों का कब्जा था, जनता के इस उग्र व्यवहार की निंदा की। इसके बाद कांग्रेस लगातार आन्दोलन का रास्ता छोड़कर संविधानवाद की ओर झुकती चली गई। दूसरे शब्दों में "राज से टकराने की प्रक्रिया में कांग्रेस स्वयं ही राज बनती जा रही थी।" अंग्रेजी राज ने भी महसूस किया कि युद्धकालीन सह–शक्तियों के बिना ऐसे उग्र जन आन्दोलनों से निबटना मुश्किल होगा, इसलिए सम्मानजनक और सुव्यवस्थित ढंग से अलग होने के लिए समझौता वार्ता के प्रति अधिक तत्परता दिखाई।

1942 के भारत छोड़ो आन्दोलन के स्वरूप तथा महत्व का विश्लेषण इतिहासकारों ने अलग–अलग दृष्टिकोण से किया है। रजनी पामदत्त ने भारत छोड़ो आन्दोलन का आकलन करते हुए एक ओर तो यह तथ्य रेखांकित किया कि– ''राष्ट्रीय नेता "अपनी इच्छा के विरुद्ध इस रास्ते पर खिंच आए थे, क्योंकि वे स्वतन्त्रता के आधार पर सहयोग करने की हर कोशिश हार गए थे।" इस परिस्थितिजन्य विवशता के बावजूद वे यह मानते थे कि यह आन्दोलन एक भयंकर भूल थी। रजनी पामदत्त के अनुसार– ''एक ओर चीन व रूस की स्वतन्त्रता की कामना करने तथा संयुक्त राष्ट्रों की सफलता की इच्छा रखने तथा दूसरी ओर भारत में अपने कार्यों के द्वारा इन उद्देश्यों की पूर्ति में बाधा उत्पन्न करने की विरोधी धाराओं के चलते "इस प्रस्ताव में ऐसी घातक विसंगति थी जिससे पता चलता था कि प्रस्ताव पारित करने वालों के मन में उद्देश्य स्पष्ट नहीं था।" रजनी पामदत्त का मानना यह है कि वास्तव में कांग्रेस का उद्देश्य कोई गम्भीर संघर्ष छेड़ना नहीं था। 1945 तक जिस तरह गाँधी, नेहरू सहित सभी नेताओं ने आन्दोलन को अपना आन्दोलन बताने से इंकार किया उससे इस मान्यता की पुष्टि

होती है। कांग्रेस ने तो यह सोचकर संघर्ष की धमकी दी थी कि इसके दबाव में सरकार समझौता वार्ता आरम्भ कर देगी। उनका यह काम बुद्धिहीनता का था तथा "एक भयंकर युद्ध के नाजुक दौर में ऐसी नीति पर चलने का अर्थ यह था कि स्थिति को समझने में और साम्राज्यवादियों के दाव पेंच से परिचित होने में वह धोखा खा गए।"

रजनी पामदत्त के विपरीत बिपिनचन्द्र का मानना यह है कि "भारत छोड़ो' आन्दोलन में आम जनता की हिस्सेदारी तथा समर्थन एक नई सीमा तक पहुँचा।" आन्दोलन में छात्रों. युवाओं एवं महिलाओं की महत्वपूर्ण भूमिका को उनके द्वारा रेखांकित किया गया है। उनके शब्दों में – "देशभर के किसान चाहे वे अमीर हों या गरीब, इस आन्दोलन की जान थे" तथा आन्दोलन के समर्थन में "व्यवसायी वर्ग ने अपनी थैलियाँ खोल दी थीं." उनके अनुसार सामंत वर्ग तटस्थ रहा था तथा नौकरशाही व पुलिस की हमदर्दी आन्दोलन के साथ थी. निष्कर्ष के रूप में "इस ऐतिहासिक आन्दोलन, की एक बड़ी खूबी यह रही कि इसके द्वारा आजादी की माँग राष्ट्रीय आन्दोलन की पहली मॉग बन गई। भारत छोड़ो आन्दोलन के बाद अब पीछे नहीं मुड़ा जा सकता था। "

सुमित सरकार 1942 का विश्लेषण कम जोशीले व अधिक संयत ढंग से करते हुए मानते हैं कि – "इसमें आरम्भ में श्रमिकों की छोटी और सीमित भूमिका रही थी।" उनके अनुसार जिस बात ने आन्दोलन को इतना प्रचंड बनाया, वह थी कुछ क्षेत्रों में किसानों का भारी विद्रोह। इस आन्दोलन में 1857 के बाद के आन्दोलनों में सबसे ज्यादा जुझारूपन था तथा तीव्र साम्राज्यवाद विरोध ने आन्तरिक वर्गीय तनावों और सामाजिक जुझारूपन को भी कम कर दिया था। क्षेत्रीय दृष्टि से पंजाब, सीमा प्रान्त, तमिलनाडु व केरल में 1942 के आन्दोलन का प्रभाव कम रहा तथा लगभग सभी स्थानों पर मुसलमान 1942 के आन्दोलन से अलग– थलग रहे थे, किन्तु उनका रुख विरोध का न होकर तटस्थता का था। सुमित सरकार का मानना यह है कि "भारत छोड़ो आन्दोलन के परिणामस्वरूप अंग्रेज यह अनुभव करने लगे थे कि सत्ता के समझौते के बाद हस्तांतरण कर दिया जाए तथा 1942 के विद्रोह और इसके परिणाम ने उन शक्तियों को ही सुदृढ़ किया था जो कांग्रेस के दक्षिणपंथ को नई प्रतिष्ठा प्रदान कर समझौता करने के पक्ष में थी। इस आन्दोलन ने वामपंथ को न सिर्फ कमजोर बनाया अपितु विभाजित भी कर दिया। इसका असर भारतीय राजनीति को प्रभावित करने की उसकी क्षमता पर भी पड़ा।

डा0 ईश्वरी प्रसाद के अनुसार – '' अगस्त क्रान्ति सरकार के विरुद्ध प्रजा का विद्रोह था और इसकी तुलना फ्रांस के इतिहास में बास्तील के पतन से या रूस की अक्टूबर क्रान्ति से की जा सकती है। इसमें हिंसा और अहिंसा का विचित्र मिश्रण था। अंग्रेज शासकों के प्रति भारतीयों की घृणा से इस विद्रोह को प्रेरणा और प्रोत्साहन मिलता रहा। उसका उद्देश्य भारत को अंग्रेजों से मुक्त कराना था और इसके लिए हिंसा तथा प्रशासनिक मशीनरी की तोड़–फोड़ को साधन रुप में अपनाया गया। यह जनता में उत्पन्न नये उत्साह और गरिमा का सूचक था।''

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि 1942 का आन्दोलन, भले ही उसे परिस्थितिजन्य विवशता में आरम्भ किया गया हो, भारतीय जनता के देशप्रेम एवं स्वाधीनता प्राप्ति की इच्छा की तीव्र अभिव्यक्ति था एवं देश की आजादी के इतिहास में उसका अपना

विशिष्ट स्थान है। इसके अतिरिक्त भले ही आन्दोलन को शीघ्रता से दबा दिया गया हो किन्तु समय के क्षितिज पर लिखे गये शब्द ''भारत छोड़ो'' 1942 के बाद आकार में बड़े होते चले गये और 1947 में स्वतंत्रता का जो स्वर्ण–विहान हुआ उसमें इस आन्दोलन का ही सबसे बड़ा योगदान था।

सांवैधानिक संकट : क्रिप्स और कैबिनेट मिशन
Constitutional Crisis : Cripps and Cabinet Misson

त्रिपुरी संकट से क्रिप्स मिशन तक –

1935 के भारत शासन अधिनियम के अनुरूप 1937 में कुल 11 प्रान्तों में चुनाव हुये थे जिनमें से 5 प्रान्तों– मद्रास, संयुक्त प्रान्त, मध्य प्रान्त, बिहार और उड़ीसा में पूर्ण बहुमत प्राप्त किया। बम्बई, असम और उत्तरी–पश्चिमी सीमाप्रान्त में सबसे बडे दल होने के नाते वहॉ इसने अपनी सरकारे बनाई। इस प्रकार कुल 8 प्रान्तों में कांग्रेस मंत्रिमण्डल का गठन हुआ। बंगाल, पंजाब और सिन्ध में कांग्रेस को बहुमत नही मिल सका। पंजाब में यूनियनिस्ट पार्टी तथा मुस्लिम लीग ने मिलकर संयुक्त सरकार का गठन किया लेकिन आगे चलकर मुस्लिम लीग के सिकन्दर हयात खॉ के प्रधानमंत्रित्व काल में यूनियनिस्ट पार्टी के मुस्लिम वर्ग पर अपना प्रभाव कायम कर लिया। बंगाल में कृषक प्रजा पार्टी तथा मुस्लिम लीग ही संयुक्त सरकार सत्ता में आई लेकिन बाद में मुस्लिम लीग का मंत्रिमण्डल गठित हुआ जो 14 अगस्त 1947 तक सत्ता में रहा जिसके प्रधानमंत्री एच0 एस0 सुहारावर्दी थे।

इन चुनावों में कांग्रेस की जीत और फिर उनकी सरकारे बनने से देश में सत्ता का संतुलन थोडा बदला। दूसरी तरफ सुभाष चन्द्र बोस को सर्वसम्मति से 1938 ई0 हरिपुरा अधिवेशन में कांग्रेस का अध्यक्ष चुना गया था और 1939 ई0 में उन्होने फिर इस पद के लिए खडे होने का निर्णय लिया। लेकिन कांग्रेस ने पट्टाभि सीतारमैया को अपना उम्मीदवार बनाया जिसे महात्मा गॉधी ने भी समर्थन प्रदान किया। गॉधीजी ने अपनी प्रतिक्रिया देते हुये कहा कि – सीतारमैया की हार उनसे अधिक मेरी हार है।

इस चुनाव में भी सुभाष चन्द्र बोस कांग्रेस के अध्यक्ष के रूप में विजित हुये लेकिन सुभाष के चुने जाने से कुछ हल नही हुआ और गहराता हुआ संकट कांग्रेस के त्रिपुरी अधिवेशन में अपने शिखर पर पहुॅच गया। दरअसल सुभाष चन्द्र बोस ने कांग्रेस के नेताओं पर समझौतावादी होने का आरोप लगाया था जो उन्हे काफी नागवार लगी थी। वस्तुतः सुभाष और गॉधीजी के इस विवाद में नीति और रणकौशल से सम्बन्धित कुछ बुनियादी मुद्दे नीहित थे। ये दोनो नेता तात्कालीन राजनीतिक यथार्थ को अलग–अलग नजरिए से देखते थे और जनता संघर्ष के लिए किस हद तक तैयार है तथा भविष्य में जनआन्दोलन का स्वरूप क्या हो, इस पर उनकी राय अलग–अलग थी। कांग्रेस की यह गृह कलह 8 मार्च से 12 मार्च 1939 तक चलने वाली त्रिपुरी अधिवेशन में और गहरी हो गयी जब सुभाष चन्द्र बोस से कहा गया कि वे गॉधीजी की इच्छाओं के अनुसार अपनी कार्यसमिति बनायें। प्रस्ताव भारी बहुमत से स्वीकृत हुआ लेकिन गॉधीजी ने इसे स्वीकार नही किया और सुभाष से कहा कि वे अपनी मर्जी की कार्यसमिति बनाये। सुभाष चन्द्र बोस एक विचित्र स्थिति में पड़ गये। उन्हे आभास था कि वे कांग्रेस को अपने ढ़ंग से नहीं चला सकते लेकिन उन्हे बहुमत का नेतृत्व भी मंजूर नही था। इस प्रकार इन विकट परिस्थितियों में इस्तीफा देने के अलावा उनके पास और कोई विकल्प नही बचा। यद्यपि जवाहर लाल नेहरू ने बीच–बचाव करने का भरसक

प्रयास किया लेकिन अन्ततः सुभाष चन्द्र बोस ने अध्यक्ष पद से इस्तीफा दे दिया और उनकी जगह राजेन्द्र प्रसाद को अध्यक्ष चुना गया। मई 1939 ई0 में सुभाष चन्द्र बोस ने कांग्रेस के अन्दर ही एक नये दल 'फारवर्ड ब्लाक' की स्थापना की।

द्वितीय विश्वयुद्ध और राष्ट्रीय आन्दोलन –

1 सितम्बर 1939 ई0 को जर्मनी द्वारा पोलैण्ड पर आक्रमण के साथ ही द्वितीय विश्वयुद्ध का आगाज हो गया। पोलैण्ड की सुरक्षा के नाम पर ब्रिटेन ने 3 सितम्बर को जर्मनी के विरूद्ध युद्ध की घोषणा कर दी और तात्कालीक भारतीय वायसराय लार्ड लिंलिथगों ने केन्द्रीय और प्रान्तीय विधानमण्डलों से सलाह लिए बिना ही यह घोषणा कर दी कि भारत भी जर्मनी के विरुद्ध ब्रिटेन के साथ इस युद्ध में शामिल है। इस प्रकार ब्रिटिश सरकार ने भारतीय जनता की राय लिए बिना भारत को युद्ध की ज्वाला में झोंक दिया।

इस मुद्दे पर विचार विमर्श करने हेतु गॉधीजी ने 4 सितम्बर 1939 ई0 को शिमला में वायसराय से भेंट की। कांग्रेस का मानना था कि जब भारत खुद ही स्वतंत्र नही है तो वह कैसे दुनिया में प्रजातंत्र और स्वतंत्रता की रक्षा करने वाले तथाकथित देश ब्रिटेन की मदद कर सकता है। इसके लिए पहले भारत की स्वतंत्रता को मान्यता देना जरूरी था। कांग्रेस कार्यसमिति ने युद्धजनित विकट परिस्थितियों पर विचार करते हुये अपनी नीतियों को स्पष्ट करने के लिए एक वक्तव्य प्रकाशित किया जिसमें नाजियों द्वारा पोलैंड पर हमले की निन्दा की गयी; लेकिन यह भी कहा गया कि युद्ध और शान्ति के प्रश्न का निर्णय स्वयं भारतीय करेंगे। इस बात पर जोर दिया गया कि अगर इंगलैंड लोकतन्त्र की रक्षा के लिए युद्ध में भाग ले रहा है तो सबसे पहले वह भारत में साम्राज्यवाद को समाप्त करे, यहां पूर्ण लोकतन्त्र की स्थापना करे और भारतीयों को संविधान सभा द्वारा संविधान निर्माण का अधिकार दे। अगर अंग्रेज भारत की स्वतन्त्रता को मान्यता नहीं देते हैं तो उससे यह उम्मीद करना बेकार है कि वह दूसरे देशों की स्वतन्त्रता के लिए लड़े जबकि वह स्वयं ही स्वतन्त्र नहीं हो। इसी बीच ब्रिटिश संसद ने 1935 के अधिनियम में कुछ संशोधन कर दिया जिससे कांग्रेस का संदेह और बढ़ गया और अंग्रेजी शासकों के इरादे साफ दिखाई पड़ने लगे।

ब्रिटिश सरकार ने कांग्रेस और भारतीयों की मॉगों पर कोई सन्तोषजनक उत्तर नही दिया और वह इस बात के लिए तैयार नही थी कि युद्ध के बाद भारत के सांवैधानिक स्वरूप के बारे में पहले से ही कोई स्पष्ट आश्वासन देकर अपने हाथ बॉध ले। कांग्रेस अपने पुराने अनुभवों को देखते हुये ब्रिटिश सरकार पर विश्वास करने के लिए तैयार नही थी। वायसराय ने भारतीय जनमत की जानकारी के लिए विभिन्न दलों के लगभग 50 नेताओं से वार्ता की और एक वक्तव्य जारी कर कहा कि कांग्रेस अपने मॉगों की पूर्ति के लिए गलत समय में दबाव दे रही है। वायसराय के वक्तव्य द्वारा मुस्लिम लीग और देशी नरेशों की मॉगों को पूरा करने की चेष्टा की गयी। इससे सबसे अधिक निराशा कांग्रेस को हुई क्योंकि उसकी मॉगों की ओर जरा भी ध्यान नहीं दिया गया। यह स्पष्ट हो गया कि सरकार पुनः फूट डालो और शासन करो की नीति को अपना रही है। कांग्रेस ने पूर्ण स्वतन्त्रता की मॉग की जबकि उसे केवल औपनिवेशिक स्वराज्य का आश्वासन दिया गया। गॉधीजी के शब्दों में– "कांग्रेस ने रोटी की मॉग की और उसे मिला पत्थर।' वायसराय के वक्तव्य से कांग्रेस में विरोध का ज्वार उमड़ पड़ा और

विरोधस्वरूप आठ प्रान्तों की कांग्रेस मन्त्रिमण्डलों ने त्याग–पत्र दे दिया। यद्यपि बहुत से विद्वानों का मानना है कि मंत्रिमण्डलों से त्याग–पत्र देकर कांग्रेस ने गलती की और वह सांविधानिक तंत्र का सफल संचालन करने में अयोग्य सिद्ध हुई। इस सांवैधानिक विफलता का पूर्ण उत्तरदायित्व कांग्रेसी नेताओं पर ही था। लेकिन यह कहना गलत है कि सांवैधानिक उत्तरदायित्व से मुक्त होकर कांग्रेस अपना कर्तव्य निभाने में असफल हुई। अपितु कांग्रेस ने अपने उद्देश्यों और चुनाव घोषणा के अनुसार कार्य किया और त्यागपत्र देकर उसने अपनी पूर्व प्रतिज्ञा पूरी की और उच्च प्रजातान्त्रिक भावना का परिचय दिया। अन्ततः द्वितीय विश्वयुद्ध में भारत की इच्छा के बिना भारत को युद्ध में झोंकने के कारण अक्टूबर–नवम्बर 1939 ई0 में कांग्रेस मंत्रिमण्डलों ने त्यागपत्र दे दिया। इस प्रकार प्रान्तीय स्वायत्तता और उत्तरदायी शासन का प्रयोग समाप्त हो गया।

मुस्लिम लीग भी बिना किसी शर्त के सरकार को सहायता देने के पक्ष में नहीं थी। मुस्लिम लीग की कार्य–समिति ने 18 सितम्बर, 1939 की बैठक में एक प्रस्ताव पासकर नाजी हमले की निन्दा की और मित्र राष्ट्रों के प्रति सहानुभूति प्रकट की। उसने सरकार को सहायता देने का वचन तो दिया लेकिन शर्त यह थी कि कांग्रेस–शासित प्रान्तों में मुसलमानों के साथ जहॉ उनकी 'स्वतन्त्रता, जीवन, सम्पत्ति और प्रतिष्ठा पर खतरा है, और उनके "उचित अधिकारों को कुचला जा रहा है–न्याय किया जाय।

कांग्रेस मन्त्रिमण्डलों द्वारा त्याग–पत्र देने के बाद वायसराय ने महात्मा गांधी, डॉ० राजेन्द्र प्रसाद और मि० जिन्ना को बातचीत के लिये 1 नवम्बर, 1939 ई0 को बुलाया लेकिन इन वार्ताओं का कोई सकारात्मक प्रतिफल नही निकला। कांग्रेस द्वारा मन्त्रिमण्डलों से त्याग–पत्र देने पर मुसलमानों ने जिन्ना के नेतृत्व में 29 दिसम्बर, 1939 ई० को मुक्ति दिवस मनाया। मुस्लिम लीग के तत्वावधान में सारे भारत में सार्वजनिक सभाएँ की गयी और कांग्रेस के विरुद्ध विषैले प्रस्ताव पास किये गये। प्रस्तावों में यह कहा गया कि – चूंकि कांग्रेस ने हिन्दू–राज्य की स्थापना की है इसलिए यह सभा कांग्रेस–शासन की समाप्ति पर चैन की सांस लेती है और आज के दिन को अधिनायकवाद, दमन और अन्याय से मुक्ति का दिवस मानती हैं। इस प्रकार जिन्ना की चाल से अंग्रेजी सरकार का हाथ मजबूत हुआ और भारतीय शासन की समस्या केवल राजनैतिक न रही, बल्कि साम्प्रदायिक बन गयी। बाद में द्वि–राष्ट्र सिद्धान्त (Two Nation Theory) के प्रतिपादन और पाकिस्तान की मांग ने समस्या को और भी गम्भीर बना दिया।

अगस्त प्रस्ताव, 1940 –

1940 में चेम्बरलेन के स्थान पर विस्टन चर्चिल ब्रिटेन के प्रधानमंत्री और लार्ड एमरी भारत के सचिव बने। प्रधानमंत्री बनते ही चर्चिल ने घोषणा की कि– ''अटलांटिक चार्टर भारत पर लागू नहीं होती और मैं ब्रिटिश साम्राज्य के विघटन पर अध्यक्षता करने के लिए ब्रिटिश प्रधानमंत्री नही बना हूँ।'' चर्चिल के इस वक्तब्य से कांग्रेस को काफी निराशा हुई और इसने कांग्रेस और सरकार के मध्य की खाई को और अधिक विस्तृत कर दिया। भारत के सांवैधानिक गतिरोध को दूर करने के लिए इसी बीच वायसराय लार्ड लिंलिथगो ने 8 अगस्त 1940 ई0 को एक घोषणा की जिसमें औपनिवेशिक स्वराज्य भारत का लक्ष्य घोषित किया। इसी घोषणा को अगस्त प्रस्ताव कहा जाता है। इस प्रस्ताव में स्पष्ट कर दिया गया कि जबतक भारत के समस्त राजनीतिक दल

तैयार न हो जाय तबतक ब्रिटिश सरकार किसी एक दल के हाथ में शासन सत्ता नही सौंपेगी। चूँकि अगस्त प्रस्ताव में सत्ता हस्तांतरण और पूर्ण स्वराज्य की कोई चर्चा नही की गई थी अतः कांग्रेस ने इसे अस्वीकार कर दिया। एक प्रकार से हम कह सकते है कि इस प्रस्ताव द्वारा अल्पसंख्यकों को निषेधाधिकार प्रदान किया था। हालॉकि मुस्लिम लीग ने भी इस प्रस्ताव को अस्वीकार कर दिया क्योंकि इसमें पाकिस्तान की उसकी मॉग को स्वीकार नही किया गया था। सरकार की इस नीति के कारण साम्प्रदायिक समस्या और उलझन में पड़ गयी और मुस्लिम लीग का रूख पहले से भी कठोर हो गया।

व्यक्तिगत सत्याग्रह –

कांग्रेस की सहयोगपूर्ण नीति के बावजूद ब्रिटिश सरकार ने जब उनकी मॉगों की ओर ध्यान नहीं दिया तो कांग्रेस ने महात्मा गॉधी के नेतृत्व में सीमित रूप से सविनय अवज्ञा चलाने का निश्चय किया। यह भारत का युद्ध में भाग न लेने के लिए विरोध था। 15 अगस्त, 1940 के बम्बई अधिवेशन में कांग्रेस ने यह निश्चय किया कि आन्दोलन व्यक्तिगत होगा, न कि जन–आन्दोलन। इस आन्दोलन का उद्देश्य नैतिक विरोध की भावना को व्यक्त करना था। केवल कुछ इने–गिने व्यक्तियों को ही आन्दोलन करने की अनुमति दी गयी। विनोबा भावे प्रथम सत्याग्रही चुने गये। जब उन्होंने ब्रिटिश सरकार की सहायता न करने के सम्बन्ध में भाषण देना आरम्भ किया तो सरकार ने उन्हें बन्दी बना लिया। इस प्रकार पंडित जवाहर लाल नेहरू दूसरे सत्याग्रही बने। लेकिन आन्दोलन में भाग लेने के पूर्व ही उन्हें इलाहाबाद के समीप बन्दी बना लिया गया और उन्हें चार वर्ष का कठोर कारावास का दण्ड दिया गया। इसके उपरान्त कांग्रेस के अन्य प्रमुख नेताओं ने बारी–बारी से सत्याग्रह किये और सारे देश में व्यक्तिगत सत्याग्रह शुरू हो गया। इस दौरान लगभग 25 हजार भारतीयों को जेल में डाल दिया किया। इस व्यक्तिगत सत्याग्रह पर पंजाब के मुख्यमंत्री सिकन्दर हयात खॉ ने कहा कि – यह ब्रिटेन की पीठ में छुरा घोंपने के समान था। यह दुख की स्थिति में पड़े दुश्मन से लोहा लेने का एक नया तरीका था।

1941 के अन्तिम महीनों में ब्रिटेन सहित मित्र राष्ट्रों की स्थिति बहुत गंभीर हो गयी। 7 दिसम्बर 1941 को अचानक जापान लड़ाई में कूद पड़ा और बिजली की तेजी के साथ जापान ने ब्रिटेन के पूर्वी उपनिवेशों को जीतना आरंभ कर दिया। कुछ ही महीनों में उसने एक–एक करके फिलीपीन, इण्डोनेशिया, मलाया, सिंगापुर, बर्मा आदि को रौंद डाला। उसके लगभग 20 हजार सैनिक पहले ही मारे जा चुके थे और 15 फरवरी 1942 को सिंगापुर में लगभग 85 हजार सैनिकों ने जापानियों के सामने आत्मसमर्पण कर दिया। मित्र राष्ट्रों के लिए यह न केवल एक विकट चुनौती थी अपितु उनके लिए जिन्दगी और मौत की लड़ाई भी थी। ऐसी स्थिति में मित्र राष्ट्रों के लिए भारत का पूर्ण स्वैच्छिक सहयोग नितांत आवश्यक हो गया। इस प्रकार ब्रिटेन ने भारतीयों की सहानुभूति प्राप्त करने के लिए समस्त राजनीतिक बन्दियों को जेल से मुक्त कर दिया। अन्त में जापान की बढ़ती हुई सफलताओं और देश की सुरक्षा को ध्यान में रखते हुये कांग्रेस ने व्यक्तिगत सत्याग्रह आन्दोलन को समाप्त करने का निश्चय किया।

क्रिप्स मिशन, 1942 –

द्वितीय विश्वयुद्ध में जब मित्र राष्ट्रों की स्थिति बिगड़ने लगी तो अमेरिकी राष्ट्रपति रुजवेल्ट, चीन के राष्ट्रपति च्यांक काई शेक तथा ब्रिटेन की लेबर पार्टी के सक्रिय बहुत से नेताओं ने चर्चिल पर दबाव बनाया कि वे भारतीयों के साथ न्यायपूर्ण व्यवहार करे और उनकी स्वशासन की मॉग पर विचार करते हुये युद्ध में भारतवासियों का सहयोग प्राप्त करें। परिणामस्वरूप 11 मार्च 1942 ई0 को ब्रिटिश प्रधानमंत्री चर्चिल ने लोकसभा में घोषणा करते हुये कहा कि युद्ध के समाप्त होने पर यथासंभव शीध्रताशीध्र भारत को पूर्ण औपनिवेशिक स्वराज्य प्रदान किया जायेगा और इसी क्रम में भारतीय सांवैधानिक गतिरोध को दूर करने के लिए युद्वकालीन मंत्रिमण्डल के सदस्य सर स्टैफर्ड़ क्रिप्स के नेतृत्व में एक सदभाव मण्डल को भारत भेजने का निश्चय किया।

क्रिप्स मिशन भेजने के कारण :

ब्रिटिश सरकार द्वारा क्रिप्स मिशन भेजने के निम्नलिखित उल्लेखनीय कारण बताए जो सकते है –

1. युद्ध की विषम स्थिति के कारण इंगलैंड के कुछ उदारवादी व्यक्तियों ने सरकार का ध्यान इस ओर आकर्षित किया कि उसको भारत की राजनैतिक समस्या का समाधान ढूंढने के लिये कोई संतोषजनक कदम उठाना चाहिए। अंग्रेजों की इस मांग का प्रभाव ब्रिटिश सरकार पर पड़ा। ब्रिटिश सरकार ने इसके पूर्व प्रतिज्ञा की थी कि वह भारतीय सांविधानिक संकट का समाधान खोजेगी। लेकिन जब अपने वचन से वह हटने लगे तो संसद् में वाद–विवाद हुआ। लार्ड फैरिंगटन ने ब्रिटिश सरकार पर वचन भंग का आरोप लगाया और सलाह दी कि उसे शीघ्र ही भारत को स्वशासन देने की घोषणा करनी चाहिए। अन्य सदस्य लार्ड कैटो ने भी कहा था कि जबतक ब्रिटिश–सरकार की सांविधानिक समस्या को सुलझा न देती और औपनिवेशिक स्वराज्य देने का अपना वादा पूरा नहीं करती तबतक युद्ध के प्रति भारतीयों की उदासीनता बनी रहेगी।

2. चीन के जनरल च्यांग काई शेक ने ब्रिटिश सरकार पर इस सम्बन्ध में दबाव डाला। फरवरी, 1942 में भारत आकार उन्होंने एक वक्तव्य प्रकाशित किया जिसमें कहा गया था कि मुझे पूरी आशा और दृढ़ विश्वास है कि हमारा मित्र ब्रिटेन भारतीयों की मांग की प्रतीक्षा किये बिना ही उसको शीघ्र से शीघ्र वास्तविक राजनैतिक शक्ति प्रदान करेगा जिससे वे अपनी आत्मिक व भौतिक शक्तियों को और भी अधिक उन्नत कर सकें और इस प्रकार यह अनुभव कर सकें कि केवल आतंकवाद के विरोधी राष्ट्रों की विजय के लिए ही युद्ध में सहयोग नहीं दे रहे हैं, वरन् यह भी अनुभव करें कि उनका यह सहयोग भारतीय स्वतन्त्रता के संघर्ष में भी एक युगान्तकारी घटना है। क्रियात्मक दृष्टि से मेरे विचार में यह सबसे अधिक बुद्धिमत्तापूर्ण नीति होगी जो ब्रिटिश साम्राज्य के यश को चतुर्दिक प्रसारित कर देगी।

3. रूजवेल्ट का दबाव भी ब्रिटिश सरकार के रूप में परिवर्तन का एक मुख्य कारण है। अमेरिका के राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने ब्रिटिश सरकार पर दबाब डाला कि भारत

की समस्या का समाधान होना अत्यन्त ही आवश्यक है और अटलांटिक घोषणा समान रूप से सभी राष्ट्रों पर लागू होनी चाहिए।

4. इसी समय आस्ट्रेलिया के विदेश मंत्री ने भी भारत को पूर्ण प्रदान करने का सुझाव दिया जिससे कि भारत की जनता तन–मन–धन से जापान के विरुद्ध ब्रिटेन की सहायता कर सके।

5. क्रिप्स–मिशन भेजने का एक अन्य कारण युद्धकालीन संकट की स्थिति थी। जापान पूर्वी एशिया में भयंकर आक्रमण कर रहा था। वह फिलिपीन्स, हिन्देशिया, हिन्द–चीन, मलाया और सिंगापुर को जीतते हुए भारत के दरवाजे पर आ धमका था। भारत की सुरक्षा संकटग्रस्त हो गयी थी। पूर्वी एशिया में भारत ही ऐसा देश था जो जापान के वार को रोक सकता था। इस संकटापन्न स्थिति से ब्रिटिश सरकार घबरा उठी और भारत की सांविधानिक समस्या को समाधान करना उसने उचित समझा ।

6. एक ओर ब्रिटिश सरकार भारतीयों के सहयोग के लिए आतुर थी और दूसरी और भारतीय बिना शर्त के सहयोग देने के लिए तैयार नहीं थे। कांग्रेस ने प्रतिज्ञा कर ली थी कि बिना स्वशासन के वह किसी प्रकार की मदद देने के लिए तैयार नहीं है। चर्चिल के वक्तव्यों ने भारतीयों का अंग्रेजों में रहा–सहा विश्वास समाप्त कर दिया। ब्रिटिश सरकार के सामने भारतीयों को किसी प्रकार शान्त करने की अपेक्षा और कोई चारा नहीं था। अतः सांविधानिक गतिरोध को दूर करना नितान्त आवश्यक समझा गया।

इस प्रकार युद्धजनक परिस्थितियों की विवशता में ब्रिटिश सरकार ने सर स्टेफर्ड क्रिप्स के नेतृत्व में एक सदभाव मण्डल भारत भेजा। सर स्टेफर्ड क्रिप्स लेबर पार्टी के वामपंथी सदस्य थे और उन्होने भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन का जोर–शोर से समर्थन किया था। 22 मार्च 1942 ई0 को यह सदभावमण्डल दिल्ली पहुॅचा और आते ही स्टेफर्ड क्रिप्स ने घोषणा की कि भारत में ब्रिटिश नीति का उद्देश्य जितनी जल्द संभव हो सके भारत में स्वशासन की स्थापना करना है।

क्रिप्स मिशन के प्रस्ताव (Proposal of Cripps Mission)–

क्रिप्स–मिशन का चारों तरफ स्वागत हुआ। इंगलैंड और भारत में समान रूप से चर्चिल की इस घोषणा की प्रसंशा की गई। कांग्रेस अध्यक्ष मौलाना अबुल कलाम आजाद ने क्रिप्स का एक मित्र के रूप में स्वागत किया। सर स्टेफर्ड क्रिप्स और उनकी टीम ने वायसराय, उसकी कार्यकारिणी के सदस्यों और भारतीय नेताओं से बातचीत की। अपने प्रस्ताव का प्रारूप भारतीयों के सामने रखते हुये क्रिप्स ने कहा कि भारत के भविष्य के सम्बन्ध में दिये गये वचनों के पूरे हाने के विषय में जो चिन्ता इस देश में प्रगट की गई है उस पर विचार करते हुए सम्राट की सरकार स्पष्ट तथा निश्चित शब्दों में उन उपायों को बता देना आवश्यक समझती है जो भारत में शीघ्रातिशीघ्र स्वायत्त शासन स्थापित करने के लिए वह करना चाहती है। ऐसा करने में उसका उद्देश्य एक नवीन भारतीय संघ को जन्म देना है जो एक स्वाधीनता प्राप्त उपनिवेश होगा और ब्रिटेन तथा साम्राज्य के अन्य स्वाधीनता प्राप्त उपनिवेशों से उसका समबन्ध सम्राट के प्रति समान राजभक्ति द्वारा स्थापित रहेगा। यह भारतीय संघ पद की दृष्टि से पूरी तौर पर

ब्रिटेन तथा अन्य स्वाधीनता प्राप्त उपनिवेशों के समान होगा और आन्तरिक शासन का वैदेशिक समस्याओं के सम्बन्ध में भी वह किसी प्रकार से भी पराधीन न होगा। मूलतः समझने की दृष्टि से क्रिप्स के प्रस्तावों को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है–

1. युद्ध के उपरान्त सम्बन्धी प्रस्ताव और वर्तमान सम्बन्धी प्रस्ताव और
2. वर्तमान सम्बन्धी प्रस्ताव

युद्ध के उपरान्त सम्बन्धी प्रस्ताव –

(क) भारत में स्वशासन की स्थापना के बिना भारतीय संघ की रचना` हेतु कदम उठाये जायेंगे। भारतीय संघ को पूर्ण उपनिवेश पद प्राप्त होगा और उसे इच्छानुसार ब्रिटिश कॉमनवेल्थ से सम्बन्ध–विच्छेद की शक्ति भी प्राप्त होगी।

(ख) युद्ध के उपरान्त एक संविधान–निर्मात्री सभा बुलाई जायेगी। इस सभा का निर्वाचन आनुपातिक प्रतिनिधित्व पद्धति के अनुसार नव–निर्वाचित प्रान्तीय विधान सभाओं के सदस्यों द्वारा किया जायगा। संविधान–सभा के सदस्यों की संख्या निर्वाचन मण्डल की पूर्ण संख्या का 1/10 होगी।

(ग) नये संविधान को ब्रिटिश सरकार निम्नलिखित इन शर्तों के अधीन स्वीकार करेगी कि जो प्रान्त नये संविधान को स्वीकार न करे उन्हें यह अधिकार होगा कि वे अपनी वर्तमान सांविधानिक स्थिति को स्थिर रखें और बाद में यदि चाहें तो संघ में सम्मिलित हो सकते हैं। यदि ऐसे प्रान्त आपस में सहमत हो जायें तो वे अपना पृथक संघ बना सकते हैं जिसे भारतीय संघ के समान पद प्राप्त होगा। संविधान की इस स्वीकृति के उपरान्त भारतीय संविधान–सभा और ब्रिटिश सरकार के बीच एक संधि होगी जिसमें अंग्रेजों से भारतीयों को उत्तरदायित्व हस्तान्तरित करने की व्यवस्था की जायेगी। इस संधि में धार्मिक एवं जातीय अल्पसंख्यकों की रक्षा के लिए ब्रिटिश सरकार पूर्व वादों के अनुसार विशेष रूप से व्यवस्था की जायगी।

वर्तमान सम्बन्धी प्रस्ताव –

(क) ब्रिटिश सरकार अनिवार्य रूप से भारत की प्रतिरक्षा के लिए उत्तरदायी रहेगी। विश्वव्यापी युद्ध के प्रयत्नों के अंश के रूप में भारत की प्रतिरक्षा का नियन्त्रण और निर्देशन करेगी। ब्रिटिश सरकार स्वयं ही भारत के सैन्य, नैतिक और भौतिक साधनों को संगठित करेगी।

(ख) प्रतिरक्षा की व्यवस्था भारतीयों के सहयोग से की जायेगी।

(ग) ब्रिटिश सरकार भारत के प्रमुख वर्गों को अपने देश को राष्ट्रमण्डल और मित्रराष्ट्रों को इन परिषदों में तुरन्त और प्रभावशाली भाग दिलाने के लिए आमंत्रित करेगी।

(घ) ये प्रस्ताव आधारभूत सिद्धान्तों में अपरिवर्तनशील बतलाया गया जिन्हे पूर्ण रूप से स्वीकार अथवा अस्वीकार किया जा सकता था।

कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि सर स्टेफर्ड क्रिप्स अपने साथ जिस घोषणापत्र का मशविदा लेकर आये थे, वह काफी निराशाजनक था। इसमें युद्ध समाप्त होने पर भारत को डोमिनियन राज्य का दर्जा देने और एक ऐसी संविधान निर्मात्री

परिषद बनाने का वादा था जिसके कुछ सदस्य प्रान्तीय विधायिकाओं द्वारा निर्वाचित होंगे और कुछ देशी रियासतों के शासकों द्वारा नामांकित होंगे। पाकिस्तान की मॉग के लिए इस व्यवस्था के तहत गुंजाइश बनाई गई कि यदि किसी प्रान्त को नया संविधान स्वीकार्य नहीं होता है तो वह अपने भविष्य के लिए ब्रिटेन से अलग समझौता कर सकेगा। लेकिन यह सब युद्ध के बाद होना था। फिलहाल तो भारत की प्रतिरक्षा पर पूरा–पूरा नियंत्रण ब्रिटेन का ही रहना था। एस0 गोपाल ने इस घोषणापत्र को मूलतः अनुरक्षणवादी, प्रतिक्रियाशील और सीमित प्रस्ताव की संज्ञा दी। नेहरू ने भी बाद में लिखा कि जब मैने पहली बार इन प्रस्तावों को पढ़ा, तो बुरी तरह मायूस हुआ।

विभिन्न दलों की प्रतिक्रिया –

विभिन्न भारतीय राजनीतिक दलों और नेताओं को क्रिप्स प्रस्तावों के प्रति भिन्न–भिन्न प्रतिक्रिया हुई। देश के सभी वर्गों और दलों ने अलग–अलग कारणों से क्रिप्स प्रस्तावों को अस्वीकार कर दिया। शुरू में विभिन्न कांग्रेसी नेताओं ने क्रिप्स–प्रस्तावों को लेकर भिन्न–भिन्न प्रतिक्रिया व्यक्त की। गॉधीजी इसके विरुद्ध थे और उनके विरोध का मुख्य कारण उनका युद्ध विरोधी रुख था लेकिन पं० नेहरू ने प्रारंभ में इसका स्वागत किया लेकिन बाद में वे भी मायूस हुये। मौलाना आजाद का कहना था कि चूंकि प्रस्ताव भारतीय स्वतन्त्रता

को स्वीकार नहीं करता है इसलिए उसे अस्वीकार कर देना ठीक है। 11 अप्रैल 1942 को कांग्रेस कार्यसमिति ने अनेक कारणों से क्रिप्स–प्रस्तावों को अस्वीकार किया था। कांग्रेस का मानना था कि क्रिप्स प्रस्तावों में ऐसी कई बातें है जिससे भारत की राष्ट्रीय एकता को धक्का पहुॅचता था। प्रान्तों को भारतीय संध से अलग रहने या अलग संघ निर्माण करने का अधिकार दिया गया था। इसलिए उसने कहा कि क्रिप्स प्रस्ताव भारत में पृथकता को बढ़ावा देते हैं और देश में पारस्परिक मतभेद को जन्म देते हैं अतः यह प्रस्ताव प्रतिक्रियावादी और सम्प्रदायवाद को उभारने वाला है।

प्रस्तावित संविधान सभा का गठन भी अप्रजातान्त्रिक था क्योंकि इसमें देशी राज्यों के प्रतिनिधियों को स्थान दिया गया था जिनका नामांकन देशी नरेशों को करना था। इसके विषय में यह सन्देह ठीक ही था कि वे प्रतिक्रियावादी गुट के रूप में संविधान–सभा में कार्य करेंगे और संविधान को ब्रिटिश सरकार के इशारे के अनुरूप निर्मित करने प्रयास करेंगे। अतः नव–निर्मित संविधान सभा के हाथों में भारतीय जनता की स्वतन्त्रता सुरक्षित नहीं थी। कांग्रेस क्रिप्स–प्रस्तावों को मान ली होती, लेकिन वर्तमान सम्बन्धी प्रस्तावों के पूर्णतया अमान्य होने से सभी प्रस्तावों को अमान्य कर दिया। कांग्रेस ने यह मांग की थी कि प्रतिरक्षा पर भारत का पूर्ण एवं प्रभावकारी नियंत्रण रहना चाहिए। लेकिन इसके प्रस्ताव में प्रतिरक्षा पर ब्रिटिश सरकार का नियंत्रण था।

कांग्रेस की भॉति भारत के अन्य राजनीतिक दलों ने भी क्रिप्स के प्रस्तावों को ठुकरा दिया। हिन्दू–महासभा का कहना था कि इन प्रस्तावों द्वारा ब्रिटिश सरकार पीछे के दरवाजे से पाकिस्तान की स्थापना करना चाहती है अतः उसने प्रस्ताव को पूर्णतया अस्वीकार कर दिया। सिख समुदाय भी इसी आधार पर प्रस्ताव के विरुद्ध था। उसके अनुसार पाकिस्तान का निर्माण सिक्खों के हित के विरुद्ध था। अनुसूचित जातियों को

यह भय था कि इन प्रस्तावों की मान्यता से कुछ खास हिन्दू जातियों का शासन स्थापित हो जायगा। मुस्लिम लीग ने भी इन प्रस्तावों को ठुकरा दिया। उसने विभाजन प्रस्ताव पर सन्तोष प्रकट किया। लेकिन उसने इस बात पर जोर दिया कि कौन सा प्रान्त भारत में रहेगा और कौन–सा पाकिस्तान में इस बात का निर्णय करने के लिए जनसंग्रह पर केवल मुसलमान ही मत दें।

क्रिप्स मिशन की आलोचना और मूल्यांकन –

स्पष्ट है कि क्रिप्स मिशन से कोई खुश नहीं हुआ। पूर्ण स्वाधीनता के स्थान पर डोमिनियन रात्य के दर्जे, संविधान सभा में रियासतों के लोगों की बजाय शासकों द्वारा नामांकित व्यक्तियों की मौजूदगी तथा भारत के संभावित विभाजन की व्यवस्थाओं पर कांग्रेस को कड़ी आपत्ति थी। अतः कांग्रेस और क्रिप्स और कांग्रेस नेताओं के बीच बातचीत का क्रम टूट गया। उधर ब्रिटिश सरकार को भी यह कतई मंजूर नहीं था कि वास्तविक सत्ता भारतवासियों को दे दी जाय और देश की प्रतिरक्षा की जिम्मेदारी में उसका भी हिस्सा हो। बातचीत का क्रम टूटने का एक कारण यह भी था कि क्रिप्स को लचीला होने की सुविधा नहीं थी, उन्हे जो प्रस्ताव देकर भेजा गया था, उसका अतिक्रमण करने का उन्हे कोई अधिकार नही था। इसके अतिरिक्त प्रधानमंत्री चर्चिल, विदेश मंत्री एमरी, वायसराय लिंलिथगों और कमाण्डर–इन–चीफ बेवेल चाहते भी नहीं थे कि क्रिप्स मिशन सफल हो। एक प्रकार से ब्रिटिश सरकार भी भारतीयों को सत्ता हस्तांतरित करने के लिए बहुत अधिक उत्सुक नहीं थे।

डा० पट्टाभिसीतारमैया के अनुसार – 'क्रिप्स–प्रस्तावों में विभिन्न इच्छुक रुचियों को संतुष्ट करने के विभिन्न पदार्थ थे, जैसे कांग्रेस के लिए औपनिवेश स्वराज्य और संविधान–सभा, मुस्लिम लीग के लिए किसी भी प्रान्त को भारत से अलग होने का अधिकार और देशी नरेशों के लिए संघ में शामिल होना या न होने का स्वेच्छाधिकार।" फलतः यह प्रस्ताव किसी को संतुष्ट नहीं कर सका। महात्मा गॉधी ने क्रिप्स से कहा था कि– "यदि यही आपका प्रस्ताव है तो मेरी सलाह है कि दूसरे वायुयान से घर लौट जायें।" डि क्विन्सी ने कहा था कि – "चालाक क्रिप्स महज धोखेबाजी, छल–कपट, विश्वासघात और दोहरी चालों से काम ले रहे थे और उनको इस बात का जरा भी पश्चाताप नहीं था। डा० पट्टाभिसीतारमैया के कथानुसार "क्रिप्स–प्रस्ताव उस बच्चे की चिकित्सा का असफल प्रयत्न था, जो अभी पैदा न हुआ था।"

क्रिप्स मिशन की योजना बड़े ही नाटकीय ढंग से समाप्त हुई। सरकार तथा अन्य दलों से समझौता वार्ता चल रही थी कि प्रस्ताव को वापस ले लिया गया और सर स्टेफर्ड क्रिप्स अपनी टीम के साथ मध्य अप्रैल 1942 में इंग्लैण्ड लौट गये। भारत का सांविधानिक गतिरोध ज्यों–का–त्यों बना रहा। क्रिप्स मिशन से भारतीयों में एक आशा की लहर का संचार हुआ था जो एकाएक क्षोभ और निराशा में परिवर्तित हो गया। महात्मा गॉधी ने जनता की इस निराशा की भावना को दूर करने के लिए भारत छोडो आन्दोलन की योजना बनाई।

राजगोपालाचारी योजना –

भारत छोडो आन्दोलन के दौरान जेल से छूटने पर गॉधीजी ने राजनीतिक गतिरोध को दूर करने के दृष्टिकोण से सरकार से समझौता वार्ता चलाना शुरू किया। उन्होंने

वायसराय के नाम से एक पत्र लिखा जिसमें कहा गया था कि कांग्रेस का भविष्य में सत्याग्रह आरम्भ करने का इरादा बिलकुल नहीं है बशर्ते कि राष्ट्रीय सरकार की स्थापना की दिशा में कदम उठाया जाय। लेकिन ब्रिटिश सरकार ने यह शर्त लगायी कि कांग्रेस पहले भारत छोड़ो आन्दोलन को वापस ले और आन्दोलन की नीति का परित्याग करे। अतः संवैधानिक गतिरोध पूर्ववत् बना रहा। इस गतिरोध को दूर करने के उद्देश्य से मार्च 1944 में चक्रवर्ती राजगोपालाचारी ने एक योजना तैयार की जिसे राजगोपालाचारी योजना के नाम से जाना जाता है। इस योजना में मुस्लिम लीग से साम्प्रदायिक समस्या का निवारण करने के उद्देश्य से एक समझौता करने का प्रयास किया गया था। इस योजना की मुख्य बातें निम्नलिखित थीं –

1. मुस्लिम लीग स्वतन्त्रता की भारतीय मांग को स्वीकार करेगी और कांग्रेस के साथ संक्राति काल (transitional period) के लिए अस्थायी अन्तरिम सरकार के निर्माण में सहयोग करेगी।
2. युद्ध की समाप्ति के पश्चात् भारत के उत्तर–पश्चिम और उत्तर–पूर्व में उन जिलों को निर्दिष्ट करने के लिए, जिनमें मुसलमानों का स्पष्ट बहुमत है, एक कमीशन की नियुक्ति की जायगी।
3. जनमत–संग्रह से पूर्व सभी राजनीतिक दलों को अपने मत प्रचार करने का एक संयुक्त समझौता होगा।
4. जनसंख्या का आदान–प्रदान उसकी स्वेच्छा से होगा।
5. ये शर्तें तभी लागू होंगी जब ब्रिटेन द्वारा सत्ता का पूर्ण हस्तान्तरण कर दिया जाय।
6. गॉधीजी और जिन्ना शर्तो को स्वीकार करेंगे और कांग्रेस तथा मुस्लिम लीग की स्वीकृति लेने का प्रयत्न करेंगे।

इस प्रस्तावित योजना के आधार पर महात्मा गॉधी ने जिन्ना से बातचीत शुरू की और वे इस योजना के साथ जिन्ना से मिले किन्तु जिन्ना ने इसे स्वीकार नहीं किया। जिन्ना की मांग थी कि पाकिस्तान में उत्तर–पश्चिम सीमा प्रान्त, सिंध, बलुचिस्तान के साथ–साथ समस्त पंजाब, समस्त बंगाल और असम के प्रान्त सम्मिलित हों। महात्मा गॉधी ने जिन्ना की इस मांग को स्वीकार नहीं किया। जिन्ना प्रस्तावित जनमत–संग्रह में केवल मुसलमानों को भाग लेने देना चाहते थे और वह सुरक्षा, व्यापार तथा यातायात के संयुक्त नियन्त्रण के विरुद्ध थे। जिन्ना के शब्दों में – राजाजी की योजना के अनुसार एक "अंगहीन और दीमक लगा हुआ पाकिस्तान' होगा। अतः गांधी–जिन्ना वार्ता विफल हो गयी और इसी के साथ यह योजना भी असफल और समाप्त हो गयी।

वैवेल–योजना और शिमला सम्मेलन –

1945 ई० के आरम्भ में लार्ड वैवेल भारत के गवर्नर जनरल नियुक्त हुए। इसके पूर्व वे भारतीय सेना के सर्वोच्च सेनापति थे। भारतीय समस्या के प्रति उनका दृष्टिकोण उदार था। भारत आते ही उन्होंने घोषणा कि – "मैं अपने थैले में बहुत–सी चीजें ला रहा हूं।" भारत आते ही उन्होंने सांविधानिक गतिरोध दूर करने के लिए प्रयत्न करना आरम्भ

कर दिया। प्रधानमंत्री चर्चिल ने भारतीय स्थिति की पूर्ण जानकारी तथा वायसराय से परामर्श करने के लिए लार्ड वैवेल को लन्दन बुलाया। ब्रिटिश सरकार से परामर्श कर लार्ड वैवेल भारत लौटे और 14 जून 1945 ई0 को उन्होंने रेडियो भाषण से अपनी योजना प्रकाशित की, जो वैवेल–योजना के नाम से विख्यात है। इस योजना की मुख्य बातें निम्नलिखित थीं–

1. सरकार भारत के राजनीतिक गतिरोध को दूर कर उसे स्वशासन के लक्ष्य की दिशा में अग्रसर करना चाहती है।
2. गवर्नर–जनरल की कार्यकारिणी परिषद् में सम्मिलित होने के लिए सब राजनीतिक दलों के नेताओं को निमन्त्रित किया जाता है। स्वयं गवर्नर जनरल और प्रधान सेनापति के अतिरिक्त इस परिषद् के अन्य समस्त सदस्य भारतीय राजनीतिक दलों के नेता ही होंगे।
3. सरकार का विदेशी विभाग भी एक भारतीय सदस्य के हाथ में होगा।
4. कार्यकारिणी परिषद् में सवर्ण हिन्दुओं और मुसलमानों की संख्या बराबर होगी।
5. भारत सरकार अधिनियम, 1935 द्वारा प्रदत्त गवर्नर–जनरल के विशेषाधिकार का अकारण प्रयोग नहीं किया जायगा।
6. भारत में एक ब्रिटिश हाई कमिश्नर की अलग से नियुक्ति की जायगी।
7. युद्ध की समाप्ति पर भारतीय लोग अपने संविधान का स्वयं निर्माण करेंगे।
8. शिमला में शीघ्र ही भारत के विभिन्न राजनीतिक दलों के नेताओं का सम्मेलन बुलाया जायगा।

वेवेल योजना में भारतीय स्वतन्त्रता की समस्या का कोई समाधान नहीं किया गया था। फिर भी भारत मैं सांवैधानिक गतिरोध को दूर करने की दिशा में यह एक सराहनीय कदम था। इसलिए वैवेल प्रस्तावों का देश के राजनीतिक दल ने स्वागत किया। कांग्रेस बहुत कुछ इससे सहमत थी लेकिन सवर्ण हिन्दू और अन्य हिन्दू के विभाजन के कारण उसने विरोध किया। फिर भी प्रमुख दल के नेताओं ने शिमला–सम्मेलन में भाग लेने का निश्चय किया।

वैवेल–योजना के अन्तर्गत सभी दलों और वर्गों ने शिमला–सम्मेलन में शामिल होने का निमन्त्रण स्वीकार किया था। सम्मेलन 25 जून 1945 को आरम्भ हुआ जिसमें 22 प्रतिनिधि सम्मिलित हुए। इसमें कांग्रेस और मुस्लिम लीग के अध्यक्ष, प्रान्तों के प्रधानमंत्री, गवर्नर द्वारा शासित प्रांतों के भूतपूर्व प्रधानमन्त्री और अन्य नेता आमंत्रित किये गये थे। सम्मेलन आशापूर्ण वातावरण में प्रारम्भ हुआ लेकिन वायसराय की कार्यकारिणी परिषद् के निर्माण पर कोई समझौता नहीं हो सका। कांग्रेस की और से इसमें मुसलमानों को प्रतिनिधित्व दिया गया किन्तु मुस्लिम लीग का कहना था कि मुसलमानों का प्रतिनिधित्व केवल वह करती है, अतः मुस्लिम सदस्यों का नामकरण केवल वही करेगी। कांग्रेस ने लीग के इस तर्क को स्वीकार नहीं किया और जिन्ना की हठधर्मी के कारण शिमला–सम्मेलन दो दिन कार्य करने के उपरान्त ही स्थगित कर

दिया गया। इस प्रकार यह सम्मेलन असफल रहा और इसकी असफलता का मुख्य कारण राजनीतिक समस्या नही वरन् साम्प्रदायिक समस्या थी।

सच तो यह है कि साम्राज्यवादी ब्रिटिश प्रधानमंत्री चर्चिल भारतीयों को स्वतंत्रता देने के पक्ष में ही नही थे। उन्होने केवल मित्रराष्ट्रों को सन्तुष्ट करने के लिए तथा निर्वाचन में विजय प्राप्त करने के लिए वैवेल–योजना को प्रस्तुत करवाया था। शिमला–सम्मलेन की विफलता का उत्तरदायित्व मुख्यतः मुस्लिम लीग पर था। साम्प्रदायिक समस्या का समाधान नहीं हो सकने के कारण यह असफल रहा। इससे भारतीय जनता में नयी आशा का संचार हुआ था, जो बहुत जल्द निराशा में बदल गयी। मौलाना अबुल कलाम आजाद जिन्होने शिमला सम्मेलन में कांग्रेस का प्रतिनिधित्व किया था, का विचार है कि –शिमला सम्मेलन की विफलता भारत के राजनीतिक इतिहास में एक जलविभाजक की सूचक है। उन्ही के शब्दों में – "शिमला–सम्मेलन भारतीय राजनीतिक इतिहास में एक महान् असफलता है। यह पहला अवसर था जबकि समझौता वार्ता भारत और ब्रिटेन के बीच राजनीतिक प्रश्न पर असफल नहीं हुआ बल्कि साम्प्रदायिक समस्या पर भारत के विभिन्न दलों के बीच मतभेद के कारण हुआ था। डा० पट्टाभिसीतारमैया ने शिमला–सम्मेलन की तुलना क्रिप्स मिशन की असफलता से करते हुए लिखा है कि– "तीन वर्ष पूर्व अप्रैल 1942 में कांग्रेस ने क्रिप्स मिशन को विफल बनाया था, अगर स्वयं क्रिप्स को इसके लिए उत्तरदायी न ठहराया जाय। शिमला में मुस्लिम लीग ने 'वैवेल योजना' को विफल बनाया था यद्यपि लार्ड वैवेल ने सारा दोष अपने सिर ले लिया था।

कैबिनेट मिशन योजना –

1945 में द्वितीय विश्वयुद्ध के समाप्ति के बाद भारतीय राजनीति में एक नये युग का सूत्रपात हुआ। इंग्लैण्ड में चर्चिल के स्थान पर एटली प्रधानमंत्री बने और उनकी लेबर पार्टी ने चुनाव से पूर्व अपनी सरकार बनने पर भारत को औपनिवेशिक स्वराज्य देने का वादा किया था। वस्तुतः युद्धकाल में कुछ ऐसी घटनाएँ घटी थी जिससे ब्रिटिश सरकार जल्द से जल्द भारतीय स्वतंत्रता को स्वीकार करने और इसके लिए आवश्यक कदम उठाने के लिए विवश हो गयी। एटली की सरकार ने कार्यभार सँभालते ही भारतमंत्री लार्ड पैथिक लारेन्स के नेतृत्व में भारत की स्वतंत्रता पर विचार–विमर्श करने के लिए एक कैबिनेट मिशन भेजने की घोषणा की। इस प्रकार मार्च 1947 में भारतीयों को सत्ता हस्तानांतरण की शर्तों पर बातचीत करने के लिए ब्रिटिश सरकार ने कैबिनेट मन्त्रियों लार्ड पैथिक लारेन्स, सर स्टेफर्ड क्रिप्स तथा ए0 बी0 एलेक्जेण्डर का एक समूह भारत भेजा जिसे भारतीय सांवैधानिक विकास के इतिहास में कैबिनेट मिशन के नाम से जाना जाता है।

13 मार्च 1946 ई0 को कैबिनेट मिशन करॉची पहुँचा और दूसरे दिन दिल्ली आया। भारत पहुँचने के साथ ही मिशन के सदस्यों ने यह स्पष्ट कर दिया कि वह भावी भारत के सन्दर्भ में विरोधी दावों का निपटारा करने नही आया है वरन् इसका उद्देश्य सत्ता हस्तांतरण की समस्या के हल की संभावनाओं का पता लगाना है। मिशन के आगमन पर लार्ड पैथिक लारेन्स ने कहा कि – ''भारत उज्जवल भविष्य के द्वार पर खड़ा है।'' लारेन्स ने आगे कहा कि– ''ब्रिटिश सरकार उन वायदों और वचनों को पूरा करना चाहती है जो उन्होने भारत को दिये थे और हम विश्वास दिलाते है कि अपनी वार्ता के बीच हम ऐसी बाधा और शर्त उपस्थित नही करेंगे जो भारत के स्वाधीन अस्तित्व के

मार्ग में बाधा उत्पन्न करे। अभी स्वाधीनता की ओर बढने का मार्ग निष्कंटक नही है किन्तु स्वाधिनता का जो दृश्य हमको दृष्टिगोचर हो रहा है उससे हमको सहयोग के पथ पर अग्रसर होने के लिए प्रेरणा प्राप्त होगी।''

इस प्रकार ने भारत आते ही अपना काम प्रारंभ किया और उसने 472 भारतीय नेताओं से बात–चीत की। उसने विभिन्न प्रकार के विचारो वाले प्रतिनिधियों से भी वार्ता किया, विशेषकर कांग्रेस और मुस्लिम लीग के प्रतिनिधियों के विचारों पर खास ध्यान दिया गया। अन्त में 5 मई 1946 ई0 को शिमला में एक त्रि–दलीय सम्मेलन हुआ जिसमें कांग्रेस, मुस्लिम लीग और मिशन ने भाग लिया। कांग्रेस की ओर से मौलाना आजाद, पण्डित जवाहर लाल नेहरू और सरदार पटेल तथा मुस्लिम लीग की ओर से मु0 अली जिन्ना, इस्माइल खॉ और लियाकत अली खॉ ने वार्तालाप में भाग लिया। यह सम्मेलन 11 मई 1946 तक चलता रहा लेकिन इन तमाम विचार विमर्श के बाद भी अंतरिम सरकार, संविधान सभा के गठन जैसे महत्वपूर्ण विषयों पर कैबिनेट मिशन किसी सर्वमान्य निष्कर्ष पर नही पहुॅच सका। इसका प्रमुख कारण यह था कि मुस्लिम लीग पृथक पाकिस्तान चाहता था जबकि कांग्रेस किसी भी कीमत पर इससे सहमत नही थी। कैबिनेट मिशन के सामने सबसे बड़ी कठिनाई यह थी कि कांग्रेस और मुस्लिम लीग में समझौता होना असंभव था। मुस्लिम लीग पाकिस्तान प्राप्त किये बिना समझौता करने को तैयार नही थी जबकि कांग्रेस पाकिस्तान की मॉग को पूर्णतया अन्यायसंगत और अस्वीकार्य समझती थी। अपनी मॉग को मनवाने के लिए मुस्लिम लीग ने प्रत्यक्ष कार्यवाही की घोषणा की और मुस्लिम लीग के नेताओं ने अपने भाषणों में विषवमन किया। अन्ततः सर्वमान्य फार्मूला के अभाव में कैबिनेट मिशन ने अपनी ओर से एक योजना प्रस्तुत की जिसका प्रकाशन 16 मई1946 ई0 को हुआ। इसे ही कैबिनेट मिशन योजना के नाम से जाना जाता है।

कैबिनेट मिशन योजना की मुख्य बातें –

कैबिनेट मिशन द्वारा प्रस्तुत योजना की मुख्य बातें निम्नलिखित थी –

1. भारत में एक संघीय राज्य की स्थापना की जायेगी। ब्रिटिश भारत के प्रान्त और देशी रियासतें इस संघ की घटक ईकाईयॉ होगी। इस संघीय राज्य में केन्द्र के पास मात्र प्रतिरक्षा, वैदेशिक मामले और परिवहन जैसे विषय रहेंगे। शेष सभी विषय घटक ईकाईयों के अधिकार क्षेत्र में ही रहेंगे।
2. संघीय व्यवस्थापिका एवं कार्यपालिका में राज्यों एवं देशी रियासतों के भी प्रतिनिधि होंगे। संघ सूची में उल्लिखित विषयों के अतिरिक्त शेष सभी विषयों पर राज्यों को अधिकार प्राप्त होगा।
3. भारत के संविधान के निर्माण हेतु एक संविधान सभा का गठन किया जायेगा जिसमें 389 सदस्य होंगे।
4. निर्वाचकों को तीन कोटियों में श्रेणीबद्ध किया जायेगा – सामान्य, मुस्लिम तथा सिक्ख (केवल पंजाब में)।

5. संविधान सभा में प्रान्तों का प्रतिनिधित्व उनकी जनसंख्या के आधार पर निर्धारित किया जायेगा। सामान्यतया 10 लाख की जनसंख्या के अनुपात में एक प्रतिनिधि की बात स्वीकार की गई।

6. देशी रियासतों के प्रतिनिधियों की निर्वाचन पद्धति के बारे में यह कहा गया कि देशी रियासतों के प्रतिनिधिकर्त्ताओं की समिति संविधान सभा के अन्य सदस्यों से विचार–विमर्श करके देशी रियासतों के प्रतिनिधियों का चयन तरीका निर्धारित करेगी।

7. मिशन ने यह आशा प्रकट की कि भारत और ब्रिटेन एक सन्धि पर हस्ताक्षर करेंगे। यह आशा व्यक्त की गई कि ब्रिटेन राष्ट्रमण्डल का सदस्य बना रहेगा यद्यपि उसे अपनी इच्छानुसार सदस्यता छोड़ने का अधिकार होगा।

8. योजना में यह भी कहा गया कि संविधान निर्माण का कार्य पूरा होने तक की अवधि के लिए एक अंतरिम सरकार का गठन किया जायेगा। इसमें कुल 14 सदस्य होंगे जिनमें छः कांग्रेस से, पॉच मुस्लिम लीग से, एक भारतीय ईसाई, एक सिक्ख और एक पारसी होगा।

9. देशी राज्यों के सम्बन्ध में कहा गया कि संविधान निर्माण के उपरान्त ब्रिटिश सरकार सार्वभौमिक प्रभुसत्ता का अधिकार उन्ही रियासतों को हस्तांतरित कर देगी। देशी राज्यों को यह अधिकार होगा कि वे भारतीय सरकार के साथ राजनीतिक सम्बन्ध स्थापित करें या स्वतंत्र रहे।

क्रियान्वयन और प्रतिक्रियाएँ –

कैबिनेट मिशन योजन पर विभिन्न लोगों और दलों की मिश्रित प्रतिक्रिया हुई। आलोचकों ने कई दृष्टियों से कैबिनेट मिशन योजना की आलोचना की है। सर्वप्रथम इसमें मुस्लिम अल्पसंख्यकों के हितों की रक्षा तो की गई थी परन्तु पंजाबी सिक्खों के हितों की नही। प्रान्तों के गुटों के बीच में भी मतभेद थे। संविधान बनाने की श्रृंखला भी विचित्र थी। पहले गुट और प्रान्तों का संविधान बनाओ फिर केन्द्र का और इस प्रकार गाड़ी घोड़े के आगे जोत दी गई थी। कुछ आलोचकों की दृष्टि में यह एक कमजोर केन्द्र की स्थापना करता था और प्रान्तों की स्वायत्तता को भी इस योजना में धक्का पहुॅचा था। प्रान्तों को ग्रुपों में बॉट दिया गया था और इसके फलस्वरूप संविधान सभा में हिन्दू और मुसलमानों के अलग–अलग ग्रुप बन सकते थे। इस विभाजन से राष्ट्रीय एकता महत्वहीन हो गयी थी क्योंकि प्रान्तों के समुदाय को संघ से सम्बन्ध विच्छेद करने का तथा निजी संविधान बनाने का अधिकार दिया गया था।

ग्रुप–फार्मूला के बारे में योजना की भाषा भी अस्पष्ट थी। यह कहीं नही बतलाया गया था कि प्रान्तों का वर्गीकरण ऐच्छिक था या अनिवार्य, यही कारण था कि इस मुद्देपर कांग्रेस और मुस्लिम लीग में वाद–विवाद शुरू हो गया। कांग्रेस के अनुसार ग्रुप में शामिल होना ऐच्छिक था जबकि मुस्लिम लीग इसे अनिवार्य मानती थी। संविधान निर्माण के क्रम का आधार भी अतार्किक था। देशी राज्यों के सम्बन्ध में जो व्यवस्था की गयी थी वह देश–विरोधी तथा दुष्टतापूर्ण थी। अंतरिम सरकार की अवधि के बारे में भी योजना मौन थी। यह भय था कि सत्ता के हस्तांतरण में अनिश्चित काल तक देरी

लगा दी जाती। अन्त में सबसे बडी बात अंतरिम सरकार के संगठन में मुस्लिम लीग को बहुत अधिक प्रधानता दी गयी थी। मुस्लिम लीग को पॉच स्थान दिये गये थे जबकि कांग्रेस को केवल छः। कही न कही यह बहुसंख्यक हिन्दुओं के साथ अन्याय था। इसके अतिरिक्त कांग्रेस अपने कोटा में किसी मुसलमान को स्थान नही दे सकती थी। शायद यही कारण है कि प्रारंभिक चरण में कांग्रेस ने अंतरिम सरकार में शामिल होने से इनकार कर दिया था।

इन आलोचनाओं के वाबजूद कैबिनेट मिशन योजना भारतीय स्वतंत्रता के प्रश्न का हल ढूढ़ने की दिशा में एक सार्थक प्रयास था। इसमें भारत की एकता को सुरक्षित रखते हुये पृथक पाकिस्तान की मॉग को नामंजूर कर दिया गया था। यद्यपि मुसलमानों को प्रसन्न करने के लिए इसमें कई अन्य बातों को सम्मिलित किया गया था और इसी उद्देश्य से प्रान्तों को ग्रुपों में बॉटा गया था और उसको पर्याप्त शक्ति प्रदान की गयी। इसके द्वारा प्रस्तुत योजना पूर्णतया लोकतांत्रिक थी। इसका चुनाव आनुपातिक प्रतिनिधित्व जनसंख्या के आधार पर होना निश्चित हुआ था। संविधान सभा में केवल भारतीयों को ही स्थान दिया गया था, ब्रिटिश सरकार और युरोपीय प्रतिनिधियों को नही। इससे देशी रियासतों को भी समुचित महत्व दिया गया और अंतरिम सरकार को पूर्ण स्वायत्तता प्रदान की गई। इसमें देशी राज्यों की जनता को भी उचित मान्यता प्रदान की गयी। कैबिनेट मिशन योजना क्षरा एक स्पायत्त शासकीय अंतरिम सरकार की स्थापना की व्यवस्था की गयी थी। सरकार के सभी विभागों को भारतीयों के हाथ में रखा गया था और यह उत्तरदायी सरकार की स्थापना की दिशा में एक महत्वपूर्ण कदम था। इसके अतिरिक्त संविधान सभा को सम्प्रभु मानते हुये भारत को राष्ट्रमण्डल की सदस्यता छोडने का पूर्ण अधिकार दिया गया।

कैबिनेट मिशन द्वारा प्रस्तुत योजना का मूल्यांकन करते समय यह आवश्यक है कि उन परिस्थितियों को ध्यान में रखा जाय जिसके अन्तर्गत यह योजना रखी गयी। जब मुस्लिम लीग की पाकिस्तान की मॉग और कांग्रेस के अविभाजित भारत के आग्रह के बीच समझौते के सारे प्रयास विफल हो गये तब मिशन ने यह योजना रखी थी। इस प्रकार इस योजना में दोनों पराकाष्ठाओं के बीच समझौते का मार्ग अपनाया गया था। अतः स्वाभाविक था कि विभिन्न पक्षों के दृष्टिकोणों के अनुरूप इसमें बहुत सी कमियॉ रह गयी हो लेकिन जैसा कि महात्मा गॉधी ने कहा कि – ''यह सर्वोत्तम दस्तावेज है जिसे ब्रिटिश सरकार इन परिस्थितियों में तैयार कर सकती थी।''

अंतरिम सरकार का गठन –

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने अंतरिम सरकार के विचार को निरस्त कर दिया परन्तु इसने संविधान सभा के चुनावो में भाग लेने का निर्णय किया। मुस्लिम लीग अंतरिम सरकार में सहभागी बनने की इच्छुक थी परन्तु वायसराय में कांग्रेस की असहमति की स्थिति में अंतरिम सरकार के गठन से इनकार कर दिया। ऐसी स्थिति में मुस्लिम लीग ने पूरी कैबिनेट मिशन योजना को निरस्त कर दिया।

पर कुछ ही समय के पश्चात एकाएक कांग्रेस में अपना निर्णय बदल दिया और 14 जून 1946 ई0 को अंतरिम सरकार में सम्मिलित होने की अपनी स्वीकृति प्रदान कर दी। मुस्लिम लीग में अवरोधकारी नीति अपनाते हुये संविधान सभा के चुनाव में भाग

लेने से इनकार कर दिया। जब 3 जून 1947 के माउण्टवेटन योजना के तहत यह निर्णय हो गया कि देश का विभाजन होना है तो इसके पश्चात मुस्लिम लीग के असहयोग का कोई महत्व नही रह गया। 6 जून 1946 ई0 को मुस्लिम लीग ने भी कैबिनेट मिशन योजना को अपनी स्वीकृति दे दी। 2 सितम्बर 1946 ई0 को जवाहर लाल नेहरू के नेतृत्व में एक अंतरिम राष्ट्रीय सरकार का गठन किया गया जिसके अन्य सदस्य सरदार पटेल, डा0 राजेन्द्र प्रसाद, अरुणा आसफ अली, सी0 राजगोपालाचारी, शरद चन्द बोस, डा0 जान मथाइ, सरदार बलदेव सिंह, सर शफात अहमद, जगजीवन राम, सैयद अली जहिर और सी0 एच0 भाभा थे।

मुस्लिम लीग की प्रत्यक्ष कार्यवाही –

अन्तरिम सरकार में सम्मिलित नहीं होने के निश्चय करने के बाद मुस्लिम लीग ने 27 जुलाई, 1946 को सीधी कार्यवाही के सम्बन्ध में एक महत्वपूर्ण प्रस्ताव पास किया। इसमें कहा गया कि वायसराय के प्रस्तावों को अस्वीकृत करने का एक ओर कांग्रेस की हठधर्मी है और दूसरी ओर मुसलमानों के प्रति ब्रिटिश सरकार का विश्वासघात। मुस्लिम लीग ने समझौते तथा वैज्ञानिक उपाय द्वारा भारतीय समस्या को सुलझाने की चेष्टा की, लेकिन कांग्रेस और अंग्रेजी सरकार के विरोधी रुख के कारण उसे सफलता नहीं मिली। उसे तबतक सन्तोष नहीं होगा जबतक कि पूर्ण सार्वभौम सत्ता सम्पन्न पाकिस्तान का निर्माण नहीं हो जाता। उसने यह निश्चय किया कि केन्द्र में अन्तरिम सरकार की स्थापना का वह हर प्रकार से विरोध करेगा। अतः, उसने अंग्रेजों की दासता और सवर्ण हिन्दुओं के भारी प्रभुत्व से मुक्ति पाने के लिए प्रत्यक्ष कार्यवाही के मार्ग को अपनाने का निश्चय किया।

16 अगस्त, 1946 को प्रत्यक्ष कार्यवाही का दिन निश्चित किया गया। उस दिन कलकत्ता में भयंकर दंगा शुरू हो गया। सुहरावर्दी की सरकार ने मुसलमानों को उकसाया और उन्हें हिन्दुओं पर अत्याचार करने को छोड़ दिया। उस दिन सरकार ने सार्वजनिक छुट्टी दे दी जिससे दंगाइयों को पूरी छूट मिल सके। मुसलमानों ने हिन्दुओं के साथ पाशविकता और बर्बरता का बर्ताव किया। हिन्दुओं की हत्या की गयी, निरपराध बच्चों और बूढों को मौत के घाट उतारा गया। देश के विभिन्न हिस्सों में आग लगाई गई, सम्पत्ति नष्ट कर गई और हिन्दु स्त्रियों के साथ बलात्कार की धटनाएँ भी व्यापक पैमाने पर हुई। कलकत्ता में गुण्डों का राज्य कायम हो गया था। त्रिपुरा और नोआखाली में भी ऐसी ही बर्बरतापूर्ण घटना घटी। पंजाब में भी सिक्खों के साथ अमानुषिक व्यवहार किया गया। इसकी प्रतिक्रिया बिहार तथा कुछ अन्य प्रान्तों में हुई। बंगाल और पंजाब में हिन्दू–मुस्लिम दंगे की पूरी जवाबदेही सरकार पर थी। बंगाल की सुहरावर्दी सरकार ने दंगे को दबाने के बजाय दंगाइयों और गुण्डों को प्रोत्साहन दिया। मुस्लिम लीग का 'प्रत्यक्ष कार्यवाही दिवस' भारत के इतिहास में एक काला धब्बा (Black day) था।

मुस्लिम लीग का अन्तरिम सरकार में प्रवेश :

2 सितम्बर, 1946 को भारत में अन्तरिम सरकार की स्थापना हो गयी थी। इसमें मुस्लिम लीग ने भाग नहीं लिया था। लेकिन वायसराय ने इसके लिए प्रयास जारी रखा क्योंकि मुस्लिम लीग के अभाव में अन्तरिम सरकार सुचारु रूप से कार्य नहीं कर

सकती थी तथा भारत की संवैधानिक समस्या का पूर्णतया निराकरण सम्भव नहीं था। अन्ततः 13 अक्टूबर, 1946 को जिन्ना ने अन्तरिम सरकार में प्रवेश करने का निश्चय किया। पहले से ही लीग के लिए 2 स्थान रिक्त रखे गये थे। लीग के 5 प्रतिनिधियों को स्थान देने के लिए अन्य तीन सदस्यों–अली जाहिर, सफीद अहमद और शरत चन्द्र बोस ने त्याग–पत्र दे दिया। मुस्लिम लीग ने पांच सदस्यों को मनोनीत किया– लियाकत अली खां, राजा गजनफर अली खां, अब्दुर राव निस्तर, चन्द्रागर और योगीन्द्रनाथ मंडल। मंडल अनुसूचित जाति के हिन्दू थे। अमित चटर्जी के शब्दों में– 'मुस्लिम लीग ने यह दिखलाने की कोशिश की कि अगर कांग्रेस मुसलमानों सहित सभी भारतीयों का प्रतिनिधित्व करने का दावा कर सकती है तो मुस्लिम लीग भी सभी अल्पसंख्यकों को, जिसमें कुछ हिन्दू भी हैं, प्रतिनिधित्व का दावा करती है।" अन्तरिम सरकार में मुस्लिम लीग के शामिल होने का उद्देश्य स्वतन्त्रता को निकट लाना नहीं था, बल्कि उसका उद्देश्य अपनी स्थिति को दृढ़ करना, पाकिस्तान की मांग को मनवाना, सरकारी कार्यों पर रुकावट डालना और देश की प्रगति को अवरुद्ध करना था। मुस्लिम लीग ने संयुक्त उत्तरदायित्व (collective responsibility) के सिद्धांत को मान्यता नहीं दी क्योंकि नयी केन्द्रीय सरकार को वह मंत्रिमण्डल नहीं मानती थी। फलतः अन्तरिम सरकार का एक इकाई के रूप में कार्य करना असम्भव हो गया। जिन्ना कांग्रेस के साथ सहयोग करने के पक्ष में नहीं थे और कुछ ही दिनों के बाद कांग्रेस और मुस्लिम लीग में इस प्रश्न को लेकर मतभेद शुरू हो गया। कांग्रेस चाहती थी कि अन्तरिम सरकार एक कैबिनेट के रूप में कार्य करे, सभी सदस्यों में 'टीम स्पिरिट' (team spirit) हो और सभी लोग सहयोग तथा पारस्परिक स्वीकृति से कार्य करें लेकिन मुस्लिम लीग ने इस ओर कोई ध्यान नहीं दिया।

संविधान सभा की बैठक –

संविधान सभा की बैठक के लिए निर्धारित तिथि 9 दिसम्बर, 1946 थी। जिन्ना को भय था कि संविधान सभा में कांग्रेस भारी बहुमत से विजयी होगी। अतः उन्होंने मुस्लिम लीग के प्रतिनिधियों को उसमें शामिल न होने का आदेश दिया। इस परिस्थिति को दूर करने के लिए प्रधानमंत्री एटली ने कांग्रेस, मुस्लिम लीग और सिख समुदाय के प्रतिनिधियों से बातचीत की और मुस्लिम लीग को खुश करने का भरसक प्रयास किया लेकिन फिर भी लीग ने संविधान–सभा का बायकट किया। संविधान सभा की प्रथम बैठक में 266 सदस्यों में से 207 ने भाग लिया। डॉ० सच्चिदानन्द सिन्हा इसके अस्थायी अध्यक्ष बने और राजेन्द्र प्रसाद को स्थायी अध्यक्ष चुना गया। पंडित नेहरू ने उद्देश्य प्रस्ताव में कहा कि इसका उद्देश्य एक ''सार्वभौमिक भारतीय गणतन्त्र' (A Sovereign Indian Republic) की स्थापना करना था। पंडित नेहरू ने मुस्लिम लीग से जोरदार और भावात्मक शब्दों में संविधान–सभा में भाग लेने की अपील की लेकिन मुस्लिम लीग ने इस अपील पर कोई ध्यान नहीं दिया, बल्कि उसने एक प्रस्ताव द्वारा यह कहा कि संविधान सभा का बना रहना और उसकी प्रक्रियाएं तथा निर्णय अवैधानिक होंगे, अतः इसे तुरन्त भंग कर देना चाहिए।'

एटली की घोषणा (Attlee's Statement) –

प्रारंभिक चरण में ब्रिटिश सरकार इस प्रश्न पर अनिश्चित थी कि उसे भारत में वर्तमान परिस्थिति को बनाये रखना चाहिए या उसे भारत छोड़ देना चाहिए। इस विषय में 20 फरवरी 1947 को प्रधानमंत्री एटली ने अन्तिम निर्णय देते हुये ब्रिटिश संसद में घोषणा की कि – जून 1948 को अंग्रेज भारत छोड़ देंगे और सत्ता भारतीय को सौंप दी जायगी। घोषणा में कहा गया कि– ''सम्राट की सरकार की यह हार्दिक इच्छा है कि उत्तरदायित्व का सम्पूर्ण भार उनके हाथों में सौंप दिया जाय जिनको भारत के समस्त दलों द्वारा निर्मित किया हुआ संविधान स्वीकार हो, वर्तमान स्थिति को बहुत अधिक दिन नहीं रहने दिया जायेगा। अतः, सम्राट् की सरकार यह स्पष्ट करती है कि वह जून, 1948 तक समस्त सत्ता उत्तरदायी भारतीयों के हाथ में सौंप देगी। सम्राट् की सरकार ऐसी भारतीय सरकार को उत्तरदायित्व सौंपने को तैयार है जिसको जनता का पूर्ण सहयोग प्राप्त हो और जो देश में शान्ति और सुव्यवस्था की स्थापना न्याय तथा योग्यता के आधार पर कर सके। ..... ''

एटली की घोषणा का प्रभाव मुस्लिम लीग और कांग्रेस पर विभिन्न रूप में पड़ा। दोनों ने अपने लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए इसका उपयोग करना शुरू कर दिया। मुस्लिम लीग को यह भय हो गया कि उत्तर–पश्चिम सीमांत प्रान्त, पंजाब और आसाम में कांग्रेस को सत्ता हस्तान्तरित की जा सकती है क्योंकि इन प्रान्तों में गैर–लीग सरकारें थीं जो कांग्रेस से प्रभावित थीं। दूसरी ओर कांग्रेस ने ब्रिटिश प्रधानमंत्री के वक्तव्य के सन्दर्भ में मुस्लिम लीग को सहयोग देने के लिए आमन्त्रित किया। लेकिन वह सहयोग के लिए तैयार नहीं थी। भारत का विभाजन अवश्यम्भावी हो गया। कांग्रेस के रूप में भी परिवर्तन होने लगा। धीरे–धीरे वह देश विभाजन के पक्ष में होने लगी। महात्मा गॉधी ने ब्रिटिश प्रधानमन्त्री की घोषणा का स्वागत किया। साथ ही उन्होंने देश के विभाजन का घोर विरोध किया। उन्होंने कहा कि – ''अगर सारे भारत में भी आग लग जाय तो भी पाकिस्तान का निर्माण सम्भव नहीं है। उन्होंने यहां तक कहा कि 'पाकिस्तान का निर्माण मेरे शव पर होगा। जबतक मै जीवित हूँ, मैं भारत विभाजन के लिए कभी सहमत नही हूँगा।'' बाद में लार्ड माउन्टबेटन और सरदार पटेल के कहने–सुनने पर उन्होंने देश विभाजन को स्वीकार कर लिया।

20 फरवरी 1947 की एटली घोषणा भारतीय संविधान के विकास में महत्वपूर्ण स्थान रखती है। इस घोषणा द्वारा भारतीयों के हाथ में सत्ता हस्तांतरित करने की तिथि निश्चित कर दी गयी जो जून 1948 थी। इसके द्वारा कांग्रेस और मुस्लिम लीग के निषेधाधिकार को समाप्त कर दिया गया। एटली ने यह भी स्पष्ट कर दिया कि ब्रिटिश सरकार उसी संविधान को स्वीकार करेगी जिसको संविधान–सभा ने सर्वसम्मति से पास किया है। अगर सर्वसम्मति से कुछ निश्चित नहीं हुआ तो सत्ता केन्द्रीय सरकार को, प्रांतों की वर्तमान सरकार को या किसी अन्य रीति से, जो भारतीयों के लिए लाभकारी होगी, सौंप दी जायगी। इस घोषणा से मुस्लिम लीग को यह संकेत मिल गया कि उसे कांग्रेस से अब कोई समझौता करने की आवश्यकता नहीं है। संक्षेप में, यह घोषणा काफी महत्वपूर्ण थी।

सुभाष चन्द्र बोस और आजाद हिन्द फौज

Subhash Chandra Bose and Indian National Army.

प्रस्तावना –

भारतीय स्वतंत्रता संग्राम के अद्वितीय योद्धा श्री सुभाष चन्द्र बोस और उनके द्वारा गठित 'आजाद हिन्द फौज' के कार्यो का उल्लेख किये बिना भारतीय स्वतंत्रता संग्राम की कहानी अधूरी ही रह जाती है। वस्तुतः महान व्यक्तियों का जीवन हमें याद दिलाता है कि हम भी अपने जीवन को महान बना सकते है और इस संसार से बिछडते हुये समय की रेत पर अपने पदचिन्ह छोड सकते है। गॉधीजी के जनआन्दोलन के साथ–साथ 20वीं शताब्दी में जो क्रान्तिकारी आन्दोलन छिडा था, दोनों ही स्वाधीनता प्राप्त किये बिना दम तोड़ चुके थे। अब भारत का जो स्वतंत्रता संग्राम छिडा था वह सरहद के पार था और जिसे छेडा था सुभाष चन्द्र बोस और उनकी आजाद हिन्द फौज ने।

नेताजी सुभाषचन्द्र बोस का नाम भारतीय राष्ट्रीय स्वाधीनता के इतिहास में एक अलग तरह का महत्व रखता है। महात्मा गाँधी के नेतृत्व और कांग्रेस के मध्यगार्मी मंच से शुरू करके विदेशी भूमि पर आजाद हिन्द फौज के नेतृत्व तक का सुभाष बाबू का जीवन स्वाधीनता के इतिहास का एक ऐसा गौरव पृष्ठ है, जिसकी दूसरी समानता नहीं ढूंढी जा सकती। एक भारतीय राष्ट्रवादी के रूप में, सुभाष चंद्र बोस ने उपनिवेशवाद को चुनौती देने के लिए महत्वपूर्ण प्रयास किए। वह उन महान स्वतंत्रता सेनानियों में से एक हैं, जिन्हें देश हमेशा याद करता है। 5 जुलाई 1943 ई0 को उन्होंने सिंगापुर में नागरिक वेशभूषा को तिलांजलि देकर सैनिक वेश अपनाया था और सिटी हॉल के मैदान में भारतीय सैनिकों और नागरिकों को एक विशाल सभा में प्रखर स्वर में घोषणा की थी कि आजाद हिन्द फौज द्वारा एक सशस्त्र आक्रमण के बल पर भारत को स्वाधीनता दिलानी होगी। वहीं उन्होंने 'दिल्ली चलो' का नारा भी दिया था। वही सैनिक वेशभूषा अगस्त, सन् 1945 में नेताजी के लोप होने तक उनके साथ रही। भारतीय जनमानस में नेताजी की वह वीर छवि आज भी बनी हुई है – एक ऐसे जीवित नायक के रूप में, जो कभी भी सामने आकर 'जय हिन्द' का उद्घोष कर सकता है। आज भारत की सरकार उनके जन्म दिवस को राष्ट्रीय पराक्रम दिवस के रूप में मनाती है।

नेताजी सुभाष चंद्र बोस, जिसके नाम के आगे 'नेता' और गाली एक भी नहीं, सम्मान ही सम्मान! श्रद्धा ही श्रद्धा! आज भी सिर्फ नेताजी कहते ही जिस व्यक्ति की छवि हमारे मानस पटल पर उभर कर आती है वह सिर्फ सुभाष चन्द्र बोस ही है। आज भी हजारों ऐसे नौजवान, जिनके शरीर का एक–एक रोआं नेताजी सुभाष चन्द्र तथा उनके आजाद हिन्द फौज की चर्चा सुनने मात्र से खड़ा हो जाता है और ऐसा जब सरकारी प्रचार– माध्यमों में उनके नाम को कम से कम प्रचारित–प्रसारित करने का प्रयास किया गया। ऐसा तब जब स्वतंत्रता आंदोलन के मिथकीय भगवान बन चुके महात्मा गांधी का विरोधी बता कर उन्हें विभिन्न तरीकों से आक्षेपित किया जाए। ऐसा तब जब

मार्क्सवादी इतिहासकारों के एक बड़े तबके ने उन्हें तोजो का कुता तक कहा तथा स्वतंत्रता आंदोलन में उनकी भूमिका को यथासम्भव घटाकर तथा तोड़–मरोड़कर प्रस्तुत किया।

ऐसा क्या था नेताजी में कि वह आज भी लोगों के दिलों में बसते हैं, आज भी लोग उन्हें हृदय से प्यार करते हैं, आज भी लोग उनसे प्रेरणा लेने का काम करते हैं और आज भी लोग उनके फिर से आने का इन्तजार करते हैं। आखिर नेता जी ने ऐसा क्या किया ? लोग कहते हैं बहुत सफल भी तो नहीं हुए। नेताजी की सफलता इस बात में नहीं थी कि वह गांधीजी की इच्छा के विपरीत कांग्रेस के अध्यक्ष बन सकें और गांधीजी के अधिकृत प्रत्याशी पट्टाभि सीतारामाया को विधिवत हरा कर अध्यक्ष बने। नेताजी की असफलता भी इस बात में नहीं थी कि सिद्धान्त, कार्य प्रणाली और तथाकथित विचारधारा के आधार पर गांधीजी ने उनके अध्यक्ष चुने जाने पर अपने सहयोगियों का इस्तीफा तक दिलवा दिया। नेताजी सुभाष चन्द्र बोस की हार इस बात में भी नहीं थी कि उन्हें कांग्रेस से दूर हटकर 'फारवर्ड ब्लाक' बनाना पड़ा, बल्कि इसे नेताजी सुभाष चन्द्र बोस के विराट व्यक्ति का एक सबूत माना जा सकता है कि अध्यक्ष पद पर उनकी जीत को महात्मा गांधी ने अपनी व्यक्तिगत हार तथा अहं का मुद्दा बना लिया। पण्डित जवाहर लाल नेहरू ने महात्मा गांधी के महिमा मण्डल के प्रभाव में आकर अगर नेताजी सुभाष चन्द्र बोस का साथ नहीं छोड़ होता तो कांग्रेस के स्वतंत्रता आंदोलन का और शायद भारत का इतिहास ही कुछ और होता।

नेताजी सुभाष चन्द्र बोस ने सफलता को लक्ष्य बनाकर कभी काम नहीं किया। हार और जीत से परे होकर उन्होने अपनी कुर्बानी दी थी। उन्हें चिन्ता इस बात की नहीं थी कि लोग उन्हें याद रखेंगे या नहीं। वह मरने के लिए तैयार थे इसलिए अमर हो गये। सफलता उन्हें यदि श्रेय रही होती तो स्कूल में भारतीय बच्चे का एक अंग्रेज बच्चे के खरा अपमान किये जाने पर वह उसे पीट नहीं रहे होते। सफलता यदि श्रेय रही होती तो आई0सी0एस0 छोड़ कर आने की उन्हें कोई जरूरत नहीं थी। सफलता यदि श्रेय रही होती तो नजरबंद किये जाने पर भी, देश की आग उनके हृदय में इतनी न सुलगती कि वह कलकत्ते से छिपकर भागते हुए अफगानिस्तान होकर बर्लिन पहुॅचते और देश की आजादी की योजनायें बनाते। यदि सफलता ही उन्हें प्रिय रहती तो वह भी महात्मा गांधी के सामने वैचारिक रूप से झुक सकते थे और कांग्रेस की मुख्यधारा में बने रह सकते थे। स्पष्ट है कि सुभाष चन्द्र बोस का उद्देश्य कर्म था लेकिन कर्म फल के प्रति उनकी वासनात्मक दृष्टि नहीं थी।

गीता में निर्विकार कर्म की जो परिभाषा दी गयी, वह पूरी परिभाषा उनपर फिट बैठती थी।

गीता में भगवान कृष्ण ने यही कहा है –

''मुक्तसंगोऽनहंवादी धृत्युन्साहसमन्वितः।

सिद्धय सिद्धयोर्निर्विकारः कर्ता सात्विक उच्यते ॥''

आसक्ति से रहित, अहंकारहीन, धैर्य एवं उत्साह से मुक्त, कार्य की सफलता और असफलता में सुख या दुःख से विमुक्त व्यक्ति को सात्विककर्ता कहा जाता है। सुभाष चन्द्र बोस एक ऐसे ही निष्काम योगी थे। कुछ लोग उनके अपने विचारों के लिए दृढ़

संकल्पित होकर संघर्ष करने तथा बिल्कुल ही समझौता न करने की मानसिकता में अहं का पुट देख सकते हैं। कुछ उन्हें योजनाबद्ध तरीके से अहंकारी भी बता सकते हैं। लेकिन नेताजी का अहं था भी तो वह इसलिए, क्योंकि वह देश के लिए पागल थे, इसलिए कि वह एक क्षण भी भारत मां को परतंत्र और पराजित नहीं चाहते थे। उनके हृदय में सुलग रही स्वतंत्रता की आग उन्हें विद्रोह के लिए प्रेरित करती थी और इसलिए देश की स्वतंत्रता के लिए जो कुछ भी उन्होंने जरूरी समझा, वो सब कुछ किया। पढ़ाई छोड़नी थी वह भी छोड़ी, महात्मा गॉधी को चुनौती देनी थी वह भी किया, फारवर्ड ब्लाक बनाना था तो वह भी बनाया। बर्लिन और जापान से मदद लेनी थी तो वह भी ली। कुल मिलाकर नेताजी सुभाष चन्द्र बोस के विचारों और उनके आदर्शों की प्रासंगिकता आज भी अमिट है। वर्तमान परिस्थितियों को देखते हुये आज देश की माटी को एक और सुभाष की दरकार है।

जीवन परिचय

23 जनवरी 1897 को कटक के विख्यात वकील श्री जानकीनाथ बोस के घर में सुभाषचन्द्र बोस का जन्म हुआ, उनकी माता का नाम प्रभावती था। श्री जानकीनाथ बोस अपनी वकालत के कारण लोगों के बीच सम्मानपूर्वक रहते और उच्च मध्यम वर्ग में गिने जाते थे। शिक्षा तथा सामाजिक स्तर में अग्रणी होने के कारण ब्रिटिश सरकार की दृष्टि में भी वह सम्मानित व्यक्ति थे। सुभाषचन्द्र बोस अपने पिता की नवीं सन्तान थे, भाईयों में वे छठे स्थान पर थे। बचपन में सुभाष पर विशेष ध्यान नहीं दिया गया। पिता स्वभाव से गम्भीर थे और उन्हे माता–पिता की समीपता कम मिल पाई। वात्सल्य और ममता का स्पर्श उन्हें अपनी दाई शारदा से प्राप्त हुआ था और वह सुभाष को प्यार से 'राजा' कहकर बुलाती थीं। इस वातावरण का प्रभाव यह हुआ कि सुभाष बचपन से ही अन्तर्मुखी हो गए।

पाँच वर्ष की आयु में सुभाष का दाखिला बैप्टिस्ट मिशन स्कूल में कराया गया। सुभाष को स्कूल का वातावरण बहुत प्रिय था। स्कूल का पाठ्यक्रम कुछ इस प्रकार बनाया गया था कि बच्चे भारतीय संस्कृति व विचारों से अलग–थलग होते जाएँ और अंग्रेजी संस्कृति व जीवनशैली में ढलते जाएँ। वहॉ संस्कृत भाषा के स्थान पर लैटिन भाषा पढ़ाई जाती थी। अध्ययन में सुभाष की विशेष रुचि के कारण स्कूल की अनेक अध्यापिकाएँ उन्हें बहुत प्यार करने लगी थीं। मिस सारा लॉरेन्स के साथ तो सुभाष इतने घुल–मिल गए थे कि घर आकर प्रायः उन्हीं की तारीफ किया करते थे। 12 वर्ष की उम्र में 1909 ई0 में उनका दाखिला रॉबेन्शॉ कॉलिजिएट स्कूल में करा दिया गया। यह स्कूल भारतीय संस्कृति, भाषा एवं शिक्षा–पद्धति को विशेष महत्व देता था। स्कूल के प्रधानाचार्य श्री वेणीमाधवदास राष्ट्रीय विचारों के व्यक्ति थे और उन्होंने सुभाष के मन को समझा और उन्हें राष्ट्रीयता से ओत–प्रोत कर दिया। वे स्वयं बच्चों के बीच बैठकर उन्हें अपनी संस्कृति और देश से प्यार करना सिखाते थे। 11 अगस्त 1910 ई0 शहीद खुदीराम बोस की बरसी पर सुभाष ने अपने स्कूल के बच्चों को एकत्रित किया और खुदीराम बोस पर एक अच्छा खासा भाषण दे डाला। उसदिन सभी बच्चों ने सार्वजनिक उपवास रखा और स्कूल में शोक–सभा आयोजित की गई। इस कृत्य पर ब्रिटिश सरकार वेणीमाधवदास से नाराज हो गई और तुरन्त उनका तबादला कटक से बंगाल में कर दिया गया। अपने प्रिय प्रधानाध्यापक को विदाई देने के लिए स्कूल के छात्र

रेलवे स्टेशन गए। सुभाष को आशीर्वाद देते हुए श्री वेणीमाधव जी ने कहा "प्रिय सुभाष, तुम निश्चय ही एक दिन महान बनोगे, ऐसा मेरा मन कहता है, मेरा आशीर्वाद तुम्हारे साथ है, ईश्वर तुम्हारी रक्षा करे।"

पन्द्रह वर्ष की आयु में उनका मन विरक्ति अनुभव करने लगा। कई बार उन्हें लगता कि इस पढ़ाई–लिखाई का अन्त क्या है जो मनुष्यों के कष्ट दूर नहीं कर सकती। जीवन का सार क्या है? मनुष्य–जीवन का उद्देश्य क्या है? आदि गम्भीर प्रश्न उनके मन को मथने लगते। अपने किसी मित्र के घर उन्हें स्वामी विवेकानन्द का साहित्य मिल गया। उन्होंने रामकृष्ण मिशन जाना तथा स्वामी विवेकानन्द का साहित्य पढ़ना आरम्भ कर दिया। इससे एक ओर उन्हें आध्यात्मिक ज्ञान की अनुभूति हुई, दूसरी ओर स्वामी विवेकानन्द के राष्ट्रोत्थानवादी विचारों को समझने का अवसर मिला। स्वामी विवेकानन्द के विचारों का सुभाषचन्द्र बोस पर विशेष प्रभाव पड़ा। देश को गरीबी और अज्ञानता के चंगुल से निकलने तथा उसे स्वाधीन कराने की चिन्ता सुभाष ने स्वामी विवेकानन्द के चिन्तन में देखी। इसी समय अपने मन को संयमित और शान्त करने के लिए उन्होने चरित्र निर्माण और योगाभ्यास पर विशेष ध्यान देना शुरू किया। मार्च 1913 ई0 में सुभाषचन्द्र ने मैट्रिक परीक्षा उत्तीर्ण की और फिर उनका दाखिल कलकत्ता स्थित प्रेसीडेन्सी कॉलेज में करा दिया गया। 1914 ई0 में वे प्रसिद्ध कवि रवीन्द्रनाथ टैगोर और सुरेन्द्र नाथ बनर्जी से मिले और उनसे अपने कार्यों व जीवन के बारे में दिशा प्राप्त की। इन्हीं दिनों बंगाल में अरविन्द घोष का नाम बड़े आदर से लिया जाता था। उनका जीवन राजनीति और अध्यात्म का अनुपम मेल था। सुभाष को उनका यह समन्वय बहुत पसन्द आया।

1915 ई0 में सुभाष चन्द्र बोस ने इण्टरमीडिएट की परीक्षा उत्तीर्ण की और पूरे मनोयोग से स्नातक की पढ़ाई करने लगे। दर्शनशास्त्र विषय लेकर उन्होंने बी0 ए0 की पढ़ाई आरम्भ कर दी। इस दौरान उनका अधिकांश समय पुस्तकालय में व्यतीत होता। जनवरी 1916 में सुभाष के जीवन में एक ऐसी घटना घट गई जिसकी वजह से उनकी जीवनधारा पूरी तरह से मुड़ गई और जीवन का लक्ष्य सुस्पष्ट हो गया। सुभाष कॉलेज की लाइब्रेरी में अध्ययन कर रहे थे कि एक लड़का दौड़ता हुआ आया और बोला – "सुभाष मिस्टर ओटेन आज फिर हमारी कक्षा के छात्रों को पीट रहे हैं।" वस्तुतः मिस्टर ओटेन ब्रिटेन से आए थे और उनके मन में भारतीय छात्रों के प्रति घृणा भरी हुई थी। वे उन्हें बात–बात पर अपमानित करके यह याद दिलाते थे कि भारतीय गंवार और जंगली हैं, वे कभी नहीं सुधर सकते। सुभाष तुरन्त घटना स्थल पर पहुँचे। उन्होंने मिस्टर ओटेन को भारतीय छात्रों को 'रास्कल ब्लैडी' और 'ब्लैक मंकी' जैसे अपशब्द और गालियाँ देते हुए देखा, सुभाष का स्वाभिमान फुंकार उठा। उन्होंने तुरन्त उन लड़कों को अपने साथ लिया और शिकायत करने प्रिंसिपल मिस्टर जेम्स के ऑफिस में जा पहुँचे परन्तु यह शिकायत सुनकर मिस्टर जेम्स सुभाष पर बिगड़कर बोले – "तुम लोगों की हिम्मत कैसे हुई प्रोफेसर पर आरोप लगाने की। भागो यहाँ से, मिस्टर ओटेन से माँफी माँगो, नहीं तो मेरा हाथ उठ जाएगा..... चलो.....भागो।" सुभाष समझ गए कि यह अंग्रेज अध्यापकों की साजिश है और वे भारतीय छात्रों का निरन्तर अपमान करना चाहते हैं। उनके मन में यह बात पढ़ाई के दौरान भरते रहना चाहते हैं कि वे गुलाम देश के नागरिक हैं। सुभाष ने इस अपमान का बदला लेने के लिए साथियों की सलाह पर हड़ताल की घोषणा कर दी। सभी भारतीय छात्र उनका साथ देने लगे और

यह नारा लगने लगा कि हम जातीय घृणा और अपमान नहीं सहेंगे। इस प्रकार छात्र एकता को डण्डे से दबाने की किसी की भी हिम्मत न हुई और तीन दिन तक लगातार हड़ताल चलती रही।

भारतीय शिक्षकों के मन पर भी इस हडताल का प्रभाव पड़ा और उनमें जातीय स्वाभिमान जाग उठा। अन्ततः व्यवस्थापन मण्डल के निर्देश पर प्रोफेसर ओटेन को छात्रों से क्षमा माँगनी पड़ी और हड़ताल समाप्त हो गई। 22 वर्ष की आयु में सुभाष ने प्रथम श्रेणी में बी0ए0 की परीक्षा उत्तीर्ण की और पूरे कलकत्ता विश्वविद्यालय में उन्होने दूसरा स्थान प्राप्त किया। कालान्तर में वे कटक आ गये तथा अपनी मित्रमण्डली के साथ गरीबों, असहायों और बीमारों की सेवा में लग गए। युवा नेता और समाज सेवी के रूप में वे शीघ्र ही पूरी इलाके में चर्चित हो गए।

1919 ई0 में सुभाष चन्द्र बोस आई0सी0एस0 की परीक्षा की तैयारी के सिलसिले में लन्दन चले गये और कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय में उन्होने दाखिला ले लिया। 1920 ई0 में सिविल सेवा की परीक्षा में उन्होने चौथा स्थान प्राप्त किया और यथायोग्य पद पर कार्य करने लगे। एक वर्ष तक कार्य करने के उपरान्त अगले ही वर्ष उन्होने अपने पद से त्यागपत्र दे दिया तथा पिता के पास पत्र लिखा कि मै अंग्रेजों की गुलामी नहीं करुँगा बल्कि भारत माँ को आजाद कराने का प्रयास करुँगा। जून 1921 ई0 में उन्होने भारत के लिए जहाज पकडा और इसी जहाज में उनकी मुलाकात रवीन्द्रनाथ टैगोर से हुई। भारत आने के बाद वे बम्बई में महात्मा गॉधी से मिलने पहुँचे और विभिन्न मुद्दों पर विचार–विमर्श कर सुभाष चन्द्र बोस कलकत्ता लौट गये।

सुभाष चन्द्र बोस का बंदी जीवन –

असहयोग आन्दोलन के दौरान ही सुभाष चन्द्र बोस ने भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के साथ जुड गये। गॉधीजी की सलाह पर वे चित्तरंजन दास से मिले और अन्ततः उन्होने चित्तरंजन दास को अपना राजनीतिक गुरू बना लिया। शीघ्र ही सुभाष चन्द्र बोस चित्तरंजन दास के सबसे विश्वस्त और करीबी बन गये। सी0आर0 दास ने असहयोग आन्दोलन में सुभाष चन्द्र बोस को रचनात्मक कार्य सौंप दिया। प्रिन्स ऑफ वेल्स के भारत आगमन के क्रम में कलकत्ता में बहिष्कार करने का पूरा दायित्व सुभाष चन्द्र बोस ने अपने कंधों पर लिया। दिसम्बर 1921 ई0 में पहली बार उन्हे 6 मास के कारावास की सजा हुई। 1923 ई0 में उन्होने स्वराज्य दल तथा उसके कार्यक्रम का खुलकर समर्थन किया। उनका विचार था कि अंग्रेजों का विरोध भारतीय विधान परिषदों में भी होना चाहिए। उन्होने चित्तरंजन दास की स्वराज्य पार्टी द्वारा प्रकाशित समाचार पत्र 'फारवर्ड' के सम्पादन का कार्यभार भी सॅभाला। 1923 ई0 में सुभाष चन्द्र बोस को अखिल भारतीय युवा कांग्रेस का अध्यक्ष और साथ ही बंगाल राज्य कांग्रेस का सचिव चुना गया। 1924 ई0 में जब चित्तरंजन दास कलकत्ता निगम के महापौर बने तो सुभाष बाबू को निगम का मुख्य कार्यकारी अधिकारी नियुक्त किया गया। अपनी प्रतिभा से उन्होने इस पद को गौरवान्वित किया लेकिन वह मात्र पॉच साल ही इस पद पर कार्य कर सके।

अक्टूबर 1924 में बंगाल आर्डिनेंस एक्ट लागू हुआ जिसके द्वारा सरकार किसी भी व्यक्ति को न केवल गिरफ्तार कर सकती थी अपितु बिना कारण बताये उसे नजरबंद

रखा जा सकता था। इस अधिनियम को विरोध करने वालों में सुभाष चन्द्र बोस और उनके गुरू चित्तरंजन दास अग्रणी थे। आन्दोलन की भाषा बोलने के कारण सुभाष बाबू को भी बन्दी बना लिया गया। पहले सुभाष चन्द्र बोस को अलीपुर जेल में रखा गया लेकिन 26 जनवरी 1925 को सात अन्य व्यक्तियों के साथ तीन वर्षों के लिए उन्हे बर्मा की माण्डले जेल भिजवा दिया गया। अपने बंदी जीवन के दौरान सुभाष चन्द्र बोस ने विभिन्न विषयों की पुस्तकों का अध्ययन किया। माण्डले जेल में निर्वासन के दौरान दुर्गापूजा के आयोजन को लेकर 20 फरवरी 1926 को सुभाष चन्द्र बोस ने अनशन प्रारंभ कर दिया जिसको लेकर सारे देश में तीव्र प्रतिक्रिया हुई। इस सन्दर्भ में लाला लाजपत राय ने कहा कि– यदि श्री सुभाष जैसे चरित्रवान तथा लोकप्रिय व्यक्ति को अनशन के लिए मजबूर होना पड़ा है तब स्थिति कितनी भयंकर होगी, इस बात का अंदाजा आसानी से लगाया जा सकता है। इस प्रकार कुल 11 दिनों तक यह विवाद चलता रहा और अन्ततः 4 मार्च 1926 ई0 को बडी कठिनाई के साथ समझौता हो सका तथा बंदियों को दुर्गापूजा का त्योहार धूमधाम से मनाने की अनुमति दी गई। इन दौरान अनशन के कारण उनका स्वास्थ्य दिन–प्रतिदिन गिरता ही चला गया परन्तु पराजय स्वीकार करना उन्होने सीखा ही नही था। ब्रिटिश सरकार पर बढते हुये दबाव के कारण 27 मई 1927 को बिना शर्त छोडते हुये उन्हे मुक्त कर दिया गया।

सांवैधानिक विकास की रूपरेखा निर्धारित करने के लिए जब 1928 में पंडित मोतीलाल नेहरू की अध्यक्षता में नेहरू समिति का गठन किया गया तो उसके एक सदस्य के रूप में सुभाष चन्द्र बोस को भी शामिल किया गया। तीन महीने के अथक प्रयास के बाद जब नेहरू समिति की रिपोर्ट पेश की गई और उसमें औपनिवेशिक स्वराज्य की मॉग का प्रस्ताव किया गया तो सुभाष चन्द्र बोस ने कलकत्ता अधिवेशन की विशेष समिति में इस प्रस्ताव का जोरदार विरोध किया। विरोध करने वालों में सुभाष के साथ–साथ डा0 सैफुद्दीन किचलू और अब्दुल बारी भी शामिल थे। सुभाष चन्द्र बोस और जवाहर लाल नेहरु उस रिपोर्ट से इतने क्षुब्ध हुये कि उन दोनों ने जनरल सेक्रेट्री पद से इस्तीफा देने का प्रस्ताव किया। दोनों ही पूर्ण स्वाधीनता की लड़ाई लड़ना चाहते थे। इस समय तक सुभाष और गॉधी का नीतिगत मतभेद खुलकर सामने आ गया। 2 जनवरी 1930 को सुभाष चन्द्र बोस ने 'कांग्रेस डेमोक्रेटिव पार्टी' कर गठन कर दिया। अंग्रेजों से लडकर आजादी लेने की पक्षधर इस पार्टी के ध्वज के नीचे सभी वामपंथी एकजुट हो गये। इसके बाद 1929 में कांग्रेस ने पूर्ण स्वराज्य का प्रस्ताव पारित किया और यह निश्चय किया गया कि प्रत्येक वर्ष 26 तारीख को स्वतंत्रता दिवस मनाया जायेगा। इसकी सारी तैयारियॉ पूरी कर ली गई थी लेकिन इससे पूर्व ही 23 जनवरी 1930 को ही सुभाष चन्द्र बोस को राजद्रोह का जुर्म लगाकर पकड लिया गया और एक वर्ष का कारावास रूपी उपहार उन्हे दिया गया।

1930 में जब पूरा देश सविनय अवज्ञा आन्दोलन की आगोश में था, सुभाष चन्द्र बोस अलीपुर जेल में बन्द थे। गॉधीजी के दाण्डी मार्च और नमक सत्याग्रह के सन्दर्भ में सुभाष चन्द्र बोस ने अपनी पुस्तक ''इण्डियन स्ट्रगल'' में लिखा है कि – कुछ भी हो, गॉधीजी की दाण्डी यात्रा एक ऐतिहासिक घटना है। यह घटना उतना ही महत्व रखती है जितना कि नेपोलियन का पेरिस अभियान या मुसोलिनी का रोम के लिए कूच करना। सुभाष चन्द्र बोस को 25 सितम्बर 1930 ई0 को मुक्त कर दिया गया। इसके बाद उन्हे कलकत्ता नगर का महापौर बनाया गया। इन्ही दिनों सुभाष चन्द्र बोस ने

'स्वदेशी परिषद' नाम से एक संस्था बनाई। जब तात्कालीन वायसराय लार्ड इर्विन ने महात्मा गॉधी को वार्ता के लिए आमंत्रित किया तो सुभाष चन्द्र बोस चाहते थे कि वार्ता में भगतसिंह और उनके साथियों को मृत्युदण्ड से बचाने हेतु प्रस्ताव रखा जाय क्योंकि उन तीनों देशभक्तों के मृत्युदण्ड की सजा से सुभाष बाबू का मन बहुत ही दुखी था। लेकिन जिन शर्तो के साथ गॉधी–इरविन समझौता सम्पन्न हुआ, उससे सुभाष बाबू खुश नही हुये। इसके पश्चात गॉधीजी द्वितीय गोलमेज सम्मेलन में भाग लेने के लिए लंदन पहुॅचे लेकिन सुभाष चन्द्र बोस को इस सम्मेलन की सफलता पर पहले से ही आशंका थी। अन्ततः गॉधीजी बिना कुछ प्राप्त किये जब भारत वापस लौटे तो पूरे देश को अपमानित होना पडा। जब सविनय अवज्ञा आन्दोलन का द्वितीय चरण प्रारंभ हुआ तो सुभाष चन्द्र बोस शीध्र ही गिरफ्तार कर लिये गये। कुछ ही समय बाद सुभाष बाबू की हालत बिगड़ने लगी। ब्रिटिश सरकार इस खतरनाक कैदी को राष्ट्रीय रंगमंच से अलग करने का उपाय खोजने लगी और 23 फरवरी 1933 ई0 को सुभाष चन्द्र बोस को जहाज पर चढ़ाकर युरोप भेज दिया गया।

सुभाष चन्द्र बोस युरोप में –

सुभाष चन्द्र बोस मार्च 1933 से 1936 ई0 तक और फिर नवम्बर 1937 से जनवरी 1938 ई0 तक युरोप में रहे। इस बीच उन्होने लगभग सभी युरोपियन देशों का दौरा किया। स्वास्थ्य लाभ करते ही सुभाष सक्रिय हो गये और अपने देश की आजादी के लिए गॉधीजी के नेतृत्व वाली कांग्रेस की नीतियों से हटकर किसी अन्य विकल्प की तलाश करने लगे। 6 मार्च 1933 ई0 को सुभाष चन्द्र बोस वेनिस पहुॅचे। इटली में भारतीय आजादी के लिए वातावरण तैयार करने के बाद सुभाष वियेना पहुॅचे। स्विटजरलैण्ड में सुभाष की मुलाकात सरदार बल्लभ भाई पटेल के बडे भाई श्री विट्ठल भाई पटेल से हुई। श्री पटेल ने आयरलैण्ड के नेताओं से सुभाष का परिचय कराया। एक प्रश्न का जबाव देते हुये सुभाष चन्द्र बोस ने कहा कि – '' भारत अपनी आजादी के लिए रक्त बहाने में सक्षम है, हम अपनी आजादी के लिए कुछ भी कर सकते है।'' कुछ समय बाद सुभाष चन्द्र बोस ने रोमॉ रोलॉ से मुलाकात की और अपने देश की अवस्था को खोलकर उनके सामने रखने के बाद यह जानना चाहा कि भारत से अंग्रेजी शासन को समाप्त करने में सफलता किस प्रकार प्राप्त की जा सकती है। दिसम्बर 1933 ई0 में सुभाष चन्द्र बोस ने मुसोलिनी से भी मुलाकात की और जब मुसोलिनी ने सुभाष से पूछा कि उनका विश्वास सुधारवाद में है या क्रान्ति में तो सुभाष ने स्पष्ट उत्तर दिया कि वे क्रान्ति में विश्वास करते है। नवम्बर 1934 ई0 में सुभाष चन्द्र बोस का 'द इण्डियन स्ट्रगल' नामक पुस्तक प्रकाशित हुआ। इस ग्रन्थ को तैयार करने में सुभाष चन्द्र बोस के निजी सचिव की बेटी तथा उनकी प्रेयसी मिस एमिली शैंकिल ने बहुत सहयोग दिया। 1935 ई0 में जब यह पुस्तक भारत पहुॅची तो ब्रिटिश भारत सरकार ने इसके भारत प्रवेश पर ही प्रतिबन्ध लगा दिया।

1934 ई0 में सुभाष चन्द्र बोस जर्मनी गये लेकिन इसी समय उनके पिता की गंभीर बीमारी का समाचार मिला और वे स्वदेश के लिए निकल पडे। 3 दिसम्बर 1934 ई0 को करॉची पहुॅचते–पहुॅचते उन्हे समाचार मिला कि उनके पिता की मृत्यु हो चुकी है। पिता की अन्त्येष्टि में भाग लेने की अनुमति भारत सरकार ने उन्हे कडी नजरबन्दी के बीच दी। 8 जनवरी 1935 ई0 को वे पुनः युरोप के लिए रवाना हो गये और रोम होते

हुये एक महीने के अन्दर वे वियेना पहुॅच गये। इस बार सुभाष चन्द्र बोस ने युरोपीय देशों में जाकर दो महत्वपूर्ण काम किये। एक तो विभिन्न राष्ट्राध्यक्षों से मिलकर भारत की स्वाधीनता में उनके सहयोग की संभावनाओं का पता लगाया तथा दूसरा, भारत के प्रति वहॉ की जनता, नेताओं और बुद्धिजीवियों की सहानुभूति अर्जित की। अपने भाषणों और वक्तब्यों को युरोप के समाचारपत्रों में प्रकाशित कराकर वे ब्रिटेन की भारत के प्रति क्रूरता और बदनियती को उजागर करने लगे। परिणामस्वरूप आयरिश पार्टी ने सुभाष चन्द्र बोस को भारत की आजादी में सहयोग देने का आश्वासन दिया।

सुभाष चन्द्र बोस को विदेशों से हर तरह के सहयोग का विश्वास हो चला था। 1936 में लखनऊॅ के कांग्रेस अधिवेशन में भाग लेने के लिए वामपंथी दल ने उन्हे आमंत्रित भी किया। ऐसी स्थिति में सुभाष चन्द्र बोस का मन स्वदेश जाने के लिए मचलने लगा। यद्यपि सुभाष के अनेक साथियों ने उन्हे भारत जाने से रोकने की कोशिश की क्योंकि उनका मानना था कि ब्रिटिश सरकार किसी न किसी बहाने उन्हे गिरफ्तार अवश्य कर लेगी। स्वयं जवाहर लाल नेहरु भी उन्हे हिन्दुस्तान बुलाकर संकट में नही डालना चाहते थे अतः उन्हे अभी दूर रहने और स्वास्थ्य लाभ की सलाह दी। परन्तु सुभाष चन्द्र बोस का खून उबाल खा रहा था और उन्होने देश के लिए वहॉ पहुॅचकर संघर्ष करने का फैसला ले लिया। जैसे ही उनका जहाज बम्बई पहुॅचा, पुलिस ने उन्हे गिरफ्तार कर यरवदा जेल भेज दिया। सुभाष की गिरफ्तारी की सूचना मिलते ही भारतवासियों में आक्रोश फैल गया। 10 मई 1936 ई0 को पूरे देश में हड़ताल का आयोजन किया गया और पूरे देश की जनता सुभाष चन्द्र बोस की रिहाई को लेकर सडकों पर उतरने लगी। अन्ततः 17 मार्च 1937 ई0 को मजबूर होकर सरकार ने उन्हे रिहा कर दिया। साथ ही उनपर दबाव बढता गया कि वे भारत की राजनीति में भाग न ले और देश से चले जाऍ।

18 नवम्बर 1937 ई0 को वे इलाज के नाम पर फिर युरोप चले गये। इसी दौरान उन्होने 10 दिन की अवधि में 'एन इण्डियन पिलग्रिम' नामक ग्रन्थ की रचना की तथा अपनी प्रेयसी एमिली शैंकिल के साथ हिन्दू रीति से विवाह कर लिया।

कांग्रेस का हरिपुरा अधिवेशन, 1938 –

सुभाष चन्द्र बोस को सर्वसम्मति से फरवरी 1938 में हरिपुरा में कांग्रेस का अध्यक्ष चुन लिया गया। यह भारतीय राष्टीय कांग्रेस का 51वॉ अधिवेशन था और सरदार बल्लभ भाइ पटेल ने इस सम्मेलन के लिए गुजरात के हरिपुरा का चुनाव किया था। ब्रिटेन में रहते हुये ही उन्हे यह सूचना मिली कि और इस खबर की सूचना पाते ही सुभाष चन्द्र बोस ने कहा था कि – ''अब सबको स्वीकार करना होगा कि भारत की समस्याऍ अन्ततः विश्व की समस्याऍ ही है।'' अपने अध्यक्ष चुने जाने का समाचार पाकर सुभाष चन्द्र बोस 24 जनवरी 1938 ई0 को कलकत्ता पहुॅचे और इसके पश्चात वे हरिपुरा कांग्रेस अधिवेशन के लिए रवाना हो गये। हरिपुरा कांग्रेस अधिवेशन में दिया गया सुभाष चन्द्र बोस का भाषण उनके जीवन का सबसे लम्बा भाषण था।

देश व संसार के सामाजिक, राजनैतिक व आर्थिक दर्शन का ज्ञान इस भाषण में कूट–कूटकर भरा था। भाषण के आरम्भ में उन्होंने जवाहरलाल नेहरू की माता श्रीमती स्वरूप रानी, भारत के महान वैज्ञानिक डा0 जगदीश चन्द्र बसु तथा साहित्कार डॉक्टर

शरतचन्द्र चटर्जी को भावभीनी श्रद्धांजलि अर्पित की तथा देश के शहीद जतीनदास, सरदार महावीरसिंह, रामकृष्ण रामदास, सरदार भगतसिंह, सुखदेव तथा राजगुरु को याद किया। उन्होंने अपने भाषण में विश्व के उन साम्राज्यों का उल्लेख किया, जिनकी जडें बहुत गहरी थीं परन्तु वे सब धूल में मिल गए। उन्होने कहा कि ब्रिटिश साम्राज्य भी शीघ्र ही इसी तरह नष्ट होगा। उन्होंने अपने भाषण में इंग्लैण्ड की प्रतिक्रियावादी ताकतों की कटु आलोचना की और उन्हें उपनिवेशों के माध्यम से मानव–शोषण का हथियार बताया। अंग्रेजों की 'फूट डालो और राज्य करो' की नीति की उन्होंने बखिया उधेड़ी तथा भारतीय शासन अधिनियम, 1935 को आड़े हाथ लिया। इस अधिनियम को उन्होंने भारत की अखण्डता को खण्डित करने का एक षड्यन्त्र बताया। इसी अवसर पर ब्रिटिश साम्राज्य के अस्तित्व पर प्रहार करते हुए उन्होंने कहा कि अब चारों ओर से दबाव में आ गया है और अधिक दिन नहीं टिक पाएगा।

उन्होने कहा कि – एकजुट प्रयास ब्रिटिश साम्राज्य को धराशायी करने के लिए पर्याप्त है। हमारा लक्ष्य भारत की स्वाधीनता है। स्वाधीन भारत की समस्याएँ संघात्मक गणराज्य स्थापित कर दूर की जाएँगी। अल्पसंख्यकों की समस्या को उन्होंने भारतीय एकता के मार्ग में एक बड़ी बाधा बताया। कांग्रेस भारत में एक ऐसी शासन–व्यवस्था स्थापित करने के लिए कृतसंकल्प है, जिसमें कोई वर्ग किसी दूसरे वर्ग का शोषण न कर सके। इसके अतिरिक्त सम्पर्क भाषा के रूप में हिन्दी–उर्दू के मिश्रण, शक्तिशाली केन्द्र की आवश्यकता, समाजवादी आधार वाला प्रशासनिक ढांचा, जमींदारी प्रथा की समाप्ति, किसानों के ऋणों की समाप्ति, सहकारिता तथा वैज्ञानिक आधार वाली खेती, औद्योगिक विकास तथा कुटीर उद्योग–धंधों के विकास का उल्लेख किया गया। भाषण के अन्त में उन्होंने गाँधी जी के दीर्घायु होने की कामना करते हुए कहा कि भारत ही नहीं विश्व को भी अपनी समस्याओं के समाधान के लिए गाँधीजी की आवश्यकता है।

हरिपुरा अधिवेशन में मुख्य प्रस्ताव ब्रिटेन से भारत को आजादी देने के लिए 6 महीने का समय देना और उसके बाद ब्रिटिश शासन के विरुद्ध विद्रोह करना था। चूँकि यह प्रस्ताव गॉधीजी की अहिंसा की नीति के विरुद्ध थी इसलिए गॉधीजी इससे सहमत नही थे। गॉधीजी कांग्रेस में वामपंथी विचारधारा के हिंसात्मक विचार से सहमत नही थे जबकि सुभाष चन्द्र बोस के साथ जवाहर लाल नेहरु लगातार कांग्रेस में वामपंथी विचारों को प्रसारित कर रहे थे। इसके अतिरिक्त सुभाष चन्द्र बोस **'दुश्मन के दुश्मन को दोस्त'** मानते थे परन्तु इससे भी गॉधीजी सहमत नही थे। सुभाष चन्द्र बोस ने हरिपुरा अधिवेशन में स्आलिनवादी साम्यवाद और बेनिटो मुसोलिनी के फासिस्ट विचारधारा की प्रशंसा की जिससे गॉधीजी असहज हो गये क्योंकि उनकी दृष्टि में यह देश के लिए एक अलोकतांत्रितक व्यवस्था बनाने का समर्थन जैसा था। इस प्रकार 1938 के अन्त तक गाँधीजी और सुभाष के बीच वैचारिक मतभेद उभर कर सामने आ गये तथा कांग्रेस वामपंथी और दक्षिणपंथी समूह में बॅट गई जो आगे चलकर त्रिपुरी अधिवेशन में स्पष्ट रुप से दिखाई दिया।

त्रिपुरी संकट, 1939 –

सुभाषचन्द्र बोस को फिर से कांग्रेस में लाने और उन्हें अध्यक्ष पद होने का निर्णय कांग्रेस की वामपन्थी लॉबी तथा कांग्रेस के वरिष्ठ नेता जवाहरलाल नेहरू का था। गाँधीजी को सुभाषचन्द्र बोस इस अर्थ में तो प्रिय थे कि वे एक अच्छे व्यक्ति थे, देश

की समस्त समस्याओं से परिचित थे और उनका सही समाधान तलाशने की क्षमता रखते थे, परन्तु स्वाधीनता संग्राम में तुरन्त तेजी लाने और हिंसा की हद तक देश को उकसाकर खून–खराबा कर जल्दी से जल्दी आजादी लेने की सुभाष की योजना से गाँधीजी सहमत नहीं थे और यह तो वे किसी कीमत पर सहन करने को तैयार नहीं थे कि गाँधीजी की कांग्रेस को ही अपने अनुसार इस्तेमाल कर सुभाषचन्द्र बोस अंग्रेजों से लड़ा दें और अपने ढंग से यथाशीघ्र स्वाधीनता प्राप्त करें। सुभाष की समाजवादी नीतियों से तथा सर्वहारा वर्ग के प्रति उनकी सहानुभूति से भी गाँधीजी सहमत नहीं थे। स्वाधीनता के उपरान्त देश को जिन नीतियों पर सुभाष चलाना चाहते थे, तथा उन्हें लागू करने के लिए जो प्रशासनिक ढांचा वे देश को देना चाहते थे, उससे भी गाँधी जी की योजना मेल नहीं खाती थी। सुभाष का अधैर्य और 'जल्दी चलो' की नीति तो गाँधीजी के परम स्थायी धैर्य को भी उखाड़ देती थी। जब गाँधीजी को पता लगा कि सुभाष चन्द्र बोस अगले सत्र के लिए भी अध्यक्ष बनने के इच्छुक हैं तो गाँधीजी का माथा ठनक गया। उनके अहिंसा सिंचित मन में यह बात घर कर गई कि सुभाष कांग्रेस को अपने हिसाब से इस्तेमाल करना चाहते हैं और वे यदि एक साल और अध्यक्ष रह गए तो एक अहिंसक दल के रूप में विकसित की गई कांग्रेस गाँधीजी के हाथ से निकल जाएगी। नेता और कार्यकर्ता विद्रोही हो जाएँगे और कल पलटकर गाँधीजी को जवाब दे देंगे। यह तो गाँधीजी के व्यक्तित्व और गाँधी के विचार दोनों की हार थी, जो गाँधीजी सहन नहीं कर सकते थे, अतः वे सक्रिय हो गए। उन्होंने अपने समर्थकों की मीटिंग बुलाई और अगले सत्र के लिए कांग्रेस पद हेतु दो नामों पर विचार किया, "मौलाना अबुल कलाम आजाद और पट्टाभि सीतारमैया। मौलाना अबुल कलाम आजाद ने चुनाव लड़ने से इंकार कर दिया। गॉधीवादी खेमा पट्टाभि सीतारमैया को अध्यक्ष बनाने पर तुल गया।

कांग्रेस समिति के कई वरिष्ठ सदस्य सरदार पटेल, राजेन्द्र प्रसाद, जमनालाल बजाज, भूलाभाई देसाई, जयरामदास दौलत आदि ने सुभाष चन्द्र बोस से आग्रह किया कि वे गाँधीजी की भावनाओं का आदर करते हुए चुनाव लड़ने का इरादा छोड़ दें, परन्तु सुभाष नहीं माने। अन्त में सरदार पटेल ने कांग्रेस कार्य समिति के बहुसंख्यक सदस्यों की ओर से समाचार–पत्रों में एक वक्तव्य प्रकाशित करा दिया कि कांग्रेस अध्यक्ष पद के असली उम्मीदवार पट्टाभि सीतारमैया हैं और सुभाषचन्द्र बोस चुनाव लड़ने का इरादा छोड़ दें। स्वाभिमानी सुभाष ने इसे अपने पर एकतरफा प्रहार माना और वे मैदान में डट गए। 21 जनवरी 1939 को अध्यक्ष पद के लिए अपनी उम्मीदवारी घोषित करते हुये सुभाष चन्द्र बोस ने कहा कि वे नये विचारों और नई विचारधाराओं का प्रतिनिधित्व करते है। 29 जनवरी 1939 को अध्यक्ष पद हेतु चुनाव हुआ और सुभाषचन्द्र बोस 1377 मतों के मुकाबले 1580 मतों से जीत गए। 4 फरवरी 1939 को गाँधीजी ने एक वक्तव्य दिया, जिसमें कहा गया कि – सीतारमैया की हार उनकी हार है, उनके सिद्धान्तों और विचारों की हार है। साथ ही यह भी संकेत दिया कि सुभाष अपनी पसन्द की कार्य–समिति स्वयं बना लें।

लेकिन सुभाष के अध्यक्ष चुने जाने से कुछ हल नही हुआ और कांग्रेस का गहराता हुआ संकट त्रिपुरी अधिवेशन में अपने शिखर पर पहुँच गया। गाँधीजी के इन शब्दों का अर्थ सुभाष अच्छी तरह समझते थे। परन्तु वे शान्त रहे और उन्होंने कहा – "मैं गाँधीजी के विश्वास को जीतने का प्रयास करूँगा। गाँधीजी भारत के सबसे बड़े व्यक्ति

हैं, यदि मैं गाँधीजी का विश्वास न जीत सका तो यह मेरा दुर्भाग्य होगा।" 22 फरवरी को कांग्रेस कार्य–समिति के सभी सदस्यों ने अपने पदों से इस्तीफा दे दिया। बोस ने बहुत प्रयास किया कि गाँधीजी अपनी नाराजगी भुलाकर खुले मन से उन्हें स्वीकार कर लें, परन्तु गाँधीजी ने ऐसा नहीं किया। जवाहरलाल नेहरू पर गाँधीजी का इतना प्रभाव था कि उनके रुख को देखते हुए उन्होंने भी सुभाषचन्द्र बोस का समर्थन करने से इन्कार कर दिया। 10 मार्च 1939 को जबलपुर स्थित त्रिपुरी में कांग्रेस का अधिवेशन भारी तनाव के बीच आरम्भ हुआ। गाँधीजी ने इस अधिवेशन का पूरी तरह बहिष्कार किया। सुभाषचन्द्र बोस 104 डिग्री बुखार में त्रिपुरी पहुँचे। उन्होंने गाँधीजी को मनाने के लिए अनेक पत्र लिखे, परन्तु गाँधी जी ने कोई जवाब नहीं दिया। नेहरू जी गाँधी और सुभाष में सुलह चाहते थे, परन्तु उन्हें सफलता नहीं मिली।

अन्ततः अप्रैल 1939 में सुभाष ने कांग्रेस अध्यक्ष पद से इस्तीफा दे दिया। सुभाष चन्द्र बोस अत्यधिक सक्रिय प्रवृत्ति के व्यक्ति थे। आजादी के लिए जुनून उनमें चरमसीमा पर था। अतः बिना समय बर्बाद किए 3 मई 1939 को उन्होंने कांग्रेस के अन्दर ही अपनी नई पार्टी 'फॉरवर्ड 'ब्लॉक' का गठन कर डाला। इस पार्टी के चार लक्ष्य घोषित किए गए – कांग्रेस के कार्यक्रम को वामपक्ष की ओर मोड़ना, ब्रिटिश सरकार को अन्तिम चेतावनी देना, बदलती हुई अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति का लाभ उठाना तथा आजादी मिलने के बाद भारत के समाजवादी ढांचे का निर्माण करना। अगले महीने फॉरवर्ड ब्लॉक की कार्यसमिति की घोषणा कर दी गई। पार्टी ने एक पत्र प्रकाशित किया जिसका सम्पादन स्वयं सुभाषचन्द्र बोस करते थे। 19 जुलाई 1939 को सारे देश में प्रदर्शनों का आयोजन किया गया। अब सुभाष दोहरा संघर्ष कर रहे थे। एक ओर तो उनका संघर्ष ब्रिटिश सरकार से था जिसे वह उखाड़ फेंकना चाहते थे और दूसरी ओर महात्मा गाँधी के अहिंसा नीति की समर्थक कांग्रेस पार्टी से। कांग्रेस सुभाष के इस कदम से इतनी नाराज हो गई कि उसने घोषणा कर दी कि जो कुछ सुभाष कर रहे हैं, उससे कांग्रेस कार्य–समिति तनिक भी सहमत नहीं है और इसे कांग्रेस अनुशासन का उल्लंघन मानती है तथा घोषणा करती है कि अब से तीन वर्ष तक सुभाष बंगाल कांग्रेस कमेटी के अध्यक्ष नहीं रहेंगे, न ही वे कांग्रेस की किसी निर्वाचित समिति के सदस्य होंगे। कांग्रेस की इस घोषणा का रवीन्द्रनाथ टैगोर ने बहुत बुरा माना। उन्होंने गाँधी और नेहरू दोनों से व्यक्तिगत अनुरोध किया कि वे सुभाष के विरुद्ध इस तरह की निर्मम कार्यवाही को वापस लें तथा कांग्रेस का संचालन सुभाष को करने दें। स्वाधीनता संग्राम के दिनों में ऐसी फूट देश का दुर्भाग्य निकट लाएगी।

द्वितीय विश्वयुद्ध और सुभाष चन्द्र बोस –

इसी समय ब्रिटेन ने जर्मनी के विरुद्ध युद्ध छेड़ दिया और भारत के चुने हुए प्रतिनिधियों से सलाह–मशविरा किए बिना ही घोषण कर दी कि भारत भी ब्रिटेन के साथ युद्ध में शामिल है। गाँधीजी ने वायसराय से मिलकर उन्हें अवगत कराया कि व्यक्तिगत रूप से वे फ्रांस और ब्रिटेन के साथ है, परन्तु कांग्रेस क्या फैसला लेती है, वह कांग्रेस जाने। कांग्रेस को ब्रिटिश सरकार का यह निर्णय स्वाभिमान के विरुद्ध लगा। अतः उसने विरोध करने का फैसला लिया और कांग्रेस की सभी प्रान्तीय सरकारों ने इस्तीफा दे दिया। इससे सुभाष चन्द्र बोस की बेचैनी बढ गयी और उन्होने स्वयं वायसराय से मुलाकात की परन्तु कोई नतीजा नहीं निकला। इन परिस्थितियों में सुभाष

चन्द्र बोस ने सम्पूर्ण देश का दौरा किया और जनता को बताया कि कांग्रेस मौके का लाभ उठाने को तैयार नही है। उन्होने सारे मतभेद भुलाकर गॉधीजी से मुलाकात की और उनसे ब्रिटेन के खिलाफ आन्दोलन छेड़ने का निवेदन किया। परन्तु गॉधीजी ने कोई भी कदम उठाने से इन्कार कर दिया।

इसके पश्चात सुभाष चन्द्र बोस के युवा बिग्रेड ने 3 जुलाई 1940 ई0 को कलकत्ता स्थित हॉलवेल स्मारक को तोड दिया जो उस समय भारत की गुलामी का प्रतीक था। सुभाष चन्द्र बोस के स्वयंसेवकों ने न केवल स्तम्म को जमींदोज कर दिया अपितु उनकी नींव की एक–एक ईंट उखाड़ ले गये। यह एक प्रतीकात्मक शुरुआत थी और इसके माध्यम से सुभाष ने यह सन्देश दिया था कि जैसे उन्होने यह स्तम्भ धूल में मिला दिया गया है उसी तरह ब्रिटिश साम्राज्य की भी ईंट से ईंट बजा देंगे। इसके परिणामस्वरूप ब्रिटिश सरकार बौखला गई और सरकार ने सुभाष चन्द्र बोस तथा फारवर्ड व्लाक के अनेक कार्यकार्ताओं को गिरफ्तार कर जेल में डाल दिया। सुभाष चन्द्र बोस की यह 11वीं गिरफ्तारी थी। सरकार ने उनपर आजीवन कारावास की धारा लगाई थी परन्तु इसी दौरान वे केन्द्रीय विधानमण्डल के सदस्य चुन लिये गये और उनकी कैद अस्थायी कैद में बदलनी पडी। फिर भी ब्रिटिश सरकार सुभाष चन्द्र बोस को कैद में ही रखने के षडयंत्र रचने लगी और उनपर अनेक मुकदमें लगाये जाने लगे। सुभाष चन्द्र बोस सरकार की चाल को समझ गये और विरोध स्वरुप 29 नवम्बर 1940 ई0 को उन्होने उपवास आरंभ किया। उपवास के कुछ दिन बीतने के साथ ही उनका स्वास्थ्य तेजी से बिगडने लगा और उनकी जान जाने का खतरा मॅडराने लगा। सरकार जानती थी कि यदि जेल में ही सुभाष की मृत्यु हो गयी तो भारत की जनता ब्रिटिश सरकार के खिलाफ खुला विद्रोह कर देगी। अतः गवर्नर जॉन हरवर्ट की देखरेख में सरकार ने 5 दिसम्बर 1940 को जेल से रिहा करते हुये कलकत्ता के एलगिन रोड स्थित उनके पैतृक घर में नजरबंद कर दिया।

नजरबंदी से पलायन –

दिसम्बर 1940 के अन्तिम सप्ताह से उन्होंने घर से बाहर निकलना और किसी से मिलना–जुलना बन्द कर दिया। यह प्रचार किया गया कि वे एकान्तवास करना चाहते हैं। वे प्रायः बिस्तर पर लेटे रहते थे। शेव बनाना बन्दकर देने से उनकी दाढ़ी व मूंछें बढ़ गई थीं। बिस्तर के सिरहाने पूजा की सामग्री पड़ी रहती थी, पास में गीता तथा अन्य धार्मिक ग्रन्थ, बिस्तर पर जाप करने की माला और दीवार पर रामकृष्ण परमहंस तथा स्वामी विवेकानन्द आदि सन्तों की तस्वीरें। किसी को अन्दर जाने की आज्ञा न थी। बस खिड़की के एक छोटे से रास्ते से भोजन की थाली दे दी जाती। कमरे का वातावरण पूरी तरह से रहस्यपूर्ण था। नजरबंदी से निकलने के लिए सुभाष ने एक योजना बनाई और जनवरी के प्रथम सप्ताह तक भारत छोड़ने की तैयारी कर ली गई थी। शिशिर कुमार बोस अपनी किताब 'द ग्रेट एस्केप' में लिखते हैं कि– 'हमने मध्य कलकत्ता के वैचल मौला डिपार्टमेंट स्टोर में जा कर बोस के भेष बदलने के लिए कुछ ढीली सलवारें और एक फ़ैज़ टोपी ख़रीदी। अगले कुछ दिनों में हमने एक सूटकेस, एक अटैची, दो काट्र्सवूल की कमीज़ें, टॉयलेट का कुछ सामान, तकिया और कंबल ख़रीदा। मैं फ़ेल्ट हैट लगाकर एक प्रिंटिंग प्रेस गया और वहाँ मैंने सुभाष के लिए विज़िटिंग कार्ड छपवाने का ऑर्डर दिया। कार्ड पर लिखा था– मोहम्मद ज़ियाउद्दीन,

बीए, एलएलबी, ट्रैवलिंग इंस्पेक्टर, द एम्पायर ऑफ़ इंडिया अश्योरेंस कंपनी लिमिटेड, स्थायी पता, सिविल लाइंस, जबलपुर।

सुभाष चन्द्र बोस और शिशिर जी ने तय किया कि वो घर के मुख्यद्वार से ही बाहर निकलेंगे। उनके पास दो विकल्प थे। एक या तो वो अपनी जर्मन वाँडरर कार इस्तेमाल करें या फिर अमेरिकी स्टूडबेकर प्रेसिडेंट कार का। अमेरिकी कार बड़ी ज़रूर थी लेकिन उसे आसानी से पहचाना जा सकता था, इसलिए इस यात्रा के लिए वाँडरर कार को चुना गया। यात्रा की एक रात पहले शिशिर बोस ने पाया कि जो सूटकेस वो ख़रीद कर लाए थे वो वाँडरर कार के बूट में समा ही नहीं पा रहा था इसलिए तय किया गया कि सुभाष चन्द्र बोस का पुराना सूटकेस ही उनके साथ जाएगा। उस पर लिखे गए उनके नाम एस0सी0बी0 को मिटा कर उसके स्थान पर चीनी स्याही से एमज़ेड लिखा गया। यहाँ तक कि 16 जनवरी 1941 को कार की सर्विसिंग भी कराई गई।

उनके बड़े भाई शरत्चन्द्र बोस के पुत्र शिशिरकुमार ने 16 जनवरी 1940 की रात को नौ बजे अपनी कार पहले की तरह पिछली सीढ़ियों के पास खड़ी कर दी। रात को सुभाषचन्द्र बोस ने परिवार के सब सदस्यों के साथ भोजन किया। रात को ठीक एक बजे सुभाष पठानी वेश में अपने मकान की पिछली सीढ़ियों से उतरे और कार की पिछली सीट पर जा बैठे। शिशिरकुमार ड्राइविंग सीट पर बैठे और चुपके से वांडरर कार बी0एल0–7169 का इंजनस्टार्ट कर दी। इस प्रकार वे कार से गोमोह (धनबाद) पहुँचे। 19 जनवरी को वे फ्रन्टियर मेल से पेशावर छावनी उतरे, उनका नाम था मोहम्मद जियाउद्दीन और वे मूक व बधिर का अभिनय कर रहे थे तथा पेशे से बीमा कम्पनी के एजेण्ट बने हुए थे। पेशावर में अपने 7 दिनों के प्रवास के दौरान वे फारवर्ड ब्लाक के एक सदस्य मियाँ अकबर शाह के साथ रहे और उनकी मुलाकात फारवर्ड ब्लाक के एक अन्य सदस्य भगतराम तलवार से हुई। भगतराम ने आगे काबुल तक पहुँचाने की यात्रा की योजना तैयार की। 26 जनवरी 1941 को भगतराम तलवाड़, अबद खाँ तथा एक अनुभवी व विश्वसनीय दोस्त के साथ सुभाषचन्द्र बोस अफगानिस्तान के छोटे से रास्ते से काबुल की ओर चल पड़े। इस सफर में भगतराम तलवार रहमत खान नाम के पठान और सुभाष उनके गूँगे–बहरे चाचा बने थे। काबुल में दो महीनों तक सुभाष उत्तमचन्द मल्होत्राा नामक एक भारतीय व्यापारी के घर में रहे। वहाँ उन्होने रूसी दूतावासों में प्रवेश पाना चाहा लेकिन असफल होने पर उन्होने जर्मन और इटालियन दूतावासों में प्रवेश पाने की कोशिश की। आखिर में ओरलैण्डो मैजोस्टा नामक इटालियन व्यक्ति बनकर सुभाष चन्द्र बोस काबुल से निकलकर रूस की राजधानी मास्को पहुँचे। इस प्रकार पुलिस की आँखों में धूल झोंककर वे बच निकलने में सफल हुये तथा पेशावर, काबुल होते हुये वे पहले रूस पहुँचे और 28 मार्च 1941 ई0 को वे विमान द्वारा बर्लिन जा पहुँचे। 27 जनवरी 1941 को सुभाष चन्द्र बोस के गायब होने की खबर सबसे पहले आनन्द बाजार पत्रिका और हिन्दुस्तान हेराल्ड में छपी।

ब्रिटिश सरकार के गुप्तचरों के जाल को चीरते हुये, पत्रकारों की पैनी नजर से बचते हुये इतने खतरे उठाकर सुभाष चन्द्र बोस का बर्लिन जा पहुँचना इतिहास की सबसे अधिक सनसनीखेज घटना मानी जाती है। गाँधीजी को जब सुभाष के बर्लिन पहुँचने

की सूचना मिली तो वे स्तब्ध रह गये और उन्होने सुभाष के साहस की सराहना की। काबुल में जिस उत्तमचन्द मलहोत्रा के यहॉ सुभाष चन्द्र बोस ने 47 दिन गुजारा था, उन्हे गिरफ्तार कर लिया गया और 4 वर्ष के कठोर कारावास की सजा सुनाई गई। जेल में ही उन्होने सुभाष के साथ बिताये गये 47 दिनों की बातचीत पर आधारित एक पुस्तक तैयार की जो "When Bose was ziau." नाम से प्रकाशित हुई।

जर्मनी की राजधानी बर्लिन पहुॅचने पर सुभाष चन्द्र बोस का स्वागत हिटलर के दाहिने हाथ और उच्चाधिकारी रिबेनट्राप ने किया। 29 मई 1942 ई0 को सुभाष चन्द्र बोस ने हिटलर से मुलाकात की। सुभाष ने हिटलर की सरकार के सम्मुख तीन प्रस्ताव रखे –

1. वे बर्लिन रेडियों से ब्रिटिश विरोधी भाषण व प्रचार कर सके जिससे भारत में उनका सन्देश निरन्तर पहुॅचता रहे।
2. सरकार जर्मनी में भारत के युद्धबन्दियों को 'आजाद हिन्द फौज' में शामिल करने की अनुमति दे।
3. इटली, जापान और जर्मनी आदि धुरी शक्तियॉ संयुक्त रुप से समय आने पर भारतीय स्वतंत्रता के समर्थन की घोषणा कर दे।

जर्मनी ने इटली दूतावास से सम्पर्क किया और अन्ततः जर्मनी और इटली पहले दो प्रस्तावों पर तुरन्त सहमत हो गये परन्तु तीसरे प्रस्ताव के लिए वे राजी नहीं हुये। इस प्रकार यही से सुभाष चन्द्र बोस ने पेरिस और रोम में फ्री इण्डिया सेन्टर (Free India Centre) स्थापित किया। सुभाष चन्द्र बोस ने जर्मनी में भारतीय युद्धबन्दियों को भी संगठित करने का काम प्रारंभ कर दिया। उन्होने युद्धबन्दियों की अनेको सभाओं में भाषण दिये और अपने देश की आजादी और सच्चाई के नाम पर उनसे **'इण्डियन नेशनल आर्मी'** में सम्मिलित होने का अनुरोध किया। शीध्र ही उन्होने लगभग 3000 भारतीय युद्धबन्दियों की एक सैनिक टुकडी गठित कर ली और इसकी लोकप्रियता और शक्ति बढ़ती गई। विदेश में सुभाष चन्द्र बोस को कई भारतीयों से भी सहायता मिली। सरदार अजीत सिंह इस समय नेपल्स युनिवर्सिटी में भाषा के प्रोफेसर थे। अपने मित्रों से सलाह मशविरा करने के बाद अजीत सिंह ने इटली में आजाद हिन्द फौज को संगठित करने में सहयोग प्रदान किया। जापान में रासबिहारी बोस पहले से ही ब्रिटिश शासन को उखाड फेकने के लिए प्रयासरत थे। इस प्रकार जापान, इटली और जर्मनी तथा अन्य भारतीयों की सहमति के साथ ही भारत की आजादी के लिए अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर काम शुरू हो गया। जर्मनी के सूचना विभाग में 'स्पेशल डिपार्टमेण्ट इण्डिया' स्थापित हो गया जिसका दायित्व स्टेट सेक्रेटी विल्हेल्म कैप्लर ने सम्भाला। जर्मन सरकार ने सुभाष चन्द्र बोस को आर्थिक सहायता, रेडियो द्वारा सूचना प्रसारण तथा जर्मनी के भारतीय प्रवासियों को सैनिक प्रशिक्षण देने की व्यवस्था कर दी। इस प्रकार बर्लिन रेडियो से समय–समय पर सुभाष चन्द्र बोस का भारत के नाम सन्देश प्रसारित होता तथा भारत की जनता को क्रान्ति के लिए तैयार करने की सामग्री परोसी जाती।

आजाद हिन्द फौज और सुभाष चन्द्र बोस –

1911 ई0 में ही लार्ड हार्डिंग पर बम फेंकने के बाद रासबिहारी बोस जापान पहुॅचने में सफल हो गये थे और उन्होने जापानी युवती से विवाह कर जापानी नागरिकता भी

प्राप्त कर ली थी। विदेशों में रह रहे प्रवासी भारतीयों के लिए रासबिहारी बोस ने टोकिया सम्मेलन द्वारा मार्च 1942 ई0 में 'इण्डियन इंडिपेण्डेंट लीग' का गठन किया। इस लीग का एक सदस्य था ज्ञानी प्रीतम सिंह जिसने कैप्टन मोहन सिंह को प्रेरित और उत्साहित करते हुये कहा कि तुम्हे अंग्रेजों की ओर से लडने के स्थान पर अपनी और अपने देश की आजादी के लिए लड़ना चाहिए। अतः तुम्हे भारतीय स्वाधीनता लीग का सदस्य बन जाना चाहिए। काफी लम्बे विचार–विमर्श के बाद कैप्टन मोहन सिंह राजी हो गये। आजाद हिन्द फौज का ख्याल सबसे पहले कैप्टन मोहन सिंह के मन में मलाया में आया जो ब्रिटेन की भारतीय सेना के अफसर थे। जब ब्रिटिश सेना पीछे हट रही थी, तो मोहन सिंह जापानियों के साथ हो गये। वे जापानी भारतीयों में ब्रिटिश विरोधी भावनाओं को भडकाते रहे लेकिन उन्होने भारतीयों को सैनिक स्तर पर संगठित करने के बारे में नही सोचा। इण्डियन नेशनल आर्मी का गठन पहली बार 1942 में हुआ था। मूल रूप से उस वक्त यह आजाद हिन्द सरकार की सेना थी, जिसका लक्ष्य अंग्रेजों से लड़कर भारत को स्वतंत्रता दिलाना था।

जापानियों ने जब भारतीय युद्ध बन्दियों को मोहन सिंह के सुपुर्द कर दिया, तो वे उनमें से लोगों को इण्डियन नेशनल आर्मी में भरती करने लगे। सिंगापुर का जापानियों के हाथ में आना इस दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण था क्योंकि इससे 45 हजार भारतीय युद्ध–बन्दी मोहन सिंह के प्रभाव क्षेत्र में आ गये। इस सेना के गठन में कैप्टन मोहन सिंह, रासबिहारी बोस एवं निरंजन सिंह गिल ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

आरम्भ में इस फौज़ में जापान द्वारा युद्धबन्दी बना लिये गये भारतीय सैनिकों को लिया गया था। बाद में इसमें बर्मा और मलाया में स्थित भारतीय स्वयंसेवक भी भर्ती हो गये। आरंभ में इस सेना में लगभग 16,300 सैनिक थे। कालान्तर में जापान ने 60,000 युद्ध बंदियों को इण्डियन नेशलन आर्मी में शामिल होने के लिए छोड़ दिया पर इसके बाद ही जापानी सरकार और मोहन सिंह के अधीन भारतीय सैनिकों के बीच इण्डियन नेशलन आर्मी की भूमिका के संबध में विवाद उत्पन्न हो जाने के कारण मोहन सिंह एवं निरंजन सिंह गिल को गिरफ्तार कर लिया गया। नेतृत्व क्षमता में कुशलता की कमी तथा संगठन को सुचारू रूप से नहीं चला पाने के कारण कुछ ही समय में इण्डियन नेशलन आर्मी का संगठन मृतप्रायः हो गया।

इण्डियन नेशलन आर्मी का दूसरा चरण तब प्रारम्भ होता है, जब सुभाषचन्द्र बोस सिंगापुर गये। सुभाषचन्द्र बोस ने 1941 ई. में बर्लिन में इंडियन लीग की स्थापना की थी किन्तु जर्मनी ने उन्हें रूस के विरुद्ध प्रयुक्त करने का प्रयास किया, तब उनके सामने कठिनाई उत्पन्न हो गई और उन्होंने दक्षिण पूर्व एशिया जाने का निश्चय किया। 19 फरवरी 1942 को सिंगापुर पर जापान ने आधिपत्य स्थापित कर लिया और वहॉ ब्रिटिश शासन समाप्त हो गया। इसी दिन सुभाष चन्द्र बोस ने पहली बार स्वयं अपने देश भारत के नाम सन्देश प्रसारित कर अपने जीवित होने की सूचना दी थी। उन्होने अपने सन्देश में कहा – ''मै सुभाष चन्द्र बोस आजाद हिन्द रेडियो से आपके साथ बात कर रहा हूॅ। लगभग एक वर्ष से खामोशी और सब्र के साथ घटनाओं का इन्तजार करता रहा हूॅ। विश्व इतिहास के चौराहे पर खडा होकर मै भारत और भारत से बाहर विदेशों में स्वाधीनता प्रेमी सभी प्रवासी भारतीयों की तरफ से घोषणा करता हूॅ कि हम ब्रिटिश साम्राज्यवाद से निरन्तर संघर्ष करते रहेंगे, जबतक कि भारत स्वयं अपने भाग्य

का विधाता नही बन जाता। हम बाहर से ब्रिटिश राज को उखाड फेंकने के लिए संघर्ष करेंगे। मुझे पूरा विश्वास है कि भारतवासी हमारा साथ देंगे।''

सुभाष चन्द्र बोस ने 11 अप्रैल 1942 ई0 को अपने देशवासियों को बर्लिल रेडियों से सम्बोधित करते हुये कहा कि – ''ब्रिटिश प्रोपेगेण्डा की बात भूल जाइए। हर भारतीय को यह सोचना चाहिए कि समस्त विश्व में भारत का केवल एक ही शत्रु है और वह है अंग्रेजी राज जो सैकडों वर्षों से हमारे देश को बर्बाद करता रहा है।..... देशवासियों जिस दिन ब्रिटिश साम्राज्य मिटेगा, वह दिन भारत के लिए प्रसन्नता का होग। मैं आपको स्मरण करवाना चाहता हूँ कि 1857 ई0 में भारत ने प्रथम स्वाधीनता संग्राम लडा था। मई 1942 ई0 में आजादी के लिए अंतिम युद्ध प्रारंभ होगा। कमर कसकर तैयार हो जाओ। भारत की दासता के अंत का समय अब हाथ में है।''

यहॉ यह भी उल्लेखनीय है कि बर्लिन आजाद हिन्द रेडियो से 7 भाषाओं – अंग्रेजी, हिन्दी, बंगाली, तमिल, तेलुगु, गुजराती और पश्तों में नियमित प्रसारण किया जाता था। रेडियो से प्रसारित की गई सुभाष की इन बातों को मलाया और सिंगापुर में भी इण्डियन नेशनल आर्मी के लोगों ने भी सुनी और उनमें एक नये जोश का संचार हुआ। एक वर्ष बाद सुभाष चन्द्र बोस पनडुब्बी द्वारा जर्मनी से जापानी नियंत्रण वाले सिंगापुर पहुँचे और पहुँचते ही जून 1943 में टोकियो रेडियो से घोषणा की कि अंग्रेजों से यह आशा करना बिल्कुल व्यर्थ है कि वे स्वयं अपना साम्राज्य छोड़ देंगे। हमें भारत के भीतर व बाहर से स्वतंत्रता के लिये स्वयं संघर्ष करना होगा। इससे प्रफुल्लित होकर रासबिहारी बोस ने 4 जुलाई 1943 को 46 वर्षीय सुभाष चन्द्र बोस को इण्डियन नेशलन आर्मी का नेतृत्व सौंप दिया जिसे 'आजाद हिन्द फौज' के नाम से जाना जाता है।

5 जुलाई 1943 को सिंगापुर के टाउन हाल के सामने आजाद हिन्द फौज के सुप्रीम कमाण्डर के रूप में नेताजी सुभाष चन्द्र बोस ने सेना को सम्बोधित करते हुए ''दिल्ली चलो!'' का नारा दिया। अपने सैनिकों को सम्बोधित करते हुये सुभाष चन्द्र बोस ने कहा – ''वर्तमान में मै आपको कुछ नही दे सकता हूँ। केवल भूख, प्यास, कष्ट और मृत्यु को आलिंगनबद्ध करने की प्रेरणा। इसका कोई महत्व नही है कि स्वतंत्रता देखने के लिए हमारे में से कौन जीवित बचता है। यही बहुत है कि भारत स्वतंत्र होगा। इसकी स्वतंत्रता के लिए हम अपना सब कुछ दे देंगे। भगवान हमारी सेना की रक्षा करे और उसे आने वाले जंग में विजयी बनाऍ।''

वह आगे कहते है – ''साथियों ! आपका नारा है दिल्ली चलो। स्वतंत्रता संग्राम में आपमें से कितने सैनिक जीवित बचेंगे, मैं नही जानता परन्तु मैं यह जरूर जानता हूँ कि अंत में विजय हमारी ही होगी। हमारा कार्य तबतक समाप्त नहीं होगा जबतक हमारे जवान दिल्ली के ऐतिहासिक लालकिले में विजय परेड नहीं कर लेते।'' 'जय हिन्द' के साथ सुभाष चन्द्र बोस ने अपना भाषण समाप्त कर दिया।

आजाद हिन्द सरकार की स्थापना –

अगस्त 1943 में वह बर्मा के स्वतंत्रता समारोह में भाग लेने के लिए रंगून पहुँचे। रंगून के प्रसिद्ध जुबिली हाल में जनसमूह को सम्बोधित करते हुये सुभाष चन्द्र बोस ने कहा – स्वतंत्रता आपसे बलिदान मॉग रही है। इसके लिए हमें अपना सबकुछ देना होगा।

आजादी को आज अपने शीशों के पुष्प चढा देने वाले पागल पुजारियों की आवश्यकता है। स्वतंत्रता संग्राम में विजय रक्त की बूँदों से लिखी जाती है। तुम मुझे खून दो, मै तुझे आजादी दूँगा। इस सम्बोधन के बाद कुछ युवक उनके सामने आकर खडे हो गये और बोले– हम अपना खून देंगे और आजादी लेकर रहेंगे। उनके अनुयायी प्रेम से उन्हें नेताजी कहते थे। बहुत कम लोग जानते है कि सुभाष चन्द्र बोस को 'नेताजी' का नाम आबिद हसन सफरानी ने दिया। वे वही शख्तियत थे जिन्होने 'जय हिन्द' का नारा लिखा था। सुभाष चन्द्र बोस ने अपने अनुयायियों को जय हिन्द का अमर नारा दिया और 21 अक्टूबर 1943 को सुभाषचन्द्र बोस ने आजाद हिन्द फौज के सर्वोच्च सेनापति की हैसियत से सिंगापुर में स्वतंत्र भारत की अस्थायी सरकार 'आज़ाद हिन्द सरकार' की स्थापना की। अपने इस सरकार के राष्ट्रपति, प्रधानमंत्री तथा सेनाध्यक्ष तीनों का पद नेताजी ने अकेले संभाला। इसके साथ ही अन्य जिम्मेदारियां जैसे वित्त विभाग एस0सी0 चटर्जी को, प्रचार व सूचना प्रसारण विभाग एस0ए0 अय्यर को तथा महिला संगठन लक्ष्मी स्वामीनाथन को सौंपा गया। सुभाष चन्द्र बोस ने आजाद हिन्द फौज की महिला शाखा 'रानी झॉसी रेजीमेंट' की स्थापना की और डा0 लक्ष्मी को प्रथम कमाण्डर नियुक्त किया गया। इस महिला रेजीमेंट में महिलाओं को इस तरह प्रशिक्षित किया गया कि उन्हे जासूसी जैसे कार्यो में महारत हासिल हो गयी थी। नीरा आर्या और सरस्वती राजामणि जैसे महिला जासूसों का नाम बडे गर्व से लिया जाता है। रासबिहारी बोस को प्रथम परामर्शदाता के पद पर आसीन किया गया। उनके इस सरकार को जर्मनी, जापान, फिलीपीन्स, कोरिया, चीन, इटली, मान्चुको और आयरलैंड ने मान्यता दे दी।

आजाद हिंद सरकार का अपना बैंक भी था जिसे आजाद हिंद बैंक का नाम दिया गया था जिसकी स्थापना साल 1943 में हुई। इस बैंक ने दस रुपये के सिक्के से लेकर एक लाख रुपये तक का नोट जारी किया था। एक लाख रुपये के नोट पर नेताजी सुभाष चंद्र बोस की तस्वीर छपी थी और स्वतंत्र भारत लिखा था। एक हजार के नोट पर भारत का नक्शा, सौ रुपए के नोट पर तिरंगा और किसान और दस रुपए के नोट पर हिंदुस्तान और जय हिंद लिखा होता था। सारे नोटों पर नेताजी की तस्वीरें होती थी और ये नोट बर्मा के रंगून में छपते थे। इस सरकार का अपना डाक टिकट और झंडा तिरंगा था। वहीं राष्ट्रगान जन–मन–गण को बनाया गया था। एक दूसरे के अभिवादन के लिए जय हिंद के नारे का इस्तेमाल किया जाता था।

इसके बाद शीघ्र ही ब्रिटिश सरकार के खिलाफ युद्ध की घोषणा कर दी गई। जापान ने अंडमान व निकोबार द्वीप इस अस्थायी सरकार को दे दिये। ले0 कर्नल ए0डी0 लोकनाथन को अस्थायी सरकार की तरफ से इन द्वीपों का प्रथम भारतीय प्रशासक नियुक्त किया गया। नेताजी उन द्वीपों में गये और उनका नया नामकरण किया। अंडमान का नया नाम शहीद द्वीप तथा निकोबार का स्वराज्य द्वीप रखा गया। 30 दिसम्बर 1943 को इन द्वीपों पर स्वतन्त्र भारत का ध्वज भी फहरा दिया गया। इसके बाद नेताजी सुभाष चन्द्र बोस ने सिंगापुर एवं रंगून में आज़ाद हिन्द फ़ौज का मुख्यालय बनाया। 4 फ़रवरी 1944 को आजाद हिन्द फौज ने अंग्रेजों पर दोबारा भयंकर आक्रमण किया और कोहिमा, पलेल आदि कुछ भारतीय प्रदेशों को अंग्रेजों से मुक्त करा लिया। जापानी सेना के साथ मिलकर आज़ाद हिन्द फौज बर्मा सहित रंगून (यांगून) से होती हुई थलमार्ग से अराकान की पहाड़ियों की ओर बढ़ी। यह सेना भारत

की ओर बढ़ती हुई 18 मार्च 1944 ई0 को कोहिमा और इम्फ़ाल के भारतीय मैदानी क्षेत्रों में पहुँच गई और ब्रिटिश व कामनवेल्थ सेना से जमकर मोर्चा लिया। 21 मार्च 1944 को दिल्ली चलो के नारे के साथ आज़ाद हिंद फौज का हिन्दुस्तान की धरती पर आगमन हुआ। इम्फाल पर आक्रमण करने की तिथि 7 अप्रैल 1944 निर्धारित की गई थी क्योंकि उन्हे इस बात का विश्वास था कि तीन सप्ताह बाद इम्फाल का पतन हो जायेगा। पर इसी समय इस प्रदेश में भारी वर्षा प्रारंभ हो गयी और आजाद हिन्द फौज का जापान से संचार सम्पर्क टूट गया। उन्हे अनेक कठिनाईयों का सामना करना पडा।

6 जुलाई 1944 को उन्होंने रंगून रेडियो स्टेशन से महात्मा गांधी के नाम जारी एक प्रसारण में अपनी स्थिति स्पष्ठ की और आज़ाद हिन्द फौज द्वारा लड़ी जा रही इस निर्णायक लड़ाई की जीत के लिये उनकी शुभकामनाएँ माँगी – मैं जानता हूँ कि ब्रिटिश सरकार भारत की स्वाधीनता की माँग कभी स्वीकार नहीं करेगी। मैं इस बात का कायल हो चुका हूँ कि यदि हमें आज़ादी चाहिये तो हमें खून के दरिया से गुजरने को तैयार रहना चाहिये। अगर मुझे उम्मीद होती कि आज़ादी पाने का एक और सुनहरा मौका अपनी जिन्दगी में हमें मिलेगा तो मैं शायद घर छोड़ता ही नहीं। मैंने जो कुछ किया है अपने देश के लिये किया है। विश्व में भारत की प्रतिष्ठा बढ़ाने और भारत की स्वाधीनता के लक्ष्य के निकट पहुँचने के लिये किया है। भारत की स्वाधीनता की आखिरी लड़ाई शुरू हो चुकी है। आज़ाद हिन्द फौज के सैनिक भारत की भूमि पर सफलतापूर्वक लड़ रहे हैं। हे राष्ट्रपिता! भारत की स्वाधीनता के इस पावन युद्ध में हम आपका आशीर्वाद और शुभ कामनायें चाहते हैं। सुभाषचन्द्र बोस द्वारा ही गांधीजी के लिए प्रथम बार 'राष्ट्रपिता' शब्द का प्रयोग किया गया था और तभी गॉधीजी ने भी उन्हे नेताजी कहकर सम्बोधित किया था। इसके अतिरिक्त सुभाष चन्द्र बोस ने फ़ौज के कई बिग्रेड बना कर उन्हें नाम दियेः– महात्मा गाँधी ब्रिगेड, अबुल कलाम आज़ाद ब्रिगेड, जवाहरलाल नेहरू ब्रिगेड तथा सुभाषचन्द्र बोस ब्रिगेड। सुभाषचन्द्र बोस ब्रिगेड के सेनापति शाहनवाज ख़ाँ थे।

फ़रवरी से लेकर जून 1944 ई0 के मध्य तक आज़ाद हिन्द फ़ौज की तीन ब्रिगेडों ने जापानियों के साथ मिलकर भारत की पूर्वी सीमा एवं बर्मा से युद्ध लड़ा किन्तु दुर्भाग्यवश द्वितीय विश्व युद्ध का पासा पलट गया। जर्मनी ने हार मान ली और जापान को भी घुटने टेकने पड़े। घुरी राष्ट्रों की हार से आजाद हिन्द फौज लडखडाने लगी। 3 मई 1945 को रंगून में आजाद हिन्द फौज बुरी तरह हार गई। रंगून पतन के साथ ही कमाण्डर मेजर जनरल लोकनाथन भी अंग्रेजी सेना द्वारा बन्दी बना लिये गये। इस हार से आजाद हिन्द फौज की कमर टूट गई। इससे पूर्व कैप्टन सहगल भी 500 सौ सैनिकों के साथ आत्मसमर्पण करने के लिए मजबूर हो गये थे। आजाद हिन्द बैंक पर भी अंग्रेजी सेना ने अपना अधिकार कर लिया और लोगों की जमा राशि लगभग 35 लाख रुपये भी जब्त कर लिये। शीध्र ही शाहनवाज खॉ भी गिरफ्तार हो गये। ऐसे में नेताजी को टोकियो की ओर पलायन करना पड़ा। जापान की हार और विकट परिस्थितियों को देखते हुये नेताजी ने महसूस किया कि अब सिंगापुर में रहना खतरे से खाली नही है और इसके लिए वे नया रास्ता ढूँढने का प्रयास करने लगे। 18 अगस्त 1945 ई0 को वहॉ से जापान के एक बाम्बर विमान से सुभाष चन्द्र बोस बैंकाक के लिए निकल गये। इस सफर के दौरान उनके साथ कर्नल हबीबुर्रहमान और 9 लोग और थे। इस सफर के दौरान वे लापता हो गये और इस दिन के बाद वे कभी किसी

को दिखाई नही पडे। कहते हैं कि हवाई दुर्घटना में उनका निधन हो गया किन्तु इस बात की पुष्टि अभी तक नहीं हो सकी है।

23 अगस्त 1945 ई0 को टोकियो रेडियो ने बताया कि सैगोन में नेताजी एक बड़े बमवर्षक विमान से आ रहे थे कि 18 अगस्त को ताइवान के पास उनका विमान दुर्धटनाग्रस्त हो गया। विमान में सवार उनके सभी साथी मारे गये। नेताजी गंभीर रुप से जल गये थे और उन्हे ताइहोकू सैनिक अस्पताल ले जाया गया जहॉ उन्होने दम तोड़ दिया। कर्नल हबीबुर्रहमान के अनुसार उनका अन्तिम संस्कार ताइहोकू में ही कर दिया गया। सितम्बर के मध्य में उनकी अस्थियॉ संचित करके जापान की राजधानी टोकियो के रैंकोजी मन्दिर में रख दी गयी।

मूल्यांकन –

इस प्रकार 18 अगस्त 1945 के दिन नेताजी सुभाष चन्द्र बोस कहॉ लापता हो गये और उनका आगे क्या हुआ, यह भारतीय इतिहास का सबसे बड़ा अनुत्तरित रहस्य है। यह भी उल्लेखनीय है कि देश के अलग–अलग हिस्सों में समय–समय पर सुभाष चन्द्र बोस को देखने और मिलने का दावा करने वाले लोगों की भी कमी नही है। फैजाबाद के गुमनामी बाबा से लेकर रायगढ़ तक में नेताजी के होने को लेकर कई दावे पेश किये गये लेकिन अन्ततः इन सभी की प्रामाणिकता संदिग्ध ही साबित हुई। स्वतंत्रता के पश्चात भारत सरकार ने भी इस घटना की जॉच के लिए समय–समय पर जॉच आयोगों का गठन किया लेकिन इन आयोगों की रिपोर्टो में भी यही खुलासा किया गया कि सुभाष चन्द्र बोस उस विमान दुर्धटना में शहीद हो गये। 1999 में मनोज कुमार मुखर्जी के नेतृत्व में गठित मुखर्जी आयोग ने ताइवान सरकार के हवाले से जरूर यह बात सामने लाया कि 1948 ई0 में ताइवान की भूमि पर कोई हवाई जहाज दुर्घटनाग्रस्त हुआ ही नही था और इस प्रकार विमान हादसे में सुभाष चन्द्र बोस के मौत के सिद्धान्त को खारिज कर दिया। इसी के आधार पर जब 2005 में जब मुखर्जी आयोग ने अपनी रिपोर्ट भारत सरकार के सम्मुख रखी तो भारत सरकार ने इस रिपोर्ट को ही अस्वीकार कर दिया।

जनवरी 1966 में मिडिया रिपोर्ट्स से आयी कुछ तश्वीरें सुभाष चन्द्र बोस की मौत की गुत्थी को और भी उलझा देती है जब 1965 ई0 की जंग के बाद तात्कालीन प्रधानमंत्री लाल बहादुर शास्त्री शान्ति समझौते के लिए ताशकन्द पहुॅचे थे। शान्ति समझौते के लिए पाकिस्तान की तरफ से तानाशाह अयूब खॉ मौजूद थे। इस दौरान की ताशकन्द में ली गई एक ऐसी तस्वीर को लेकर दावा किया गया कि नेताजी 1966 में ताशकंद में मौजूद थे। नेताजी की मौत के रहस्यों का पता लगाने में जुटे ब्रिटिश एक्सपर्ट नील मिलर ने फॉरेन्सिक टूल के तहत फेस मैपिंग तकनीक का इस्तेमाल कर इस फोटो को खोजा जिसमें शास्त्रीजी के पीछे नेताजी जैसा शख्स दिखाई दे रहा था। एक्सपर्ट के मुताबिक फोटो में दिख रहे व्यक्ति का जब नेताजी के फोटो से मिलान किया गया तो वह हुबहू उन्ही के जैसा नजर आया। पर सच्चाई क्या है, ये कोई नही जानता और यह आज भी एक रहस्य बना हुआ है। लेकिन आज भी पूरा देश उन्हे मानता है, समझता है और उनकी यादों को अपने सीने से लगाये रखता है।

कुल मिलाकर आजाद हिन्द फौज के माध्यम से भारत को अंग्रेजों के चंगुल से आजाद कराने का नेताजी सुभाष चन्द्र बोस का प्रयास प्रत्यक्ष रूप से सफल नही हो सका किन्तु उसका दूरगामी परिणाम हुआ। 1946 में हुआ नौसेना विद्रोह इसका ज्वलन्त उदाहरण है। नौसेना विद्रोह के बाद ही ब्रिटेन को विश्वास हो गया कि अब भारतीय सेना की बल पर भारत में शासन करना असंभव है और भारत को स्वतंत्र करने के अलावा उसके पास कोई और दूसरा विकल्प नही है। वस्तुतः आजाद हिन्द फौज को छोड़कर विश्व इतिहास में ऐसा कोई दूसरा उदाहरण नही मिलता जहॉ 40 हजार युद्धबन्दियों ने संगठित होकर अपने देश की आजादी के लिए ऐसा सशक्त संघर्ष छेड़ा हो। जहॉ स्वतंत्रता से पूर्व विदेशी शासक नेताजी के समर्थ से घबराते रहे वही स्वतंत्रता के उपरान्त भारतीय जनमानस पर उनके व्यक्तित्व और कृतित्व के अमिट प्रभाव बना हुआ है। सुभाष चन्द्र बोस का अनुभव, त्याग, शौर्य और बलिदान भारतीयों को अपने देश की स्वाधीनता की रक्षा के लिए प्रेरणा देता रहेगा। वीर सावरकर ने स्वतंत्रता के उपरान्त देश के क्रान्तिकारियों के एक सम्मेलन का आयोजन किया था और उसमें अध्यक्ष के आसन पर सुभाष चन्द्र बोस के तैलचित्र को आसीन किया था। यह एक क्रान्तिकारी द्वारा दूसरे क्रान्तिवीर को दी गयी अभूतपूर्व सलामी थी।

विजयी सेना के जयघोष के किस्सों से तो इतिहास भरा हुआ है, लेकिन ऐसे मौके विरले आते हैं जब पराजित सेना का पराक्रम घर–घर हर जुबान पर हो और परास्त सेनापति का आभामंडल असहमत पक्ष को अपनी ओर खींच ले। आजाद हिंद फ़ौज और नेताजी सुभाष चंद्र बोस के मामले में ऐसा ही हुआ। पर अफसोस की बात है कि आजाद भारत में इतिहास को लेकर जो उदारवादी बहस चली, उसमें आजाद हिंद फौज को स्वतंत्रता के संघर्ष के लिए पर्याप्त श्रेय नहीं दिया गया। सच कहें तो यह एक सेकुलर फौज थी। इसमें सभी वर्गों और जातियों से आए लोग थे। आजादी के बाद देश की जो सेना बनी, आजाद हिंद फौज ने इस लिहाज से उसे भी प्रभावित किया। बोस की फौज के साथ और भी नाइंसाफियां हुईं। फौज के कुछ हाई प्रोफाइल कैदियों पर चला मुकदमा देश के लिए काफी अहमियत रखता था। इनमें से सभी को राजद्रोह और गद्दारी के आरोपों से बरी कर दिया गया, लेकिन किसी भी अफसर, महिला या पुरुष को आजादी के बाद भी भारतीय सेना में शामिल नहीं किया गया।

कुछ भी हो, सुभाष चन्द्र बोस तथा आजाद हिन्द फौज ने भारत में उन राष्ट्रवादियों की हताश भावना को ढांढस बंधाया जो निराश और मृतप्राय अवस्था में थी। आजाद हिन्द फौज ने सिद्ध कर दिया कि भारतीय सैनिक मात्र पैसे के लिए काम करने वाले योद्धा नही है, अपितु मातृभूमि के सच्चे सपूत और देशभक्त है। प्रसिद्ध इतिहासकार ताराचन्द के शब्दों में – ''सुभाष चन्द्र बोस तथा उनके द्वारा संगठित 'आजाद हिन्द फौज' का महत्व इन बातों पर है कि भारतीय स्वाधीनता का प्रश्न ब्रिटिश दायरे से निकलकर अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के विस्तृत क्षेत्र में चला गया।''

आजाद हिन्द फौज के युद्धबन्दियों के मुकदमें –

बर्मा की टोपा पहाड़ी पर समर्पण के बाद आजाद हिंद फौज के 20,000 सैनिकों को वापस भारत लाया गया था। कुछ सैनिकों को जापानी या आजाद हिंद फौज के प्रचार से भटका हुआ मानकर उन्हें 'सफेद' और 'भूरे' में वर्गीकृत किया गया और उन्हें या तो रिहा कर दिया गया या सेना में बहाल कर किया गया। लेकिन जो सबसे प्रतिबद्ध माने

गये, उनको 'काले' की श्रेणी में रखा गया और अंग्रेजी हुकूमत ने उनका कोर्ट मार्शल करने का फैसला किया। ब्रिटिश सरकार को लगा कि प्रतिबद्ध 'काले' युद्धबंदियों पर मुकदमा न चलाना सरकार की कमजोरी मानी जायेगी और उनके विश्वासघात को बर्दाश्त करने पर भारतीय सेना की वफादारी खतरे में पड़ जायेगी। इसलिए आजाद हिंद फौज के बंदियों पर कुल मिलाकर दस मुकदमे चलाये गये।

लालकिले का मुकदमा –

पहला और सबसे प्रसिद्ध मुकदमा 5 नवंबर 1945 को दिल्ली के लालकिले में आजाद हिंद फौज के तीन अफसरों– प्रेमकुमार सहगल, गुरदयाल सिंह ढिल्लों और शाहनवाज खाँ पर शुरू हुआ और दो माह तक चला। ये तीनों अफसर पहले ब्रिटिश भारतीय सेना के अधिकारी थे। इन पर ब्रिटिश सिंहासन के प्रति निष्ठा की शपथ भंग करने और इस प्रकार 'गद्दार' होने के आरोप लगाये गये थे।

कांग्रेस ने आजाद हिंद फौज के इन 'गुमराह देशभक्तों' के बचाव के लिए 'आजाद हिंद फौज सुरक्षा समिति' का गठन किया और उनका मुकदमा लड़ने का फैसला किया। इस ऐतिहासिक मुकदमे में सुप्रसिद्ध विधिवेत्ता भूलाभाई देसाई ने बचाव पक्ष के वकीलों की अगुवाई की। सर तेजबहादुर सप्रू, कैलाशनाथ काटजू एवं आसफ अली उनके सहायक थे। कार्यवाही के पहले दिन नेहरू भी वकीलों की पोशाक पहनकर अदालत में मौजूद थे। युद्धबंदियों को आर्थिक सहायता तथा रोजगार देने के लिए 'आजाद हिंद फौज राहत एवं जाँच समिति बनाई गई।

मुकदमे के विरुद्ध जन–उभार :

ब्रिटिश सरकार द्वारा आजाद हिंद फौज के युद्धबंदियों पर मुकदमा चलाये जाने के निर्णय के विरुद्ध पूरे देश में एक 'जन–उभार' फूट पड़ा। इस जन उभार के कई कारण थे। एक तो सरकार ने युद्धबंदियों पर सार्वजनिक मुकदमा चलाने का निर्णय लिया। दूसरा, यह मुकदमा ऐतिहासिक लालकिले में चला, जिसे अंग्रेजों के साम्राज्यिक प्रभुत्व का सबसे प्रामाणिक प्रतीक समझा जाता था, क्योंकि आखिरी मुगल बादशाह और 1857 के विद्रोह के सर्व–स्वीकृत नेता बहादुरशाह जफर पर 1858 में यहीं मुकदमा चलाया गया था। तीसरा, कांग्रेस के साथ–साथ भारत के प्रायः सभी राजनीतिक दलों ने युद्धबंदियों के बचाव का समर्थन किया। चौथा, समाचार–पत्रों ने मुकदमे की रिपोर्टों, सभाओं और प्रदर्शनों को प्रमुखता से प्रकाशित किया, जिससे आजाद हिंद फौजियों के बलिदानों के बारे में जागरूकता और बढ़ी और कुछ हद तक भावनाएँ भी और भड़कीं। इसके अलावा, संयोग से तीनों अभियुक्त तीन अलग–अलग धर्मों के थे– एक हिंदू (प्रेम कुमार सहगल), एक सिख (गुरुबख्श सिंह ढिल्लो) और एक मुसलमान (शाहनवाज खान) और तीनों को एक ही कटघरे में खड़ा करके मुकदमा चलाया गया।

आजाद हिंद फौज के युद्धबंदियों की रिहाई की माँग को लेकर भारतवासियों ने जिस अभूतपूर्व एकता का परिचय दिया, वह अप्रत्याशित था। चूँकि द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद प्रेस सेंसरशिप को हटा दिया गया था, इसलिए आजाद हिंद फौज के अभियान के ब्यौरे प्रतिदिन भारतीय जनता के सामने आते रहे और ये अफसर किसी भी तरह गद्दार न लगकर, उच्चकोटि के देशभक्त नजर आने लगे। फलतः मुकदमे बंद करने की माँग दिन–प्रतिदिन जोर पकड़ती गई। देश के प्रायः सभी क्षेत्रों और सभी वर्गों की जनता ने

सरकार के विरुद्ध इस आंदोलन का समर्थन किया और विभिन्न तरीकों से अपने रोष का प्रदर्शन किया। समाचार–पत्रों के संपादकों ने अपने लेखों और पैम्फलेट्स के माध्यम से जनता को आंदोलन के समर्थन में आगे आने का आह्वान किया। पूरे देश में हिंदू, मुसलमान, सिख, छात्र, मजदूर तथा आम जनता मुकदमे के विरोध में सड़क पर उतर आये। 5 से 11 नवंबर तक 'आजाद हिंद फौज सप्ताह' और देश भर के नगरों में 12 नवंबर को 'आजाद हिंद फौज दिवस' मनाया गया। छात्र सबसे अधिक सक्रिय थे। छात्रों ने न केवल शिक्षण संस्थाओं का बहिष्कार किया, अपितु सभाओं, प्रदर्शनों एवं हड़तालों का आयोजन भी किया और पुलिस से उनकी हिंसक मुठभेडें भी हुईं। कुछ जगहों पर दीवाली तक नहीं मनाई गई। दुकानदारों ने अपनी दुकानें बंद कर दी। उनमें से कई सभाओं और जुलूसों में भी चलते थे। जिनमें इतना साहस नहीं था, वे आजाद हिंद फौज राहत कोष में चंदा देते और दिलवाते थे। जिला बोर्डों, नगरपालिकाओं, प्रवासी भारतीयों, गुरुद्वारा समितियों, कैंब्रिज मजलिस, बंबई और कलकत्ता के फिल्मी सितारों के अलावा अमरावती के तांगे वालों ने भी चंदा दिया। अखिल भारतीय महिला सम्मेलन ने भी आजाद हिंद फौज के युद्धबंदियों के रिहाई की माँग की। कलकत्ता के गुरुद्वारे युद्धबंदियों के पक्ष में प्रचार के केंद्र बन गये।

भौगोलिक दृष्टि से दिल्ली, पंजाब, बंगाल, बंबई, मद्रास तथा संयुक्त प्रांत आंदोलन के प्रमुख केंद्र तो थे ही, अजमेर, बलूचिस्तान, असम, कुर्ग, ग्वालियर तथा दूर–दराज के गाँवों में भी संवेदना और समर्थन का वातावरण था । गुप्तचर ब्यूरो के निदेशक की मानें तो नागरिक संघर्ष दूर–दूर के गाँवों तक फैल गया था। स्थान–स्थान पर सभाओं व प्रदर्शनों की बाढ़ आ गई थी और पूरे देश में 'लाल किले को तोड़ दो, आजाद हिंद फौज को छोड़ दो' के नारे गूँजने लगे थे।

राजनीतिक दलों में, वायसरॉय के अनुसार, युद्धबंदियों के बचाव में कांग्रेस सबसे मुखर थी, किंतु कांग्रेस समाजवादी पार्टी, अकाली दल, यूनियनवादी, जस्टिस पार्टी, सिख लीग, अहरार पार्टी, राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ और हिंदू महासभा जैसे सभी प्रमुख राजनीतिक दलों ने, यहाँ तक कि मुस्लिम लीग ने भी, युद्धबंदियों के बचाव आंदोलन का समर्थन किया। प्रदर्शनों में स्वतंत्र रूप से अनेक साम्यवादी, जैसे कलकत्ता के छात्र नेता गौतम चट्टोपाध्याय और सुनील जोशी ने भी उत्साह से भाग लिया, जबकि उनकी पार्टी की प्रतिक्रिया ढुलमुल थी।

आजाद हिंद फौज आंदोलन इतना व्यापक था कि ब्रिटिश राज के परंपरागत समर्थक माने जाने वाले सरकारी कर्मचारी एवं सशस्त्र सेनाओं के लोग भी आंदोलनकारियों का समर्थन किये। उत्तर–पश्चिम सीमाप्रांत के राज्यपाल कनिंघम ने वायसरॉय को आगाह किया था कि "ब्रिटिश–विरोधी शिविर में शामिल होनेवाले अच्छे–भले लोगों की संख्या दिन–प्रतिदिन बढ़ती जा रही है।" गुप्तचर ब्यूरो के निदेशक ने भी सरकार को चेतावनी दी थी कि "आजाद हिंद फौज के प्रति संवेदना सिर्फ उन्हीं लोगों तक सीमित नहीं है, जो आमतौर पर सरकार के खिलाफ हैं।" उसका मानना था कि आजाद हिंद फौज के लोग प्रायः उन परिवारों से आये हैं, जो पीढ़ियों से सरकार के प्रति वफादार रहे हैं। कमांडर इन चीफ ऑचिनलेक ने भी स्वीकार किया था कि भारतीय अधिकारियों में शत–प्रतिशत की और जवानों में अधिकांश की सहानुभूति आजाद हिंद फौज के साथ

है। इस प्रकार इस आंदोलन ने भारत में ब्रिटिश सरकार के अपने कानून चलाने के अधिकार के आगे प्रश्नचिन्ह लगा दिया।

हिंसक मुठभेड़ें –

इस समय राष्ट्रवादी भावना का उभार इतना तीव्र था कि आजाद हिंद फौज के मुकदमे को लेकर कलकत्ता में आंदोलनकारियों और पुलिस में हिंसक मुठभेड़ भी हुई। 7 नवंबर 1945 को हिंसा तब भड़की, जब मदुरै के एक विरोध–प्रदर्शन में शामिल भीड़ पर पुलिस ने गोलियाँ चलाई। फिर 21 और 24 नवंबर के बीच देश के विभिन्न भागों में हंगामे हुए। पहली हिंसक मुठभेड़ बोस के अपने नगर कलकत्ता में 21 नवंबर 1945 को हुई जब छात्रों का एक जुलूस, जो मुख्यतया फॉरवर्ड ब्लॉक का था, सरकारी सत्ता के प्रतीक डलहौजी स्क्वायर की ओर बढ़ा। पुलिस और छात्रों के हिंसक टकराव में पुलिस की गोली से 2 छात्र मारे गये और 52 घायल हो गये। जुलूस ने शीघ्र ही एक आम अंग्रेज–विरोधी रूप धारण कर लिया, जिसमें हड़ताली टैक्सी चालक और ट्राम मजदूर भी शामिल हो गये । प्रदर्शनकारियों ने अभूतपूर्व सांप्रदायिक सद्भाव का प्रदर्शन करते हुए कांग्रेस, लीग और कम्युनिस्ट पार्टी के झंडे एक साथ लहराये। अंततः तीन दिन बाद 33 के मरने और 200 लोगों के घायल होने के बाद ही व्यवस्था बहाल हो सकी।

कलकत्ता के उपद्रव के बाद जल्द ही बंबई, करॉची, पटना, इलाहाबाद, बनारस, रावलपिंडी में और दूसरी जगहों पर, या दूसरे शब्दों में, पूरे देश में ऐसे ही प्रदर्शन हुए। सरकार का दृढ़ निश्चय अब हिल गया। मुकदमे में बचाव पक्ष ने तर्क दिया कि अपने देश की स्वतंत्रता के लिए लड़नेवाले लोगों पर गद्दारी का मुकदमा नहीं चलाया जा सकता लेकिन उसके बाद भी उन्हें दोषी पाया गया। राष्ट्रवादी जन–उभार से घबड़ाये कमांडर–इन–चीफ ने उनकी सजाएं रद्द करके उनको 3 जनवरी 1946 को मुक्त कर दिया। जब ये तीनों अफसर लालकिले से बाहर निकले तो दिल्ली और लाहौर की जनसभाओं में उनका स्वागत शूरवीरों की तरह किया गया, और यह सब अंग्रेजों पर नैतिक विजय का जश्न था।

कैप्टन अब्दुर्रशीद अली का मुकदमा –

एक दूसरे मुकदमे में 4 फरवरी को आजाद हिंद फौज के कैप्टन अब्दुर्रशीद अली को, जिन्होंने कांग्रेस की बजाय मुस्लिम लीग की एक बचाव कमेटी को प्राथमिकता दी थी, सात वर्ष के कारावास की सजा सुनाई गई। इसके प्रतिरोध में 11 फरवरी 1946 को कलकत्ता में एक प्रतिवादी जुलूस निकाला गया, जिसका नेतृत्व मुख्यतः मुस्लिम लीग के छात्रों ने किया था, किंतु बाद में उसमें कांग्रेस, साम्यवादी नेतृत्ववाले स्टूडेंट फेडरेशन के सदस्य और औद्योगिक मजदूर भी शामिल हो गये। कांग्रेस, लीग और कम्युनिस्टों के लाल झंडे एक बार फिर साथ–साथ लहराये और बड़ी–बड़ी सभाएँ हुई, जिनको लीग, साम्यवादी और कांग्रेसी नेताओं ने संबोधित किया। जब पुलिस ने धर्मतल्ला स्ट्रीट पर कुछ प्रदर्शनकारियों को गिरफ्तार कर लिया, तो छात्र उत्तेजित हो गये और विरोधस्वरूप उन्होंने डलहौजी स्क्वायर क्षेत्र में धारा 144 का उल्लंघन किया। इस बार भी तीन दिन के निर्मम दमन के बाद व्यवस्था बहाल हुई, जिसमें 84 मारे गये और 300 घायल हुए। एक इतिहासकार के अनुसार, जिसने एक छात्र नेता के रूप में

इन प्रदर्शनों में भाग लिया था, 'स्थिति क्रांति के समान लग रही थी।' यह आग शीघ्र ही पूर्वी बंगाल में भी फैल गई और विद्रोह की भावना ने देश के दूसरे हिस्सों को भी प्रभावित किया, जब देश के लगभग सभी बड़े नगरों में सहानुभूतिपूर्ण विरोध–प्रदर्शन और हड़तालों के आयोजन हुए।

नौसेना विद्रोह, 1946 : राष्ट्रवाद का उत्थान –

रायल इण्डियन नेवी अर्थात शाही नौसेना हडताल ऐसे समय में हुई जब देश भर में राष्ट्रवादी भावना अपने चरम पर पहुॅच गई थी। 1945–46 में भारत में तीन हिंसक टकराव देखने को मिले –

1. आजाद हिन्द फौज के युद्धबन्दियों के मुकदमें को लेकर
2. आजाद हिन्द फौज के अधिकारी अब्दुल रशीद अली के मुकदमें और उनकी सजा को लेकर
3. जब रायल इण्डियन नेवी के नाविकों ने हड़ताल कर दी

दो घटनाओं का विवरण उपर दिया जा चुका है। यहॉ हम तीसरी घटना अर्थात रायल इण्डियन नेवी के विद्रोह की धटनाओं का एक संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत करेंगे।

आजाद हिन्द फौज के कैदियों पर चलाये जाने वाले मुकदमों के विरुद्ध देशव्यापी आन्दोलन से ब्रिटिश सरकार अभी उबर भी नही पाई थी कि फरवरी 1946 ई0 में शाही भारतीय नौसेना के नाविकों ने विद्रोह कर दिया। विद्रोह की स्वतःस्फूर्त शुरुआत नौसेना के सिगनल्स प्रशिक्षण पोत आई0एन0एस0 तलवार से हुई जब नाविकों द्वारा खराब खाने की शिकायत करने पर अंग्रेज कमान अफसरों ने नस्लीय अपमान और प्रतिशोध का रवैया अपनाया और कहा कि – 'भिखमंगों को चुनने की छूट नहीं होती''। इससे क्षुब्ध होकर 18 फरवरी 1946 को बम्बई में आई0एन0एस0 तलवार के 1100 नाविकों ने भूख हड़ताल कर दिया। उसके अगले ही दिन 19 फरवरी को यह हड़ताल कैसल, फोर्ट बैरकों और बम्बई बन्दरगाह के 22 जहाजों तक फैल गया। शीघ्र ही एक हड़ताल कमेटी का चुनाव किया गया और कमेटी ने अपनी प्रमुख मॉगे सामने रख दी। नाविकों की मॉगों में बेहतर खाने और गोरे व भारतीय नौसैनिकों के लिए समान वेतन के साथ ही आजाद हिन्द फौज के सिपाहियों और सभी राजनीतिक बन्दियों की रिहाई तथा इण्डोनेशिया से सैनिकों को वापस बुलाये जाने की मॉग भी शामिल थी। उनकी एक मॉग यह भी थी कि नाविक बी0सी0 दत्ता को, जिसे जहाज की दीवारों पर ''भारत छोडो'' लिखने के आरोप में गिरफ्तार कर लिया गया था, रिहा कर दिया जाय। विद्रोही बेड़े के मस्तूलों पर कम्युनिस्ट पार्टी, कांग्रेस और मुस्लिम लीग के झण्डे एक साथ फहरा दिये गये। 20 फरवरी को विद्रोह को कुचलने के लिए सैनिक टुकड़ियॉ बम्बई लायी गयीं। नौसैनिकों ने अपनी कार्रवाइयों के तालमेल के लिए पॉच सदस्यीय कार्यकारिणी चुनी। लेकिन शान्तिपूर्ण हड़ताल और पूर्ण विद्रोह के बीच चुनाव की दुविधा उनमें अभी बनी हुई थी, जो काफी नुकसानदेह साबित हुई। 20 फरवरी को उन्होंने अपने–अपने जहाजों पर लौटने के आदेश का पालन किया, जहॉ सेना के गार्डों ने उन्हें घेर लिया। अगले दिन कैसल बैरकों में नाविकों द्वारा घेरा तोड़ने की कोशिश करने पर लड़ाई शुरू हो गयी जिसमें किसी भी पक्ष का पलड़ा भारी नहीं रहा और

दोपहर बाद चार बजे युद्धविराम घोषित कर दिया गया। एडमिरल गाडफ्रे अब बमबारी करके नौसेना को नष्ट करने की धमकी दे रहा था। इसी समय लोगों की भीड़ गेटवे ऑफ इण्डिया पर नौसैनिकों के लिए खाना और अन्य मदद लेकर उमड़ पड़ी।

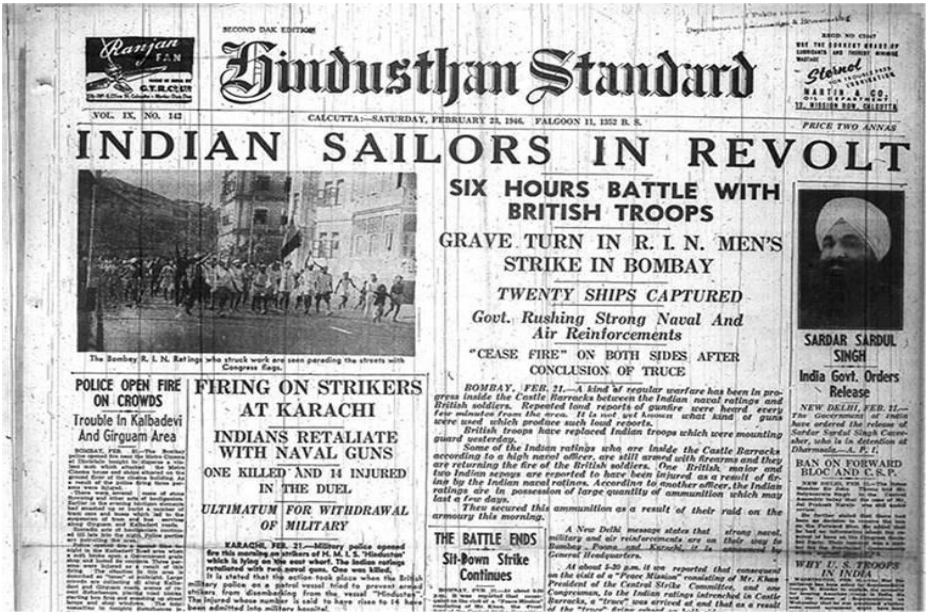

Ranjan T.N. G.T.R.C.U.S

SECOND DAK EDITION

Hindusthan Standard

VOL. IX, NO. 142 CALCUTTA:—SATURDAY, FEBRUARY 23, 1946. FALGOON 11, 1352 B. S. PRICE TWO ANNAS

Sterno

MARTIN & CO., 17, MISSION ROW, CALCUTTA

INDIAN SAILORS IN REVOLT

The Bombay R. I. N. Ratings who struck work are seen parading the streets with Congress flags.

SIX HOURS BATTLE WITH BRITISH TROOPS

GRAVE TURN IN R. I. N. MEN'S STRIKE IN BOMBAY

TWENTY SHIPS CAPTURED

Govt. Rushing Strong Naval And Air Reinforcements

"CEASE FIRE" ON BOTH SIDES AFTER CONCLUSION OF TRUCE

BOMBAY, FEB. 21.—A kind of regular warfare has been in progress inside the Castle Barracks between the Indian naval ratings and British soldiers. Repeated land reports of gunfire were heard every few minutes from the area. It is not yet known what kind of guns were used which produce such loud reports.

British troops have replaced Indian troops which were mounting guard yesterday.

Some of the Indian ratings who are inside the Castle Barracks according to a high naval officer, are still armed with firearms and they are returning the fire of the British soldiers. One British major and two Indian sepoys are reported to have been injured as a result of firing by the Indian naval ratings. According to another officer, the Indian ratings are in possession of large quantity of ammunition which may last a few days.

They secured this ammunition as a result of their raid on the armoury this morning.

A New Delhi message states that strong naval, military and air reinforcements are on their way to Bombay, Poona and Karachi. It is announced by General Headquarters.

At about 4-30 p.m. it was reported that consequent on the arrest of a "Peace Mission" consisting of Mr. Khas President of the Central Strike Committee, and one Congressman, by the Indian ratings intrenched in Castle Barracks, a "truce" was arrived at and that as a result

SARDAR SARDUL SINGH

India Govt. Orders Release

NEW DELHI, FEB. 21.—The Government of India have ordered the release of Sardar Sardul Singh Caveeshar, who is in detention at Dharmsala.—A. P. I.

BAN ON FORWARD BLOC AND C.S.P.

WHY U. S. TROOPS IN INDIA

POLICE OPEN FIRE ON CROWDS

Trouble In Kalbadevi And Girgaum Area

BOMBAY, FEB. 21.—The Bombay police opened fire this morning on strikers of H. M. I. S. "Hindustan" which is lying on the west wharf. The Indian ratings retaliated with two naval guns. One was killed.

It is stated that the action took place when the British military police on a patrol vessel tried to prevent armed strikers from disembarking from the vessel "Hindustan". The injured whose number is said to have risen to 14 have been admitted into military hospital.

FIRING ON STRIKERS AT KARACHI

INDIANS RETALIATE WITH NAVAL GUNS

ONE KILLED AND 14 INJURED IN THE DUEL

ULTIMATUM FOR WITHDRAWAL OF MILITARY

KARACHI, FEB. 21.—Military police opened fire this morning on strikers of H. M. I. S. "Hindustan" which is lying on the west wharf. The Indian ratings retaliated with two naval guns. One was killed.

It is stated that the action took place when the British military police on a patrol vessel tried to prevent armed strikers from disembarking from the vessel "Hindustan". The injured whose number is said to have risen to 14 have been admitted into military hospital.

THE BATTLE ENDS

Sit-Down Strike Continues

विद्रोह की खबर फैलते ही कराची, कलकत्ता, मद्रास और विशाखापत्तनम के भारतीय नौसैनिक तथा दिल्ली, ठाणे और पुणे स्थित कोस्ट गार्ड भी हड़ताल में शामिल हो गये। 22 फरवरी हड़ताल का चरम बिन्दु था, जब 78 जहाज, 20 तटीय प्रतिष्ठान और 20,000 नौसैनिक इसमें शामिल हो चुके थे। इसी दिन कम्युनिस्ट पार्टी के आह्वान पर बम्बई में आम हड़ताल हुई। नौसैनिकों के समर्थन में शान्तिपूर्ण प्रदर्शन कर रहे मजदूर प्रदर्शनकारियों पर सेना और पुलिस की टुकड़ियों ने बर्बर हमला किया, जिसमें करीब तीन सौ लोग मारे गये और 1700 घायल हुए। इसी दिन सुबह, कराची में भारी लड़ाई के बाद ही **'आई0एन0एस0 हिन्दुस्तान'** जहाज से आत्मसमर्पण कराया जा सका। अंग्रेजों के लिए हालात संगीन थे, क्योंकि ठीक इसी समय बम्बई के वायु सेना के पायलट और हवाई अड्डे के कर्मचारी भी नस्ली भेदभाव के विरुद्ध हड़ताल पर थे तथा कलकत्ता और दूसरे कई हवाई अड्डों के पायलटों ने भी उनके समर्थन में हड़ताल कर दी थी। कैण्टोनमेण्ट क्षेत्रों से सेना के भीतर भी असन्तोष उभरने और विद्रोह की सम्भावना की खुफिया रिपोर्टों ने अंग्रेजों को भयाक्रान्त कर दिया था।

इन विद्रोहों के सिलसिले में एक महत्वपूर्ण तथ्य यह भी उभरकर सामने आया कि 1946 के प्रारंभ तक यद्यपि नौकरशाही और सेना में काफी अस्थिरता आ गई थी, फिर भी दमन करने की ब्रिटिश क्षमता अक्षुण्ण थी और उसके कठोर इस्तेमाल का इरादा भी बना हुआ था। सेना और जनसामान्य द्वारा काफी विरोध किये जाने पर आजाद हिन्द फौज के खिलाफ मुकदमा चलाने के निर्णय पर पुनर्विचार करना एक बात थी तथा कानून और व्यवस्था के समक्ष चुनौती उपस्थित होने पर उनका सामना करने की

जरुरत बिल्कुल दूसरी बात थी। ब्रिटिश सरकार इस मामले पर बिल्कुल स्पष्ट थी कि ऐसी चुनौतियों को कुचल देना है।

इन परिस्थितियों को देखते हुए नौसेना के विद्रोही जहाजियों से अरुणा आसफ अली जैसे समाजवादियों को सहानुभूति थी, किंतु गांधीजी ने हिंसा की निंदा की और कहा जाता है कि वल्लभभाई पटेल ने विद्रोही नाविकों को सलाह दी कि वे आत्म–समर्पण कर दें। गाँधीजी ने 22 फरवरी 1946 को कहा कि हिंसात्मक कार्रवाई के लिए हिन्दुओं–मुसलमानों का एकसाथ आना एक अपवित्र बात है। नौसैनिकों की निन्दा करते हुए उन्होंने कहा कि यदि उन्हें कोई शिकायत है तो वे चुपचाप अपनी नौकरी छोड़ दें। अरुणा आसफ अली ने इसका दोटूक जवाब देते हुए कहा कि नौसैनिकों से नौकरी छोड़ने की बात कहना उन कांग्रेसियों के मुँह से शोभा नहीं देता जो खुद विधायिकाओं में जा रहे हैं। सरदार पटेल के शब्दों में – ''सेना के अनुशासन से छेड़छाड़ नहीं की सकती.... हमें स्वतंत्र भारत तक में सेना की आवश्यकता होगी।'' वास्तव में पटेल ने नौसैनिकों को यह सलाह इस डर से नहीं दिया था कि स्थिति कांग्रेस के नियंत्रण से बाहर हो जायेगी या सेना में एक बार अनुशासनहीनता फैली, तो स्वतंत्र भारत में कांग्रेस को मुश्किल होगी। दसअसल वे यह समझ गये थे कि ब्रिटिश शासन विद्रोहियों का दमन करने में सक्षम है और उन्हें पूरी तरह नष्ट करने की धमकी दी भी जा चुकी थी। कांग्रेसियों की तरह साम्यवादियों ने भी न केवल नवंबर 1945 में, बल्कि फरवरी 1946 में भी कलकत्ता के लोगों से शांति बनाये रखने की अपील की थी। यह सही है कि नाविकों और छात्रों के प्रति लोगों की सहानुभूति तथा सरकारी दमन के प्रति उनका गुस्सा स्वतःस्फूर्त था और ये विद्रोह परंपरागत कांग्रेसी आंदोलनों के अहिंसात्मक स्वरूप से अलग, हिंसात्मक थे, किंतु अपनी मुखरता के कारण कांग्रेस ने न केवल जनता की साम्राज्यवाद विरोधी चेतना को और प्रखर किया, बल्कि एक तरह से पूरे देश को ब्रिटिश शासन के विरुद्ध खड़ा कर दिया। वस्तुतः आजाद हिंद फौज के 'गुमराह' देशभक्तों की सबसे गरम समर्थक कांग्रेस ही थी।

कांग्रेस और मुस्लिम लीग से समर्थन न मिलने से विद्रोहियों के हौसले टूटने लगे थे। अंत में वो सरदार पटेल के कहने पर समझौते के लिए तैयार हुए। पटेल ने उन्हें हथियार डाल देने को कहा और भरोसा दिलाया कि उनके साथ नरमी बरती जाएगी। कई लोग इसके खिलाफ थे और लड़ने को तैयार थे लेकिन शुरुआत से उन्होंने घोषणा की थी कि वो राष्ट्रीय नेताओं के कहने पर चलेंगे। ऐसे में वो सरदार पटेल का कहना कैसे ठुकरा सकते थे। दूसरी तरफ मुहम्मद अली जिन्ना की तरफ से भी ऐसा ही सन्देश आया।

23 फरवरी सुबह 6 बजे सरेंडर की शुरुआत हुई। हालांकि इसके बाद भी कई शिप थे, जिन्होंने ऐन मौके पर सरेंडर से इंकार कर दिया। आई0एन0एस0 अकबर में सवार 3500 नौसैनिक हथियार डालने को राजी नहीं थे। कुछ ऐसा ही हाल करॉची बंदरगाह का भी था, जहां आई0एन0एस0 हिंदुस्तान ने सरेंडर से इंकार कर दिया। जब ब्रिटिश जहाजों ने उसे चारों ओर से घेर लिया तो उसने मदद के लिए आई0एन0एस0 काठियावाड़ को डिस्ट्रेस सिग्नल भेजा। आई0एन0एस0 काठियावाड़ करॉची से काफी दूर था इसलिए उसने बॉम्बे का रुख किया। लेकिन जैसे ही वो बॉम्बे हार्बर में दाखिल हुआ, यहां उसका सामना ग्लासगो नाम के एक क्रूजर जहाज से हुआ, जो उससे शक्ति

और आकार में काफी बढ़ा था। इन छिटपुट घटनाओं के अलावा सरेंडर शांतिपूर्ण ढंग से पूरा हो गया।

अंग्रेजों ने सरदार पटेल से वादा किया था कि आत्मसमर्पण करने वाले लोगों के साथ नरमी बरती जाएगी लेकिन ऐसा नहीं हुआ। इनमें से 400 लोगों को मुलंद के पास एक कंसनट्रेशन कैंप भेज दिया गया जहां इनके साथ लंम्बे समय तक बुरा सुलूक किया गया। बाद में इन्हें नौकरी से बर्खास्त कर घर भेज दिया गया। आजादी के बाद भी इन लोगों को वो हक नहीं मिला जिसके ये हकदार थे।

आंदोलनों का महत्त्व –

विश्वयुद्ध के दौरान और बाद में सैन्यकर्मियों में बढ़ती राजनीतिक चेतना अंग्रेज अधिकारियों के लिए पहले ही चिंता का कारण बनी हुई थी। किंतु आजाद हिंद फौज के मुकदमों ने और उसके सैनिकों के प्रति सेना की बढ़ती सहानुभूति ने ब्रिटिश हुकूमत को पूरी तरह झकझोर दिया, क्योंकि 'भारत छोड़ो' आंदोलन के बाद तो यही सेना ही उनके शासन का एकमात्र विश्वसनीय सहारा थी। संभवतः इसलिए कमांडर–इन–चीफ जनरल ऑचिनलेक ने आजाद हिंद फौज के तीनों अफसरों की सजा को रद्द कर दिया था। उसने स्वयं वरिष्ठ अंग्रेज अधिकारियों के सामने स्वीकार किया था कि इन सजाओं को लागू करने की कोई भी कोशिश पूरे देश में अराजकता और संभवतः विद्रोह को भी जन्म देती, और सेना में असंतोष को भी, जिसके कारण उसका विघटन हो। विभिन्न केंद्रों में शाही भारतीय वायुसेना के सदस्यों और दूसरे सैन्यकर्मियों को न केवल अभियुक्तों से सहानुभूति थी, बल्कि वे राहत कोष में चंदा दिये और कुछ अवसरों पर तो पूरी वर्दी पहनकर विरोध सभाओं में शामिल हुए थे।

दूसरी तरफ नौसेना के विद्रोह के दौरान जो सांप्रदायिक एकता परिलक्षित हुई, वह जनएकता कम, संगठनात्मक एकता अधिक थी। यद्यपि कलकत्ता अगस्त 1946 में सांप्रदायिक दंगों की आग में जल रहा था फिर भी फरवरी 1946 में वहॉ के लोगों ने नाविकों के समर्थन में सराहनीय एकता का प्रदर्शन किया था। यद्यपि नाविकों ने कांग्रेस, मुस्लिम लीग एवं कम्युनिस्ट पार्टी, तीनों के झंडे जहाजों पर एक साथ लगाये थे, किंतु वैचारिक स्तर पर संप्रदायवाद से वे गहरे प्रभावित थे। नीतिगत मसलों पर विचार–विमर्श के लिए अधिकांश हिंदू नाविक जहॉ कांग्रेस के पास जाते थे, वहीं मुसलमान नाविकों का झुकाव मुख्यतः मुस्लिम लीग की ओर था।

फिर भी, सशस्त्र सेनाओं के ये अल्पकालिक विद्रोह कई दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण थे। इनके द्वारा जनता के लड़ाकूपन और उसकी निर्भीकता की अभिव्यक्ति हुई। अब भारतीय जनता आत्म–विश्वास के साथ ब्रिटिश सरकार से टकराने के लिए तत्पर हो गई थी। यद्यपि ब्रिटिश सरकार को विद्रोह की गंभीरता का अनुमान था और वह उसका दमन करने की अपनी क्षमता के बारे में भी आश्वस्त थी, किंतु शाही नौसेना के नाविकों के विद्रोह से सरकार को यह भी आभास हो गया कि अब विद्रोह को कुचलने के लिए सेना पर भरोसा नहीं किया जा सकता है। बाद में एक सरकारी जॉच आयोग से भी यह बात उजागर हो गई कि अधिकांश नौसैनिक राजनीतिक चेतना से संपन्न थे और आजाद हिंद फौज के प्रचार और आदर्शों से गहराई तक प्रभावित थे। इस विद्रोह के द्वारा जनता ने अपने लड़ाकूपन की समर्थ अभिव्यक्ति प्रदर्शित की। इस विद्रोह की

घटनाओं ने लोगों को भयमुक्त कर दिया। बिपिनचंद्र का मनानना है कि – ''रॉयल भारतीय नौसेना के विद्रोह की घटना ऐसी घटना है जो ब्रिटिश शासन के अंत में लगभग वैसा ही प्रतीक है, जैसे भारतीय स्वतन्त्रता दिवस।''

अपनी मुखरता के कारण इस विद्रोह ने न केवल जनता की साम्राज्यवाद विरोधी चेतना को प्रखर किया, बल्कि एक तरह से पूरे देश को ब्रिटिश शासन के खिलाफ खड़ा कर दिया था। इस तरह यह विद्रोह उन पूर्ववर्ती राष्ट्रवादी गतिविधियों का ही विस्तार था, जिससे कांग्रेस जुडी हुई थी। इस विद्रोह का आह्वान न तो कांग्रेस ने किया था और न ही किसी और पार्टी ने लेकिन शाही भारतीय नौसेना के नाविकों के प्रति लोगों की सहानुभूति और सरकारी दमन के प्रति उनका गुस्सा स्वतः स्फूर्त था।

माउण्टवेटेन योजना, विभाजन और स्वतंत्रता
Mountbatten Plan, Partiton and Independence .

माउन्टबेटन योजना (Mountbatten Plan)

लार्ड वैवेल के बाद लार्ड माउण्टबेटन 23 मार्च 1947 ई० को भारत के वायसराय नियुक्त किये गये। उन्हें ब्रिटिश सरकार का आदेश था कि वे 30 जून 1948 ई० के पहले भारतीयों के हाथ में सत्ता का हस्तान्तरण करा दें। उन्हें वायसराय बनाने का उद्देश्य यह था कि भारत–विभाजन का कार्य शीघ्र से शीघ्र सम्पन्न हो। उन्होंने अपना काम बड़ी तत्परता से शुरू कर दिया। भारत आने के उपरान्त वे इस निष्कर्ष पर पहुॅचे कि एक संयुक्त भारत के आधार पर मुस्लिम लीग और कांग्रेस के बीच समझौता होना असंभव है। अतः विभिन्न राजनीतिक दलों के नेताओं से उन्होंने बातचीत शुरू कर दी। मुस्लिम लीग भारत–विभाजन के प्रस्ताव पर डटी हुई थी और माउण्टबेटन का भी झुकाव इस तरफ था। कांग्रेस भी इस समय तक इस निष्कर्ष पर पहुॅच चुकी थी कि भारत का विभाजन अनिवार्य है। लार्ड माउण्टबेटन स्थिति का अध्ययन कर ब्रिटिश मन्त्रिमण्डल से परामर्श करने लन्दन गये। वहॉ से लौटकर 3 जून 1947 ई० को उन्होंने एक योजना सार्वजनिक रूप से घोषित कर दी। इस योजना को ही ''**माउण्टबेटन योजना**'' के नाम से जाना जाता है।

माउण्टबेटन योजना की मुख्य बातें –

माउण्टबेटन योजना की मुख्य बातें निम्नलिखित थी–

1. ब्रिटिश सरकार की यह इच्छा है कि भारत का शासन शीध्र ही ऐसी सरकार को सौंप दिया जाय जो जनता की इच्छा के अनुसार निर्मित हुई हो।
2. सरकार यह नही चाहती कि वर्तमान संविधान सभा के कार्य में किसी भी प्रकार से बाधा पड़े।
3. साथ ही यह भी स्पष्ट है कि संविधान सभा द्वारा निर्मित आसन्न व्यवस्था को देश के उन भागों पर नहीं थोपा जा सकता जो कि इसे स्वीकार करने के इच्छुक न हो।
4. बंगाल और पंजाब के बारे में यह कहा गया कि इन दोनों प्रान्तों की व्यवस्थापिकाऍ 'हिन्दू बहुल क्षेत्र की प्रतिनिधि' तथा 'मुस्लिम बहुल क्षेत्र की प्रतिनिधि' के रुप में अलग–अलग बैठकें करे। यदि दोनों क्षेत्रों के प्रतिनिधि यह तय करें कि सम्बद्ध प्रान्त का विभाजन न हो तो विभाजन नहीं किया जायेगा परन्तु यदि एक भी क्षेत्र के प्रतिनिधि विभाजन चाहते है तो विभाजन कर दिया जायेगा।
5. ऐसी स्थिति में विभाजन को क्रियान्वित के लिए एक आयोग का गठन किया जायेगा।
6. सिन्ध द्वारा अपने भाग्य का निर्णय अपनी विधानसभा के माध्यम से किया जायेगा।

7. सिलहट तथा उत्तरी–पश्चिमी सीमाप्रान्त का फैसला जनमत संग्रह द्वारा किया जायेगा।

8. बलूचिस्तान द्वारा प्रतिनिधिकारी संस्थाओं की बैठक के माध्यम से अपने भविष्य का फैसला किया जायेगा।

9. देशी रियासतें किसी अधिराज्य में सम्मिलित होने या अपना स्वतंत्र अस्तित्व बनाये रखने के लिए स्वतंत्र होंगी।

10. भारत तथा पाकिस्तान को राष्ट्रमण्डल की सदस्यता छोड़ने का अधिकार होगा।

लार्ड माउण्टबेटेन ने अपने वक्तव्य में यह भी कहा कि ब्रिटिश सरकार भारत की सत्ता को हस्तांतरित करने के लिए जून 1948 तक प्रतीक्षा नहीं करेगी। यह कार्य 1947 में ही सम्पन्न कर लिया जायेगा।

मुस्लिम लीग ने माउण्टबेटेन योजना को 9 जून 1947 को ही स्वीकार कर लिया। शुरू में कांग्रेस विभाजन सम्बन्धी प्रस्ताव के कारण इस योजना के विरुद्ध थी लेकिन 14–15 जून 1947 को दिल्ली में अखिल भरतीय कांग्रेस कार्यसमिति की बैठक में इसकी पुष्टि कर दी गई। पण्डित गोविन्द बल्लभ पंत ने प्रस्ताव की पुष्टि के लिए प्रस्ताव प्रस्तुत करते हुये कहा कि– आज हमें पाकिस्तान या आत्महत्या में से एक को चुनना है। देश की स्वतंत्रता और मुक्ति पाने का यही एकमात्र रास्ता है। इससे भारत में एक शक्तिशाली संघ की स्थापना होगी। आज विकल्प है तीन जून की योजना को स्वीकार करना या आत्महत्या करना।'' मौलाना आजाद ने कहा कि – "इस घोषणा के प्रकाशन के बाद भारत की एकता को बनाये रखने की सारी आशा समाप्त हो गयी। यह पहला अवसर था कि मन्त्रिमण्डल मिशन–योजना को अस्वीकृत कर दिया गया और विभाजन को अधिकारिक रूप से स्वीकृत कर लिया गया।" अन्ततः कांग्रेस ने भी वास्तविकता को स्वीकार करते हुये इस योजना को स्वीकृति प्रदान कर दी।

मुस्लिम लीग और कांग्रेस द्वारा स्वीकार कर लेने के उपरान्त इसे तुरन्त क्रियान्वित कर दिया गया। पश्चिमी पंजाब और पूर्वी बंगाल ने पाकिस्तान में बने रहने का निर्णय लिया। यही निर्णय सिन्ध, बलूचिस्तान तथा असम के सिलहट जिले ने लिया। उत्तर पश्चिमी सीमाप्रान्त के विलय के प्रश्न पर कांग्रेसी नेता खॉ अब्दुल गफ्फार खॉ का कहना था कि इस प्रश्न पर वोट न लिया जाय कि यह प्रान्त पाकिस्तान में शामिल हो या भारत में, पर उनकी बातों पर किसी ने ध्यान नही दिया। इसलिए खुदाई–खिदमतगारों ने जनमत संग्रह का बहिष्कार करने का निश्चय किया। जनमत संग्रह द्वारा उत्तरी–पश्चिमी सीमाप्रान्त ने पाकिस्तान के पक्ष में अपना मत प्रकट किया। खॉ अब्दुल गफ्फार खॉ ने विभाजन को कांग्रेस की ओर से विश्वासघात माना और अनुभव किया कि – ''खुदाई खिदमतगारों को भेंड़ियों के सामने फेंका जा रहा है।'' विभाजन को लागू करने के लिए 7 जून 1947 को एक विभाजन समिति का गठन किया गया। इसके अतिरिक्त सर रेडक्लिफ की अध्यक्षता में एक सेना आयोग की नियुक्ति की गई जिसका कार्य बंगाल और पंजाब के विभाजित क्षेत्रों की सीमा को निर्धारित करना था। हिन्दू महासभा ने भी भारत विभाजन की योजना की कटु आलोचना की।

भारतीय स्वतंत्रता अधिनियम, 1947 –

माउण्टबेटेन योजना की प्रतिज्ञा की पूर्ति के लिए ब्रिटिश संसद में 4 जुलाई 1947 को भारतीय स्वतंत्रता विधेयक प्रस्तुत किया गया और दो सप्ताह के अन्दर ही ब्रिटिश संसद ने इसे पारित कर दिया। भारतीय स्वतन्त्रता अधिनियम पारित होने पर वे सारे बंधन भी समाप्त हो गये जो कैबिनेट मिशन योजना द्वारा संविधान सभा पर लगाये गये थे। इसके मुख्य प्रावधान निम्नानुसार थे –

1. अधिनियम में 15 अगस्त, 1947 से भारत और पाकिस्तान नामक दो स्वतंत्र अधिराज्यों के गठन का प्राविधान था।
2. पाकिस्तान में शामिल प्रदेशों अर्थात पश्चिम पंजाब, बलूचिस्तान, उत्तरी–पश्चिमी सीमा प्रान्त, सिंध और पूर्वी बंगाल को छोड़कर शेष भाग भारतीय अधिराज्य क्षेत्र होगा। इसमें समूचा ब्रिटिश भारत शामिल होगा। इन दोनों अधिराज्यों (भारत तथा पाकिस्तान) की सीमाओं का निर्धारण सीमा आयोग द्वारा किया जाएगा।
3. प्रत्येक अधिराज्य के विधानमण्डल को अपने अधिराज्य के लिए कानून बनाने का पूरा अधिकार होगा। 15 अगस्त, 1947 के बाद ब्रिटिश संसद द्वारा पारित कोई भी अधिनियम किसी भी अधिराज्य में वैध नहीं होगा। संक्षेप में भारत पर ब्रिटिश संसद का क्षेत्राधिकार उस तारीख से समाप्त हो जाएगा।
4. 15 अगस्त, 1947 से ब्रिटिश सरकार की ब्रिटिश भारत की सरकार के प्रति कोई जिम्मेवारी नहीं रहेगी और उसकी महामहिम सरकार तथा भारतीय (देशी) रियासतों के शासकों या जनजातीय क्षेत्रों या किसी प्राधिकारी के बीच सम्पन्न हुई सभी संधियाँ और करार समाप्त हो जाएँगे।
5. दोनों अधिराज्यों तथा प्रान्तों का संचालन "जहाँ तक संभव हो सके" 1935 के अधिनियम के अनुसार उस समय तक चलाया जाएगा तब जक कि संबंधित संविधान सभा इसके लिए अन्य कोई संवैधानिक व्यवस्था तय नहीं कर लेती।
6. नए अधिराज्यों के बीच सशस्त्र सेनाओं तथा सिविल सेवाओं के विभाजन का भी प्रावधान किया गया। प्रत्येक अधिराज्य की अपनी सशस्त्र सेनाओं और सिविल सेवाओं पर अधिकार होगा।

अधिनियम का महत्व –

भारतीय स्वतंत्रता अधिनियम,1947 ने भारतीय इतिहास में ब्रिटिश शासन के अध्याय को समाप्त कर दिया और स्वतंत्र भारत के नये अध्याय को शुरू किया। प्रधानमंत्री एटली ने ब्रिटिश लोकसभा में कहा था कि यह घटनाओं की लम्बी तांता की चरम सीमा है। लार्ड सैमूयल ने कहा था कि यह इतिहास में एक अनोखी घटना है – बिना युद्ध के क्रान्ति। यह घटना अन्य दृष्टिकोणों से भारतीय इतिहास में महत्वपूर्ण है। इस अधिनियम से भारत की सदियों पुरानी दासता समाप्त हो गयी और ब्रिटिश राज का अन्त हो गया लेकिन देश के विभाजन ने राष्ट्रीय एकता को छिन्न–भिन्न कर दिया। इसने भारतीयों के समक्ष देशी रियासतों को स्वतंत्रता देकर एक कठिन समस्या खडी

कर दी। भारतीयों के सामने न केवल नये संविधान के निर्माण की समस्या खडी हुई अपितु उनपर देश के शासन संचालन का महान उत्तरदायित्व भी आ पडा।

देशी रियासतों का एकीकरण–

भारतीय स्वतंत्रता अधिनियम के अन्तर्गत देशी रियासतों से ब्रिटिश प्रभुता 15 अगस्त, 1947 को समाप्त हो गई थी। सिद्धान्ततः इसका तात्पर्य यह था कि अंग्रेजों द्वारा भारत छोड़ देने पर राज्यों की अपनी प्रभुसत्ता होगी। तथापि, कांग्रेस ने भारत में स्वतंत्रता की घोषणा करके शेष भारत से अलग रहने वाले किसी राज्य के अधिकार को नहीं माना। स्वतंत्रता प्राप्ति से एक माह से कम अवधि में ही देशी रियासतों की समस्या ने एक अन्य गंभीर चिन्ता उत्पन्न कर दी। वल्लभ भाई पटेल तथा वी0 पी0 मेनन को ही यह श्रेय जाता है कि उन्होंने सफलतापूर्वक देशी रियासतों का एकीकरण किया। सरदार पटेल जैसे राजनीतिज्ञों ने रियासतों के राजाओं को प्रेरित किया कि भारतीय संघ में शामिल होना ही उनके हित में है। लम्बी बातचीत के बाद, हैदराबाद, जूनागढ़ कश्मीर के अतिरिक्त, भौगोलिक रूप 'भारत के साथ सम्बद्ध देशी रियासतों के सभी शासकों ने 15 अगस्त, 1947 से पूर्व भारत के साथ विलय समझौते (Instrument of Accession) पर हस्ताक्षर कर दिए।

जूनागढ़ का नवाब पाकिस्तान के साथ विलय चाहता था लेकिन उसके विरुद्ध में हुए जन विद्रोह के कारण उसे भाग कर पाकिस्तान चला जाना पड़ा। जब पाकिस्तानी सैनिकों ने कश्मीर पर आक्रमण कर दिया, तब ॲक्टूबर, 1947 में कश्मीर के महाराजा ने कश्मीर का भारत के साथ विलय कर दिया। हैदराबाद के निज़ाम के विरुद्ध सैनिक कार्रवाई की गई तथा आन्तरिक अराजकता के दबाव में आकर उसे विवश होकर भारतीय संघ में शामिल होना पड़ा।

विभाजित स्वतंत्रता –

7 अगस्त, 1947 को मुहम्मद अली जिन्ना भारत से करॉची चले गए। पाकिस्तान की संविधान सभा ने 11 अगस्त को हुई अपनी बैठक में उन्हें राष्ट्रपति चुन लिया और तीन दिन बाद उन्हे पाकिस्तान के गवर्नर जनरल की शपथ दिलाई गई।

14 अगस्त, 1947 की रात को भारतीय संघ की संविधान सभा की बैठक हुई। स्वतंत्रता के अवसर पर संविधान सभा के सदस्यों के मध्य प्रभावशाली भाषण देते हुए जवाहरलाल नेहरू ने कहा – "अर्द्ध रात्रि के समय जब दुनिया सो रही होगी, भारत को नवजीवन और स्वतंत्रता मिलेगी। इतिहास में कुछ क्षण ऐसे होते हैं, जो विरले ही आते हैं, जब हम प्राचीनता से नवीनता की ओर अग्रसर होते हैं, जब एक युग समाप्त होता है और चिरकाल से दमित राष्ट्रीय आत्मा मुखर हो उठती है। यह उपयुक्त ही है कि इस अवसर पर हम भारत तथा भारत के लोगों की सेवा और यहॉ तक कि मानवता के अपेक्षाकृत अधिक बड़े उद्देश्य के लिए समर्पण का प्रण लें।"

इसके बाद संविधान सभा ने लॉर्ड माउण्टबैटन को भारत के अधिराज्य का प्रथम गवर्नर जनरल नियुक्त किया। 15 अगस्त की प्रातः जवाहरलाल नेहरू के नेतृत्व में नए मंत्रिमण्डल को शपथ दिलाई गई। जो स्वतंत्रता हमें मिली वह केवल विभाजित स्वतंत्रता थी। इसके साथ ही साम्प्रदायिक घृणा और क्रूरता के रूप में एक बड़ी

मानवीय त्रासदी प्रारम्भ हुई, जिसका कोई सादृश्य भारत के लिखित इतिहास में नहीं मिलता। यह कहना ही पर्याप्त होगा कि भारत को अपनी स्वतंत्रता के लिए एक भारी कीमत चुकानी पड़ी। दूसरी तरफ भारतीयों को संविधान सभा द्वारा स्वतंत्र भारत के संविधान के निर्माण का अधिकार दिया गया। लगभग आठ महीने के बहस के उपरान्त कुल मिलाकर 2 बर्ष 11 महीने और 18 दिन के अथक परिश्रम के बाद 26 नवम्बर 1949 तक संविधान निर्माण का कार्य पूरा कर लिया गया। इस तरह भारत से लगभग दो सौ पुराना अंग्रेजी राज्य समाप्त हो गया और भारत में एक नवीन स्वर्ण युग का सूत्रपात हुआ।

भारत विभाजन :

भारत–विभाजन भारतीय इतिहास की एक विराट, त्रासद और अभूतपूर्व घटना है और जिन परिस्थितियों में यह घटना घटी वह अत्यन्त दुःखदायी हैं। त्रासद इसलिए कि आश्चर्यजनक रूप से, इस विभाजन का कारण न तो कोई बाहरी आक्रमण था, न गृहयुद्ध, न उत्पादन या पूँजी या बाज़ार की आर्थिक विवशताएँ और न ही कोई प्राकृतिक प्रकोप या स्थायी भौगोलिक अवरोध। प्रत्यक्ष रूप से यह करोड़ों मनुष्यों का, सांवैधानिक रूप से अपना प्रतिनिधित्व करनेवाले नेताओं के माध्यम से, स्वेच्छा से चुना हुआ निर्णय था। यह निर्णय देश के इतिहास और सभ्यता के सन्दर्भ में लगभग उतना ही महत्त्वपूर्ण और काल को खण्डित करनेवाला निर्णय था, जहाँ से सभ्यताएँ और समाज या तो तत्काल आत्महत्या की ओर मुड़ जाते हैं या धीरे–धीरे आत्मविनाश की ओर या फिर अविश्वसनीय तरीके से अपनी जड़ता को तोड़कर उन्नति कर जाते हैं। अपने प्राचीन इतिहास, मिश्रित परम्पराओं और सीमाओं को अक्षुण्ण रखनेवाला देश अन्ततः 1947 में दो हिस्सों में बाँट दिया गया। विवेक, जनस्वीकृति और समस्त अपरिहार्यताओं की विवशता को ध्यान में रखने का दावा करते हुए, संवैधानिक तरीके से एक देश को फाड़कर उसके अन्दर से ही, उसके दूसरे प्रतिद्वन्द्वी देश को जन्म दे दिया गया। हिन्दुओं और मुसलमानों के साथ न रह सकने की विवशता इस विभाजन का नैतिक व अपरिहार्य आधार बनायी गयी।

वास्तव में भारत में साम्प्रदायिकता का उदय और विस्तार की चरम परिणति ही भारत विभाजन था। इसका प्रमुख कारण मुसलमानों की धार्मिक कट्टरता और उनकी साम्प्रदायिक भावना थी। ऐसा क्यों हुआ कि 1857 के विद्रोह की असफलता के बाद ही हिन्दू व मुसलमानों की दो अलग दिशाएँ तय होने लगीं जबकि लगभग पिछले छह सौ सालों से दोनों समाज व दोनों सभ्यताएँ साथ–साथ रह रहीं थीं। स्थायी रूप से विकसित हो चुकी इस अन्तर्भुक्ति को नष्ट करने के पीछे अवश्य ही कुछ प्रभावी व शक्तिशाली शक्तियाँ रही होंगी। बाहरी हस्तक्षेप के रूप में ब्रिटिश सरकार की नीतियाँ थीं जो कि एक शासक के लिए स्वयं को सत्ता में बनाये रखने के लिए अनिवार्य होती हैं। 1857 की हिन्दू–मुस्लिम एकता ने उन्हें बुरी तरह हिला दिया था। यह गठजोड़ ब्रिटिश सत्ता के लिए खतरनाक था। उनकी सारी प्रशासनिक चेष्टाएँ व राजनीतिक कौशल बाद में इसी में जुट गया कि भविष्य में ये दोनों धर्म संयुक्त रूप से उनके विरुद्ध न हो कर एक दूसरे के विरुद्ध हो जाएँ। ब्रिटिश सरकार अंततः इसमें सफल रही। मुख्य रूप से 1857 से लेकर 1947 ई0 तक निरन्तर ऐसे कारक पैदा होते रहे जो हिन्दू और मुसलमान दोनों के बीच विघटन और अलगाव को बढाते रहे। सदियों तक

साथ–साथ रहने के बावजूद भी हिन्दू और मुसलमान अपने धार्मिक मतभेदों को भुला नहीं सके थे। शिक्षा और आधुनिक विचारों की कमी तथा अंग्रेजों की दासता के कारण धर्म से अधिक श्रेष्ठ और उपयोगी आदर्श उनके सम्मुख नहीं बन सका। ऐसी स्थिति में सर सैयद अहमदखाँ के नेतृत्व में आरम्भ हुए अलीगढ़–आन्दोलन ने साम्प्रदायिक रूप धारण कर लिया। धीरे–धीरे भारतीय मुसलमान यह विश्वास करने लगे कि उनका हित न केवल बहुसंख्यक हिन्दुओं से भिन्न है अपितु उनके विरोध में भी है। सर मुहम्मद इकबाल ने साम्प्रदायिकता की इस भावना का पोषण किया और उनके साथ अन्य बहुत से मुसलमान नेता सम्मिलित हो गये। मुस्लिम लीग और उसके नेता मुहम्मद अली जिन्ना का इसमें सबसे बड़ा योगदान था। मुस्लिम लीग ने अपने पूरे राजनीतिक संघर्ष में अँग्रेजों के विरुद्ध कोई प्रत्यक्ष आन्दोलन नहीं छेड़ा। इसी तरह 1923 में हिन्दू महासभा के पुनर्गठन और शक्तिशाली होने के बाद व 1925 में राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ गठन के बाद हिन्दुओं के एक बड़े वर्ग का मुख्य शत्रु अँग्रेजी सरकार न होकर मुसलमान हो गया। यही अँग्रेज सरकार चाहती थी। मिस्टर जिन्ना के नेतृत्व में लीग की नीति दृढ़ और स्पष्ट हो गयी तथा वह मुसलमानों को प्रभावित करने में सफल हुई जिसका अन्तिम परिणाम भारत का विभाजन और पाकिस्तान का निर्माण था।

अंग्रेज शासकों ने इस साम्प्रदायिकता की भावना को निरन्तर प्रोत्साहन दिया। 1870 ई0 से अंग्रेजों ने मुसलमानों की सहानुभूति प्राप्त करने की नीति अपनायी, हिन्दू और मुसलमानों में अन्तर करना आरम्भ किया, मुसलमानों को सुरक्षा प्रदान की, हिन्दुओं की राष्ट्रीयता की भावना के विरुद्ध उन्हें प्रयोग में लाने का प्रयत्न किया और 'फूट डालो व शासन करों की नीति को अपने शासन का अंग बनाया। अंग्रेजों के सहयोग और प्रोत्साहन से मुस्लिम साम्प्रदायिकता की भावना सफल हुई। 1909 ई0 के चुनावों में साम्प्रदायिक निर्वाचन प्रणाली को इसी आधार पर अपनाया गया और उसके पश्चात् अंग्रेज निरन्तर मुसलमानों की माँगों का समर्थन करते रहे। यह कहना अनुचित न होगा कि मुस्लिम लीग की पाकिस्तान की माँग से बहुत पहले ही अंग्रेज सरकार भारत में दो राष्ट्रों के अस्तित्व को स्वीकार कर चुकी थी और उसका प्रत्येक कार्य इसी आधार पर होता था। अंग्रेजों ने मुस्लिम साम्प्रदायिकता को भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन के विरुद्ध एक प्रमुख हथियार के रूप में प्रयोग किया जिसके कारण मुसलमानों में यह भावना दृढ़ हुई तथा पाकिस्तान का निर्माण सम्भव हो सका।

भारत–विभाजन और पाकिस्तान के निर्माण में काँग्रेस की मुसलमानों के प्रति सन्तुष्टीकरण की दुर्बल नीति भी उत्तरदायी थी। समय–समय पर कॉग्रेस ने लीग की अनुचित माँगों को स्वीकार करके उसे बढ़ावा दिया। अनेक अवसरों पर काँग्रेस ने अपने सिद्धान्तों तक को त्याग दिया। ऐसी एक गम्भीर भूल 1916 ई0 के 'लखनऊ–समझौते में की गयी थी जिसके अन्तर्गत काँग्रेस ने मुसलमानों के पृथक प्रतिनिधित्व और उनको उनकी जनसंख्या से अधिक अनुपात में व्यवस्थापिका–सभाओं में सदस्य भेजने के अधिकार को स्वीकार कर लिया। 1932 ई0 में साम्प्रदायिक निर्णय के विषय में काँग्रेस ने अस्पृश्य जातियों के अलग हो जाने के भय से जिस दुर्बलता का परिचय दिया, उससे भी मुस्लिम साम्प्रदायिकता को प्रोत्साहन मिला। समय–समय पर लीग से समझौता करने के प्रयत्न और मिस्टर जिन्ना से भेंट आदि भी मिस्टर जित्रा और लीग के मनोबल को बढ़ावा देने वाले सिद्ध हुए। कॉग्रेस ने अपने राष्ट्रीय स्वरूप को सिद्ध करने के प्रयत्न में हिन्दुओं से निरन्तर त्याग की माँग की लेकिन मुसलमानों से हठ

करके कुछ नहीं माँगा। कॉंग्रेस ने मुसलमानों के उग्र और वैयक्तिक चरित्र को समझने का प्रयत्न नहीं किया और न उनके व्यवहार को सत्यता की कसौटी पर परखा। धर्म पर आधारित कट्टर और दृढ़ अल्पसंख्यकों से व्यवहार करने का सफल मार्ग सन्तुष्टीकरण का नहीं हो सकता था, इस सत्य को कॉंग्रेस न समझ सकी। कॉंग्रेस की इस सन्तुष्टीकरण की नीति से न केवल मुस्लिम साम्प्रदायिकता को बढ़ावा मिला अपितु इसकी प्रतिक्रियास्वरूप हिन्दू साम्प्रदायिकता भी पनपी। कॉंग्रेस की सबसे बड़ी असफलता यह रही कि वह एक ऐसा नारा, एक ऐसा आदर्श और एक ऐसा लक्ष्य प्रस्तुत न कर सकी जिसके सम्मुख हिन्दू और मुसलमानों को अपने धार्मिक मतभेदों का ध्यान ही न रहता और वह उस एक नारे, आदर्श और लक्ष्य की पूर्ति के लिए एक हो जाते। धार्मिक मतभेदों को भुलाने के चक्कर में वह धार्मिक मतभेदों पर बल देती गयी। कॉंग्रेस इस प्रश्न का उत्तर न दे सकी कि स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् भारतीय मुसलमानों का भविष्य क्या होगा? मिस्टर जिन्ना ने मुसलमानों के सम्मुख यह प्रश्न रखा और उसका उत्तर भी दे दिया– वह था मुसलमानों के लिए हिन्दुओं की गुलामी। कॉंग्रेस इसका प्रत्युत्तर न दे सकी। ऐसी स्थिति में मुसलमानों की पाकिस्तान की माँग दृढ़ हो गयी। समय निकल जाने के पश्चात् मूर्ख भी समझदार हो जाता है, यह ठीक है, परन्तु फिर भी विवश होकर यह कहना पड़ता है कि कॉंग्रेस धर्म निरपेक्षता, समाजवाद और आर्थिक व सामाजिक न्याय पर आधारित भारत के निर्माण का लक्ष्य अपने देशवासियों के सम्मुख रखने में असमर्थ और असफल हो गयी थी। ऐसी स्थिति में भारत में साम्प्रदायिकता का पनपना स्वाभाविक था।

अन्तरिम सरकार में लीग के सदस्यों का सम्मिलित किया जाना, मुस्लिम लीग की 'प्रत्यक्ष कार्रवाई, लीग और कॉंग्रेस के मन्त्रियों के परस्पर मतभेद के कारण अन्तरिम सरकार की दुर्बलता, अंग्रेज सरकार की घोषणा कि वह जून 1948 ई0 से पहले ही भारत छोड़ देगी तथा हिन्दू–मुस्लिम दंगों की भयंकरता आदि भी भारत–विभाजन के कारण बने, इसमें सन्देह नहीं है। 3 जून, 1947 ई0 को पं0 जवाहरलाल नेहरू ने कहा थाः "देश के विभिन्न भागों में लज्जाजनक, पूर्णित और असहनीय हिंसा हुई है। यह समाप्त होनी चाहिए।" सरदार पटेल ने कहा था – "मैंने यही अनुभव किया कि यदि हम विभाजन स्वीकार नहीं करते हैं तो भारत कई टुकड़ों में बँटकर बिल्कुल बरबाद हो जायेगा।" द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् ब्रिटेन की दुर्बलता, भारत का उसके लिए आर्थिक दृष्टि से लाभप्रद न होना और अमेरिका की सरकार का ब्रिटेन पर भारत को स्वतन्त्रता प्रदान करने का दबाव ऐसे कारण थे जिनसे भारत को शीघ्र स्वतन्त्रता देना आवश्यक हो गया। ऐसी स्थिति में लीग की हठ और हिन्दू–मुस्लिम दंगे भारत–विभाजन के कारण बन गये।

विभाजन की अनिवार्यता –

इसमें कोई सन्देह नही है कि भारतवासियों का विशाल बहुमत विभाजन का कट्टर विरोधी था। हिंदू और सिक्ख तो उसके विरुद्ध थे ही, मुसलमानों का भी एक वर्ग विभाजन के खिलाफ था। फिर भी, इस बारे में विभिन्न मत हो सकते हैं कि कांग्रेस के शीर्षस्थ नेताओं–विशेषकर नेहरू और पटेल–ने उस समय, सांप्रदायिक आधार पर, देश के विभाजन और पाकिस्तान के निर्माण को स्वीकार कर उचित किया या अनुचित। किंतु, इतिहास पर कोई भी कठोर निर्णय डालने से और तत्कालीन नेताओं ने जो कुछ

किया उसके लिए आज उनकी भर्त्सना करने से पहले, यह उचित होगा कि हम अपने आपको उस समय में ले जाकर रखें तथा तब की परिस्थितियों के परिप्रेक्ष्य में ही नेताओं द्वारा देश का विभाजन स्वीकार करने के औचित्य पर विचार–विमर्श करें। मार्च, 1947 में लार्ड मांडटबेटेन भारत आए और उन्होंने भारतीय नेताओं से बातचीत करनी शुरू की। पाकिस्तान की मांग के प्रति कांग्रेस के रुख में मार्च और जून, 1947 के बीच परिवर्तन आया। देखना होगा कि इन दिनों देश की स्थिति क्या थी और कांग्रेस के नेताओं के सामने विकल्प क्या थे :

1. कांग्रेस और लीग में किसी तरह भी कोई समझौता नहीं हो पाया था क्योंकि लीग पाकिस्तान की मांग से टस से मस होने को तैयार नहीं थी।

2. देश सांप्रदायिक दंगों की विभीषिका में जल रहा था; हिंदू–मुसलमान एक–दूसरे के रक्त से होली खेल रहे थे; संपत्ति, महिलाओं का सम्मान, मासूम बच्चों की जान, कुछ भी सुरक्षित न था; अराजकता का साम्राज्य था। नेताओं को लगा कि निर्दोष देशवासियों की हत्याएँ होती रहें इससे तो पाकिस्तान बन जाना अच्छा था।

3. अंग्रेज अफसरों और ब्रिटिश सरकार की सहानुभूति लीग के साथ थी। सांप्रदायिक दंगों में भी अंग्रेज अफसरों ने लीग का साथ दिया। यदि अंग्रेज न चाहते तो दंगे इस व्यापक पैमाने पर होते ही नहीं और होते भी तो उन्हें पुलिस और फौज के समुचित प्रयोग से दबाया जा सकता था। किंतु अंग्रेज कूटनीतिज्ञ संभवतः, सोचते थे कि संयुक्त भारत बहुत शक्तिशाली हो जाएगा और संभवतः तब भारत में ब्रिटेन के आर्थिक और औद्योगिक स्वार्थों की रक्षा न की जा सके। पाकिस्तान बन जाने से दोनों आपस में लड़ते रहेंगे, कमजोर रहेंगे तथा पश्चिमी राष्ट्रों पर आश्रित रहेंगे। विशेषकर उन्हें विश्वास था कि पाकिस्तान अधिक मैत्रीपूर्ण रहेगा और उसकी भूमि में ब्रिटिश हितों को एक स्थायी प्रभाव–क्षेत्र मिल जाएगा। गैर–कानूनी ढंग से अंग्रेज फौजी अफसरों की मदद से हथियारों में तस्कर व्यापार चल रहा था तथा कुछ देशी नरेशों के सहयोग से भारत की एकता को नष्ट करने का षड्यंत्र रचा जा रहा था।

4. संविधान–सभा में बोलते हुए, सरदार पटेल ने और भी साफ–साफ शब्दों में बताया था कि किस प्रकार अंग्रेज अफसर जिलों में अपना कब्जा कायम रखे हुए थे तथा किस प्रकार उनकी साजिश से दंगे हो रहे थे। जैसा कि हम देख चुके हैं, अंतरिम सरकार में शामिल होने के बाद मुस्लिम लीग ने सरकार का कोई भी काम ठीक से चला सकना असंभव कर दिया था। कांग्रेस के नेताओं का सिरदर्द लीग ने इतना बढ़ा दिया था कि अंत में तंग आकर, पंडित नेहरू के शब्दों में – इस "सिरदर्द से छुटकारा पाने के लिए वे सिर ही कटवा डालने को तैयार हो गए।"। पटेल ने कहा यदि शरीर के अंग में जहर फैल गया हो तो उसे शीघ्र ही अलग कर देना चाहिए ताकि शेष सारे शरीर में जहर न फैले।

5. कांग्रेस को दो बुराइयों में से एक को चुनना था– देश का विभाजन अथवा गृह–युद्ध। कांग्रेस ने विभाजन को कम बड़ी बुराई समझा क्योंकि नेताओं को यह स्पष्ट हो गया था कि यदि देश का विभाजन न हुआ तो केंद्र दुर्बल रहेगा, कांग्रेस और लीग की मिली–जुली सरकार चल नही पाएगी और देश प्रगति नही कर

सकेगा। नेहरू के शब्दों में – "उन्होंने घटनाओं से विवश होकर ही विभाजन को स्वीकार किया।" कहते हैं पंडित नेहरू पहले विभाजन के विरोधी थे किंतु वे मांउटबेटेन से बहुत प्रभावित थे। आचार्य कृपलानी और मौलाना आजाद आदि का मत है कि पंडित नेहरू मांउटबेटेन के सम्मोहन के ही शिकार हो गए। कांग्रेस कार्यकारिणी समिति की 12 जून को तथा कांग्रेस महासमिति की 14 और 15 जून, 1947 को दिल्ली में बैठक हुई जिनमें विभाजन की मांउबेटेन योजना पर विचार–विमर्श हुआ। मौलाना आज़ाद, अन्य राष्ट्रवादी मुसलमान, पाकिस्तान में शामिल किए जाने वाले प्रदेशों के हिंदू–सदस्य तथा उत्तर प्रदेश के पुरुषोत्तम दास टंडन आदि ने योजना का विरोध किया। मौलाना आज़ाद ने कहा कि यदि कांग्रेस नेताओं ने विभाजन मान लिया तो इतिहास उन्हें कभी क्षमा नहीं करेगा किंतु नेहरू, पंत, कृपलानी, पटेल और अंत में गांधी ने भी इसे स्वीकार करने की राय दी। गोविन्द बल्लभ पंत ने स्वीकृति का प्रस्ताव पेश करते हुए कहा– ''3 जून की योजना की स्वीकृति ही देश के लिए स्वराज और स्वाधीनता पाने का एकमात्र मार्ग है। इसके अंतर्गत हम एक शक्तिशाली केंद्र वाला ऐसा भारतीय संघ बना सकते हैं जो राष्ट्र को प्रगति के पथ पर ले जा सके....आज हमारे सामने दो विकल्प हैं–3 जून की योजना की स्वीकृति या फिर आत्महत्या।''

भारत विभाजन और कांग्रेस –

भारत का विभाजन मुस्लिम लीग की पाकिस्तान की माँग को लेकर हुआ। पृथक राष्ट्र की माँग 1940 के बाद तेज़ी से उभरी और मुहम्मद अली जिन्ना के नेतृत्व में लीग ने सांवैधानिक तरीकों से और प्रत्यक्ष कार्रवाई करके राजनीतिक गतिरोध की ऐसी स्थिति उत्पन्न कर दी जिससे विभाजन अवश्यम्भावी हो गया। लेकिन हमें यह भी नही भूलना चाहिए कि पाकिस्तान के निर्माण में अंग्रेजों का बहुत बड़ा हाथ था। अंग्रेज शासकों ने बढ़ते हुए राष्ट्रीय आंदोलन में गतिरोध उत्पन्न करने के लिए साम्प्रदायिक शक्तियों का इस्तेमाल किया। लीग को मुसलमानों की एकमात्र प्रतिनिधि संस्था के रूप में स्वीकार किया और उसे वीटो की शक्ति दी। अंत में जब अंग्रेजों की नज़र में अखंड भारत सुविधाजनक प्रतीत होने लगा, तब उन्होंने इसे एक रखने का थोड़ा प्रयत्न किया, पर जिन्ना की कारगर धमकियों के सामने उनकी एक न चली। साम्प्रदायिक दंगों को अधिकारीगण रोक नहीं पाए और विभाजन अवश्यम्भावी हो गया। कांग्रेस अपनी सम्पूर्ण प्रतिबद्धता के बावजूद भारत की अखंडता की रक्षा नहीं कर सकी। इसके दो कारण थे। यह राष्ट्रीय आन्दोलन में मुस्लिम जनता को शामिल करने में असफल रही और साम्प्रदायिकता से लड़ने की सही नीति नहीं अपना सकी। ब्रिटिश शासक वर्ग द्वारा राष्ट्रीय जन आन्दोलन के विरूद्ध 'फूट डालो और शासन करो' की नीति से प्रोत्साहित मुस्लिम लीग ने जब उपमहाद्वीप के विभाजन की मॉग की तो उनका उद्देश्य आम मुसलमानों की स्थिति सुधारना कदापि नही था। उनका स्पष्ट उद्देश्य भौगोलिक दृष्टि से महाद्वीप में एक ऐसा क्षेत्र स्थापित करना था कि मुस्लिम व्यवसायी–व्यापारी वर्ग तथा नवोदित बौद्धिक वर्ग हिन्दू प्रतिस्पर्धा से बच सके।

सवाल तो यह है कि कांग्रेस ने आखिर विभाजन क्यों मंजूर कर लिया? वस्तुतः मुस्लिम लीग किसी भी कीमत पर अपना हक़ लेने के लिए अड़ गई और ब्रिटिश सरकार को अपने ही बनाए जाल से न निकल पाने के कारण उनकी माँग को मंजूर करना पड़

गया, यह बात तो समझ में आती है। लेकिन भारत की एकता और अखंडता में विश्वास रखनेवाली कांग्रेस ने विभाजन क्यों स्वीकार किया, यह अब भी एक मुश्किल सवाल है। आखिर बात क्या थी कि नेहरू और पटेल ने 3 जून योजना की वकालत की और कांग्रेस कार्यसमिति तथा (अखिल भारतीय) कांग्रेस समिति ने उसके पक्ष में प्रस्ताव पारित कर दिया? सबसे आश्चर्य की बात तो यह है कि गाँधीजी तक ने अपनी मूक स्वीकृति दे दी, क्यों? गाँधी के समर्थकों का यह मानना है कि नेहरू और पटेल ने विभाजन को इसलिए स्वीकार किया, क्योंकि सत्ता का इंतज़ार उनके लिए असहनीय हो रहा था और इसीलिए उन्होंने गाँधीजी की सलाह की उपेक्षा कर दी, जिससे गाँधीजी काफी मर्माहत हुए लेकिन फिर भी उन्होंने सांप्रदायिक घृणा का अकेले ही मुक़ाबला किया, जिस प्रयास की प्रशंसा में माउंटबेटन ने उन्हें एक "वनमैन बाउंडरी फोर्स" कहा।

इस संदर्भ में यह याद रखना चाहिए कि 1947 में नेहरू, पटेल और गाँधी के सामने विभाजन को स्वीकार करने के सिवाय कोई और रास्ता नहीं रह गया था। चूँकि कांग्रेस मुसलिम जनसमूह को राष्ट्रीय आंदोलन में नहीं खींच सकी थी और मुसलिम सांप्रदायिकता के ज्वार को रोक पाने में अक्षम साबित हुई थी, इसलिए अब उसके पास विकल्प ही नही था। कांग्रेस की विफलता 1946 के चुनावों में एकदम साफ़ हो चुकी थी। इन चुनावों में लीग को 90 प्रतिशत मुसलिम सीटें मिली थीं। वैसे तो कांग्रेस जिन्ना के विरूद्ध अपनी लड़ाई 1946 में ही हार चुकी थी, लेकिन जब कलकत्ता और रावलपिंडी की सड़कों पर तथा नोआखाली और बिहार के गाँवों में सांप्रदायिक दंगे फूट पड़े, तो उसने अपनी पराजय स्वीकार कर ली। जून 1947 तक कांग्रेस के नेता महसूस करने लगे थे कि सत्ता के तुरंत हस्तांतरण से ही यह सांप्रदायिक पागलपन रोका जा सकता है। अंतरिम सरकार की अपंगता ने भी पाकिस्तान को एक अपरिहार्य वास्तविकता बना दिया। अंतरिम सरकार के मंत्री लोग आपस में तू–तू मैं–मैं करते, और अलग–अलग बैठकों में निर्णय करते। इसलिए बैठकों से बचते रहते और लियाकत अली खाँ, जिनके पास वित्त विभाग था, दूसरे विभागों के काम में रुकावट डालते। गवर्नर लीग का साथ दे रहे थे और दंगों में लोग मारे जा रहे थे। नेहरू को लग रहा था कि अगर इन चीज़ों को अंतरिम सरकार रोक नहीं पा रही है, तो फिर उसमें हमारे बने रहने का औचित्य क्या है? सत्ता के हस्तांतरण से कम–से–कम इतना तो होगा कि एक ऐसी सरकार बनेगी जो सचमुच नियंत्रण कर सके।

दो औपनिवेशिक राज्यों को तात्कालिक सत्ता हस्तांतरण की योजना स्वीकार करने का एक और कारण था। इससे भारत के विखंडीकरण की आशंका नष्ट हो जाती, क्योंकि इस योजना में प्रांतों और रियासतों को अलग से स्वतंत्रता देने की बात नहीं थी। अन्त में अपनी तमाम अनिच्छा के बावजूद रियासतों को इस या उस देश में शामिल होना पड़ा जो एक बडी उपलब्धि थी। रियासतें अगर अपना स्वतंत्र अस्तित्व बनाए रखतीं, तो भारत की एकता के लिए वे पाकिस्ताने से भी बड़ा खतरा साबित होतीं।

इस तरह 1947 में कांग्रेस द्वारा विभाजन को स्वीकार करना मुसलिम लीग की एक संप्रभु मुसलिम राज्य की दलील को स्वीकार करने की प्रक्रिया का ही आखिरी चरण था। वस्तुतः लीग के सम्मुख जून 1947 में ही पूर्ण समर्पण किया जा चुका था, जब कांग्रेस ने यह इच्छा जाहिर की थी कि यदि तत्कालीन अंतरिम सरकार को सत्ता का

हस्तांतरण कर दिया जाए, तो वह डोमिनियन का दर्जा स्वीकार कर लेगी। लेकिन अन्ततः उसने विभाजन और डोमिनियन का दर्जा, दोनों स्वीकार कर लिए।

भारत विभाजन और गॉधीजी –

भारत विभाजन की इस प्रक्रिया में गॉधीजी की क्या मनःस्थिति थी। सामान्यतया इस काल में उनकी अप्रसन्नता और असहाय स्थिति का अक्सर उललेख होता है और यह भी कहा जाता है कि कांग्रेस की फ़ैसला लेनेवाली समितियों में उनकी कोई आवाज नहीं रह गई थी तथा वे अपने ही प्रिय नेहरू और पटेल द्वारा छले गये थे। हमारी दृष्टि में गाँधीजी की असहाय स्थिति का कारण न तो जिन्ना का दुराग्रह था और न नेहरू और सरदार पटेल की तथाकथित सत्ता–लोलुपता। वास्तव में वे अपने ही लोगों के सांप्रदायिक हो जाने से असहाय थे। उनके अपने लोगों में ही सांप्रदायिकता घुस गई थी। अपनी 4 जून 1947 की प्रार्थना सभा में उन्होंने कहा कि कांग्रेस ने विभाजन को इसलिए स्वीकार किया, क्योंकि लोग ऐसा ही चाहते थे। यह माँग मंजूर की गई, क्योंकि आप लोगों ने ऐसा चाहा। कांग्रेस ने यह माँग कभी नहीं की, लेकिन कांग्रेस में जनता की नब्ज़ समझने की क्षमता है, उसने महसूस किया कि खालसा और हिंदू, दोनों की इच्छा यही है। तो यह विभाजन के लिए सिखों और हिंदुओं की आतुरता थी, जिसने गाँधीजी को व्यर्थ, दिशाहीन और अक्षम बना दिया था, गाँधीजी जन नेता थे और जन नेता की उस वक्त अहमियत ही क्या रह जाती है, जब उसका जन ही उसका अनुसरण करने से इनकार कर दे। गाँधीजी कांग्रेस के नेताओं की अवहेलना तो कर सकते थे, जैसा कि उन्होंने 1942 में किया था, जब उन्होंने देखा कि समय संघर्ष के लिए सही है। लेकिन अब वे बड़े पैमाने पर कुछ नहीं कर पाते। 1947 में 'अच्छाई की ताक़तें' थी ही नहीं, जिनके आधार पर वे कोई कार्यक्रम बनाकर निर्णय ले पाते। गॉधीजी ने स्वयं कहा था कि मुझे इस प्रकार की स्वस्थ भावना का कहीं कोई चिह्न दिखाई नहीं देता। अतएव उपयुक्त समय आने तक मुझे इंतज़ार करना पड़ेगा।

लेकिन एक दृष्टिहीन व्यक्ति अँधेरे में निहायत अकेले टटोलते हुए प्रकाश की किसी किरण तक पहुँचता, तब तक राजनीति इंतज़ार नहीं कर सकती थी। माउंटबेटन योजना उनका पीछा कर रही थी और गाँधीजी समझ रहे थे कि दंगों तथा अंतरिम सरकार की अक्षमता के कारण विभाजन अपरिहार्य हो गया है। अतः 14 जून 1947 की अखिल भारतीय कांग्रेस समिति की बैठक में दृढ़ क़दमों से गए और कांग्रेसजनों से विभाजन को एक तात्कालिक अनिवार्यता रूप में स्वीकार करने को कहा, लेकिन उन्हें यह सलाह भी दी कि वे इसे हृदय से न स्वीकार करें तथा इसे निरस्त करने का दीर्घकालीन कार्यक्रम बनाएँ। गाँधीजी ने स्वयं भी विभाजन हृदय से स्वीकार नहीं किया और नेहरू की तरह भारतीय जनता में उनकी आस्था बनी रही। यह बात अवश्य है कि अब उन्होंने अकेले चलने का फैसला किया, वे नोआखाली के गाँवों में पैदल घूमते रहे, बिहार के मुसलमानों को आश्वस्त करते रहे और कलकत्ता में दंगा रोकने के लिए न केवल लोगों को समझाते रहे, बल्कि उपवास की धमकी भी देते रहे। वैसे भी 'जदि तोर डाक शुने केउ न आशे, तबे एकला चलो रे' (यदि तुम्हारे आह्वान पर कोई नहीं आता, तो अकेले चलो) अरसे से उनका प्रिय गीत था, वही उन्होंने किया।

15 अगस्त 1947 की सुबह जब जनमानस आज़ादी और विभाजन की वास्तविकता से रूबरू हो रहे थे, हमेशा की तरह, गाँधी और नेहरू दोनों ही भारतीय जनता की

भावनाओं को प्रतिबिंबित कर रहे थे, गाँधीजी अपनी प्रार्थना के ज़रिए अँधेरे में हो रही हलचल, हत्याओं, अपहरणों और बलात्कारों का प्रतिकार कर रहे थे, तो नेहरू की आँखें क्षितिज पर उभर रहे प्रकाश पर टिकी थीं, जहाँ स्वतंत्र भारत का उदय हो रहा था। जवाहर लाल नेहरू के इन कवित्वपूर्ण शब्दों ने कि "बरसों पहले हमने नियति के साथ एक करार किया था' लोगों को याद दिलाया कि उनकी किकर्तव्यविमूढ़ता ही एकमात्र सत्य नहीं है, उससे भी बड़ा सत्य है वह गौरवपूर्ण संघर्ष जो जद्दोजहद से भरा था, जिसके दौरान बहुत–से लोग शहीद हुए और असंख्य लोगों ने कुरबानियाँ दीं, उस दिन का स्वप्न देखते हुए, जब भारत आज़ाद होगा, वह दिन आ गया था।

भारत विभाजन के परिणाम –

एक व्यक्ति जो कहीं भी स्वतंत्रता दिवस के हर्षोल्लास में शामिल नहीं हुआ था पर जिसकी अनुपस्थिति सबको खली थी वह थे महात्मा गांधी। थके–हारे राष्ट्रपिता इस दिन भी दिल में कितने ही संताप लिए राजधानी से दूर गांव–गांव पैदल चलकर सांप्रदायिक हिंसा की विभीषिका के सताए परिवारों के अवशेषों को सांत्वना और सहानुभूति बांट रहे थे। यदि किसी के सपने सबसे अधिक टूटे थे तो वह व्यक्ति भी गांधीजी ही थे क्योंकि गॉधीजी ने जीवन–भर प्रेम और अहिंसा का पाठ पढ़ाया था तथा शांतिमय अहिंसात्मक उपायों से देश की एकता की रक्षा करने और उसे स्वतंत्र कराने के लिए संघर्ष किया था, पर आज जब स्वतंत्रता के साकार होने का क्षण आया तो देश में शांति, प्रेम और अहिंसा नहीं, अपितु, घृणा, हिंसा और आतंक का साम्राज्य था। सांप्रदायिकता और घृणा के दानव के विरुद्ध गांधीजी जीवन भर लडते रहे थे। औरों के लिए भले ही यह विजय का क्षण रहा हो पर महात्मा गांधी के लिए इससे अधिक दुःखदायी वातावरण और क्या हो सकता था जबकि उनकी आंखों के सामने उनके सभी आदर्शों का खून हो गया हो।

वस्तुतः जो विभाजन का समर्थन करते हैं उनके पास यही तर्क है कि हिन्दुओं और मुसलमानों की जीवन पद्धतियाँ हर क्षेत्र में इतनी विरोधी थीं कि उनमें कोई सामंजस्य सम्भव ही नहीं था। बल्कि एक का अस्तित्व दूसरे के अस्तित्व को क्षति पहुँचाता था। ये तनाव, संघर्ष, पारस्परिक घृणा, असन्तुलन ही धीरे–धीरे बढ़ते हुए विभाजन के लिए जरूरी कारण बन गये। यह बात दूसरी है कि इस फोड़े ने पूरी तरह पकने में कुछ अधिक वर्षों का समय ले लिया। उनका कहना है कि हिन्दुओं का जातिवाद मुसलमानों को अपने से बिलकुल अलग करता था। उनका छुआ पानी न पीना, उनके हाथ का, यहाँ तक कि उनके बर्तनों का खाना भी उनके लिए पाप था। यह जहर इतने गहरे तक फैला था कि जाति व्यवस्था में निम्न वर्ग के दबे कुचले भी इससे ग्रसित थे। हिन्दू गाय की पूजा करते थे, मुसलमान उसको स्वादिष्ट मांस के लिए खाते थे। एक देव–मूर्ति की पूजा करता था तो दूसरा उसे तोड़ना अपने लिए सवाब समझता था। दोनों में विवाह असम्भव था। वस्त्र, भोजन, इतिहास, ईश्वर, उपासना–पद्धतियाँ, पारिवारिक बुनावट, भाषा सब भिन्न थे। 1857 के बाद मुसलमानों का सामन्त वर्ग यह कभी नहीं भूला कि उसने लगभग 600 साल तक हिन्दुओं पर शासन किया है। हिन्दू कभी नहीं भूले कि मुसलमानों ने जबर्दस्ती उनसे धर्म परिवर्तन कराया, उनके मन्दिरों को नष्ट किया, उसकी स्त्रियों को उठाया। विभाजन के समर्थकों के पास इसी तरह के तर्क हैं। कुछ राष्ट्रवादी मुसलमानों और कुछ कॉंग्रेसी नेताओं की सारी सद्भावनाओं के

बाद भी, विभाजन के समर्थक और योद्धा अपने तर्कों पर अड़े थे। दोनों के साथ–साथ रहने के सैकड़ों सालों के लिए उनका कहना था कि वे रेल की पटरियों की तरह साथ–साथ थे, न कि किसी सामाजिक अन्तर्भुक्ति के कारण। उनका कहना था कि वे सिर्फ दो अलग 'धर्म' नहीं थे, बल्कि हर तरह से दो अलग राष्ट्र थे जिनमें कोई आधारभूत समानता ही नहीं थी।

पर इतिहास इतना इकहरा और पारदर्शी नहीं होता। यदि हम इन तर्कों को मानें तो बहुत से दूसरे प्रश्न भी पैदा होते हैं। 600 सालों तक जो मिश्रित सभ्यता रही उसका आधार क्या था ? हर गाँव में हिन्दू, मुसलमान दोनों के परिवार थे। मन्दिर था, मस्जिद भी थी। उनके त्यौहार, रीति–रिवाज, परम्पराएँ, सामाजिक ढाँचा सब सुरक्षित थे। जो स्थितियाँ विभाजन के समर्थक बताते हैं, यदि वही एकमात्र वास्तविकता होतीं, तो देश में विभाजन या बड़े स्तर का कोई विघटन बहुत पहले हो जाना चाहिए था। सब जानते है कि 1857 की क्रान्ति में दोनो धर्मो के लोग साथ–साथ लडे थे। कितना आसान था विभाजन का रुक जाना, यदि जिन्ना और काँग्रेस किसी भी स्तर पर समझौते के लिए उस तरह तैयार हो जाते जिस तरह 1916 में तिलक और जिन्ना हो गये थे। हालॉकि माउण्टबेटन के आने के बाद नेहरू और पटेल विभाजन के लिए जिन्ना से अधिक व्यग्र थे। विभाजन की माउण्टबेटन की योजना को काँग्रेस ने पहले स्वीकृति दी। माउण्टबेटन ने 2 जून को आधी रात को लगभग धमकाते हुए इसे जिन्ना पर थोप दिया और जिन्ना ने चुपचाप सर हिला दिया। बहुत से लोग यह भी मानते हैं कि जिन्ना अन्त तक पाकिस्तान नहीं चाहते थे। 'पाकिस्तान' उनके लिए सिर्फ एक मोहरा था जिसे वह राजनीति की शतरंज में बहुत सलीके से आगे बढ़ा रहे थे, इसलिए कि काँग्रेस को दबाव में लेकर मुसलमानों के लिए अधिक से अधिक शक्ति और अधिकार ले सकें। 'सच तो यह है कि हिन्दू और मुसलमानों की पृथक जीवन–पद्धति, उनके पृथक धर्म, पृथक परम्पराएँ विभाजन का कारण नहीं थीं बल्कि बिसात पर खेली जा रही एक बाजी थी जिसमें मोहरों की जगह करोड़ों व्यक्तियों के जीवन दाँव पर लगे और नष्ट हो गये। यह सिर्फ जिन्ना की जिद, आहत अहंकार और महत्त्वाकांक्षा थी जिसने इन तर्कों को बड़ा रूप देकर पाकिस्तान को जन्म दिया।

इस प्रकार विभाजन ने अन्ततः, एक वृहद सार्वभौम भारत की सम्भावना का अन्त कर दिया परन्तु कुछ आधारभूत प्रश्न उभर कर सामने आता है जैसे– विभाजन क्यों नही होना चाहिए था? विभाजन होने में क्या गलत हुआ ? क्या यह उचित था कि विभाजन को रोककर देश को गृहयुद्ध की तरफ ढकेल दिया जाता जिसकी शुरुआत दंगों की श्रृंखलाओं से हो चुकी थी ? क्या विभाजन को रोककर अँग्रेजों की गुलामी और कई वर्षों तक की जाती ?

वस्तुतः जिन्ना जिस आधार पर और जिस धर्म की लड़ाई लड़ने का छद्म कर रहे थे, उसके वह कभी थे ही नहीं। वह मुस्लिम लीग के नेता थे, देश के मुसलमानों के नहीं। इस्लामी जगत में जिन्ना सदैव एक आत्मनिर्वासित की तरह रहे। हिन्दू धर्म उनके लिए कभी न समस्या रहा, न किसी समस्या का कारण। बाद में जिस काँग्रेस पर सिर्फ 'हिन्दू' पार्टी होने के तर्क के कारण उन्होंने राजनीति के सारे आरोपों, शंकाओं और विरोधों को जन्म दिया, उसी काँग्रेस के घोषित और उग्र हिन्दू तिलक से जिन्ना, 1916 में 'लखनऊ पैक्ट' बड़ी सरलता से कर चुके थे। यह पैक्ट बताता है कि जिन्ना और

कॉंग्रेस समझौता कर सकते थे, केन्द्रीय संघ बना सकते थे, अविभाजित भारत को चला सकते थे। पूरे जीवन में जिन्ना ने कभी हिन्दू धर्म के खिलाफ एक शब्द नही कहा। जिन्ना की श्रद्धा के पात्र तिलक और गोखले थे, कभी कोई मुस्लिम उनके सम्मान का पात्र नहीं रहा। अपने खोजा सम्प्रदाय के धार्मिक गुरु आगा खाँ को वह सख्त नापसन्द करते थे। तिलक का मुकदमा जिन्ना ने लड़ा था और उनके मन में तिलक के लिए गहरा सम्मान था । एम0सी0 छॉगला का मानना है कि गाँधी, नेहरू और दूसरे नेताओं के लिए वह कठोर और कटु बातें कहते थे, लेकिन जहाँ तक गोखले और तिलक का सवाल है, जिन्ना के मन में उनके और उनके विचारों के प्रति गहनतम सम्मान था।

1940 के बाद मुस्लिम लीग पर जिन्ना का हमेशा पूरा नियन्त्रण रहा। 1946 के चुनावों में मुस्लिम लीग की सफलता का पूरा श्रेय सिर्फ जिन्ना को जाता है। यदि विभाजन के समर्थकों के ये तर्क सही हैं कि दो विपरीत धर्मों की पृथक सत्ता और पृथक अस्तित्व की विवशता ने ही विभाजन को अपरिहार्य बनाया, तो फिर जिन्ना अकेले विभाजन को जन्म देने में कैसे सक्षम थे, या कैसे रोकने में समर्थ थे ? पर सत्य यही था। विश्व के इतिहास में यह अनोखी घटना है कि एक व्यक्ति ने सिर्फ अपने पूर्वाग्रहों के कारण, बिना किसी आधार और परम्परा के, एक राष्ट्र के अन्दर से दूसरे राष्ट्र को जन्म देने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई हो।

पाकिस्तान की माँग सिद्धान्त रूप से ही अव्यावहारिक, दोषपूर्ण व गलत सूचनाओं पर आधारित थी। जिन क्षेत्रों को पाकिस्तान में माँगा जा रहा था, वहाँ की वास्तविक मुस्लिम आबादी, उनकी राजनीतिक स्थिति, उनके आर्थिक संसाधन, उद्योग धन्धे, उनकी सामाजिक स्थितियाँ व भारत में बचे मुसलमानों के भविष्य व उनके अल्पसंख्यक होने के बुनियादी सवाल के बारे में जिन्ना को या मुस्लिम लीग में अन्य किसी को कुछ भी स्पष्ट नहीं था। गणित, भूगोल, इतिहास, परम्पराएँ, अन्तर्राष्ट्रीयता, समाजशास्त्र ऐसे विषय जिन्ना के लिए पाकिस्तान के सामने नगण्य व अर्थहीन थे। लाहौर प्रस्ताव स्वयं में पाकिस्तान की आर्थिक, भौगोलिक अवधारणाओं को लेकर पूरी तरह अस्पष्ट था। उसके निहितार्थ राजनीति से प्रेरित थे न कि मुसलमानों की वास्तविक समस्याओं के प्रति। दोनों पाकिस्तानों को जोड़ने के लिए भारत के अन्दर 800 मील लम्बे गलियारे की जिन्ना की माँग इसका सबूत है। इस हास्यास्पद माँग के पीछे, जिन्ना ने तर्क दिया कि जब आज दोनों देशों के बीच रास्ता है तो विभाजन के बाद भी 'हिन्दू राज्य' को रास्ता देना चाहिए। जिन्ना से जब पूछा गया कि हिन्दू बहुल होने के बाद असम पाकिस्तान का हिस्सा क्यों होना चाहिए? (जिन्ना यह चाहते थे) तो उनका उत्तर था कि 'असम' इसके अलावा कहाँ फिट होगा ? जब पूछा गया कि हिन्दू बहुल मद्रास का अल्पसंख्यक मुसलमान क्या करेगा? तब जिन्ना का जवाब था कि उसके पास तीन विकल्प हैं। पहला यह है कि वह उस राष्ट्र की नागरिकता ग्रहण कर ले जहाँ वह है, दूसरा यह कि वह उस राष्ट्र में विदेशी की तरह रहे, तीसरा यह कि वह पाकिस्तान आ जाए, मैं उसका स्वागत करूँगा, वहाँ बहुत जगह है। (इण्डिया अनडिवाइडेड, पृ0 395) 7 अगस्त, 1947 को गाँधीजी नोआखाली के दंगा पीड़ित गाँवों के लिए पदयात्रा पर गये और जिन्ना पाकिस्तान के गर्वनर जनरल बनने के लिए करॉची की ओर उड़े। जहाज पर बैठने से पहले भारत में पीछे छूट गये लीग के नेताओं से जिन्ना ने कहा कि देश अब विभाजित हो गया है। उन्हें भारत का वफादार नागरिक होना चाहिए। भारत के लीगी नेताओं, राष्ट्रवादी मुसलमानों और छूटे हुए साढ़े चार करोड़ मुसलमानों

की नियति एक नये देश में अल्पसंख्यक बन जाने के कारण बहुत संकटपूर्ण हो गयी थी। इस पाकिस्तान ने उन्हें क्या दिया ? विभाजन के समर्थकों के पास इसका कोई उत्तर नहीं है। आज के दौर में तो यह सर्वाधिक प्रासंगिक सवाल है।

1940 में लाहौर अधिवेशन में पाकिस्तान के प्रस्ताव से पहले भी और बाद में भी, पाकिस्तान या अलग मुस्लिम राज्य को लेकर कई योजनाएँ प्रकाशित हुई थीं। लीग ने 1940 में लाहौर के अपने प्रस्ताव में इनमें से किसी को न तो पूरी तरह स्वीकार किया था और न ही अपनी कोई सम्पूर्ण योजना प्रकाशित की थी। उसने सिर्फ सैद्धान्तिक रूप से अलग क्षेत्र की माँग की थी। 'पाकिस्तान' शब्द प्रस्ताव में कहीं नहीं था। उस अलग क्षेत्र की पूरी रूपरेखा, भौगोलिक सीमाएँ आदि बाद में विचार करने के बाद प्रकाशित होनी थीं जो अन्तिम क्षणों तक नहीं हुईं। यदि कोई व्यक्ति लीग के प्रस्ताव पर आधारित पाकिस्तान को समझना चाहे तो वह असमर्थ है। लीग के पास अन्तिम बिन्दु तक पाकिस्तान की पूरी रूपरेखा क्यों नहीं थी ? मुसलमानों का भविष्य जिस देश में सुरक्षित किया जा रहा था वह कहाँ था ? कैसा था? क्या उसका ढाँचा था ? क्या आन्तरिक गठन था ? क्या सीमाएँ थीं, सेना थी, उद्योग थे, आर्थिक संसाधन थे ? कौन इस देश के बारे में जानता था ? जिन्ना, लियाकत अली या मुस्लिम लीग के दूसरे नेता ? विस्तार से कभी इसके पक्षों पर चर्चा क्यों नहीं हुई? क्यों नहीं मुस्लिम लीग के प्रस्ताव पर पूरे देश के मुसलमानों में बहस चलायी गयी? इस धुँधलके के बीच पाकिस्तान की एक साफ, मुकम्मल तस्वीर क्यों नहीं रखी गयी जो करोड़ों मनुष्यों का जीवन नष्ट होने से बचा सकती थी ? सेना की तरह या देश के 400 करोड़ नगद रुपयों की तरह आबादी का स्थानान्तरण क्या शान्ति और सहमति से नहीं हो सकता था ? अम्बेडकर ने इसका सुझाव भी दिया था और इसकी योजना भी दी थी, परन्तु निश्चित रूप से यह एक कठिन और बहुत कठिन कार्य था। कोई भी अपनी धरती, अपने खेत, अपनी दुकानें, मित्र, परिवार छोड़कर दूसरे देश में निर्वासित नही होना चाहता था। इसके अलावा दूसरे देश की सीमाएँ व क्षेत्र अन्त तक अस्पष्ट और विवादित थे फिर ऐसी स्थिति में एक आशंकित भविष्य के लिए वे अपना सुखी वर्तमान नष्ट क्यों करते ? प्रश्न यही है कि विभाजन की नीति ऐसी क्यों नहीं बनी जिसमें आबादी का शान्तिपूर्ण स्थानान्तरण हो सकता था? माउण्टबेटन किस जल्दी में थे कि उन्होंने जून, 1948 की निर्धारित तिथि से लगभग 10 महीने पहले विभाजन कर दिया ? हमारे नेताओं को क्या जल्दी थी कि एक बार विभाजन पर सहमत हो जाने के बाद शान्तिपूर्ण प्रयासों से उन्होंने आबादी के स्थानान्तरण का मार्ग नहीं ढूँढ़ा। वे किस जल्दी में थे? क्या थक गये थे संघर्ष से, क्या देह साथ नहीं दे रही थी या सत्ता की अदम्य लालसा थी ? ध्यान दें कि उस समय जिन्ना की उमर लगभग 72 वर्ष, पटेल की लगभग 71 वर्ष, नेहरू की लगभग 60 वर्ष थी क्या इसीलिए देश का विभाजन हड़बड़ी में कर दिया गया? यह एक ऐसा ऑपरेशन था जिसके लिए औजारों को 'स्टरलाइज' करने की भी प्रतीक्षा नहीं की गयी।

विभाजन ने भारत की एक दीर्घजीवी व विकसित मिश्रित सभ्यता को नष्ट कर दिया। यह इसका एक अन्य नकारात्मक परिणाम था। मिश्रित समाजों की इसी उपलब्धि और शक्ति ने इस देश को विभाजन के पहले के पाँच हजार साल का अबाधित, अखण्डित इतिहास दिया था। विभाजन का अन्य नकारात्मक परिणाम दो धार्मिक राष्ट्रों की सम्भावनाओं को जन्म देना था। धार्मिक राष्ट्र एक अनिवार्य बुराई है। इस्लाम के धार्मिक

आधार पर बने पाकिस्तान के जन्म ने स्वयं भारत में एक 'हिन्दू राष्ट्र' की अवधारणा और सम्भावना को, वैचारिक व भावनात्मक स्तर पर मजबूत आधार दे दिया। विभाजन के बाद 'हिन्दू राष्ट्र' उसी तरह अपने आप स्वीकृति पाने लगा जिस तरह अँधेरा कहते ही रोशनी या पाप कहते ही पुण्य अपने आप अस्तित्व में आ जाते हैं। विभाजन के बाद भी गाँधीजी मुसलमानों की सुरक्षा और सम्मान के लिए लड़े, इस बात के लिए गाँधीजी की प्रशंसा की जानी चाहिए और यह बड़ी बात थी। विभाजन के बाद मुसलमानों के पक्ष में बोलने के लिए एक अविचलित नैतिक शक्ति और दुर्दम्य आत्मविश्वास चाहिए था। विभाजन गाँधीजी के सम्पूर्ण जीवनदर्शन का 'लिटमस टेस्ट' था और गाँधीजी इस पर शत प्रतिशत खरे उतरे। विभाजन के बाद भारत एक हिन्दू राष्ट्र होने से बच गया, जबकि पाकिस्तान इस्लामी राष्ट्र होने से नहीं बच पाया। कुल मिलाकर वृहद सार्वभौम राष्ट्र की सम्भावना का अन्त विभाजन का अन्य दुखद पक्ष था ।

विभाजन क्यों हुआ यह प्रश्न हमेशा अनुत्तरित होगा पर यह प्रश्न जरूर पूछा जा सकता है कि विभाजन कौन चाहता था ? क्या काँग्रेस ? क्या जिन्ना? क्या अँग्रेज ? आदि–आदि । इनमें से सब कहते है कि नही, हम विभाजन नही चाहते थे लेकिन फिर भी सबकी सहमति से सांवैधानिक तरीके से प्रस्ताव स्वीकृत करके विभाजन हुआ। इसमें किसी तरह का बल प्रयोग नही था, विवशता नही थी। यह इतिहास की ही विडम्बना है कि हर पात्र कहे कि नहीं, मैं यह नहीं चाहता था, पर घटना हो जाए।

शुरू में विभाजन कोई नहीं चाहता था। 1937 के चुनावों में देश के किसी भी महत्त्वपूर्ण राजनीतिक दल, नेता या संगठन के पास विभाजन का विचार नहीं था। रहमत अली को उपहास की दृष्टि से देखा जाता था ।1937 की सर्दियों के चुनाव में मुस्लिम लीग का घोषणा पत्र लगभग वैसा ही था, जैसा काँग्रेस का। देश को अँग्रेजों से मुक्त कराने का लक्ष्य था, हिन्दू–मुस्लिम एकता का प्रयास था। जिन्ना ने काँग्रेस के साथ मिलकर चुनाव लड़ने का प्रस्ताव दिया था। डॉ0 राजेन्द्र प्रसाद से इस विषय पर उनकी कुछ बातें भी हुई पर यह बात आगे नहीं बढ़ी। 1947 की सर्दियों तक देश के नेता विभाजन को ही एकमात्र विकल्प मानने लगे थे। 10 वर्षों का यह वह सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कालखण्ड था, जिसने इस देश की अखण्डता को नष्ट करके इसका इतिहास पूरी तरह बदल दिया। वस्तुतः यह सब उस खेल की तरह था जो निहायत लापरवाही, हल्केपन और गैरजिम्मेदारी के साथ शुरू हुआ पर धीरे–धीरे इसमें नये खिलाड़ी शामिल होते गये, नियम बनते गये, टोलियाँ बनती गयीं, रेफरी आ गये और अन्त में किसी भी तरह से जीतना इस खेल में खिलाड़ियों का एकमात्र और अन्तिम लक्ष्य रह गया।

सच यही है कि अन्त में सबने विभाजन चाहा था। जो गाँधीजी कहते थे कि ''विभाजन मेरी लाश पर होगा'', अन्ततः 14 जून, 1947 को कॉग्रेस की महासमिति में विभिन्न कारणों से विभाजन के प्रस्ताव पक्ष में चालीस मिनट तक बोले थे। पर गाँधीजी ही अकेले व्यक्ति थे जो अँग्रेजों से कहते थे कि 'तुम जाओ, हमें ईश्वर पर छोड़ दो, बर्बादी में छोड़ दो, हम आपस में तय कर लेंगे, पर तुम जाओ।' गाँधीजी अपने साथियों से कहते थे कि विभाजन मत करो, हम दस साल अँग्रेजों से और लड़ लेंगे। माउण्टबेटन को मालूम था कि यही अकेला व्यक्ति है जो अपनी आत्मा और दूरदृष्टि, दोनों से, विभाजन नहीं चाहता। गाँधीजी ने अपनी दूसरी मुलाकात में ही माउण्टबेटन को प्रस्ताव दे दिया था कि तुम मुस्लिम लीग को देश दे दो, जिन्ना को प्रधानमन्त्री बना दो। यदि

लीग इसे अस्वीकार करे तब फिर यह अवसर 'काँग्रेस को दो, पर तुम जाओ। गाँधीजी का यह अचूक राजनीतिक दाँव था पर नेहरू और पटेल जैसे लोग इसे नहीं समझ पाये। गाँधीजी के इस एक प्रस्ताव ने एक तरह से पूरी राजनीतिक समस्या का समाधान कर दिया था। पर यह कोई नहीं चाहता था, यहाँ तक कि जिन्ना भी नहीं। उनकी पूरी साख दाँव पर लगती और नष्ट हो जाती। जिन्ना न तो 'लोक' का अनुभव रखते थे न प्रशासन' का, उनकी सारी राजनीति ड्राइंगरूम की थी। गाँधीजी का यह प्रस्ताव नकार दिया गया और नेहरू और माउण्टबेटन के स्टाफ के संयुक्त प्रयास से इसे तत्काल रद्द कर दिया गया। जिन्ना तक यह प्रस्ताव पहुँचा ही नहीं और यदि पहुँचता, तो सम्भव था जिन्ना की प्रतिक्रिया इस देश का इतिहास बदल देती।

14 जून, 1947 को काँग्रेस कार्यसमिति में विभाजन के प्रस्ताव की स्वीकृति पर बोलते हुए गाँधीजी ने फिर एक बहुत महत्त्वपूर्ण बात कही थी जिसकी ओर किसी ने ध्यान ही नहीं दिया और जिसे राम मनोहर लोहिया ने इंगित किया है। गाँधीजी ने कहा था कि विभाजन पर सहमत हो जाने के बाद लीग और काँग्रेस आपस में बैठकर इसके क्रियान्वन की प्रक्रिया तय करें। अँग्रेज सरकार को इससे बिलकुल बाहर रखें। यह सुझाव वस्तुतः विभाजन रोकने की गाँधीजी की अन्तिम कोशिश थी। गाँधीजी ने सोचा था कि विभाजन की प्रक्रिया इतनी जटिल और अव्यावहारिक है कि जब दोनों दल बैठें, तो सम्भव है कि उन्हें यह बात समझ में आए कि वे कितना गलत कर रहे हैं, और वे अन्य किसी विकल्प पर विचार करें। माउण्टबेटन ने 'चाकू से केक काटने' की तरह भारत के टुकड़े करके बाँट दिये, जिससे लाखों जीवन नष्ट हुए, जो सम्भव है गाँधीजी के इस सुझाव से बच जाते।

गाँधीजी ने विभाजन का अन्तिम समय तक विरोध किया था। वह अकेले व्यक्ति थे जो अन्त तक हिम्मत नहीं हारे थे। गाँधीजी इस बात के लिए भी तैयार थे कि छोड़ो आजादी पर अभी विभाजन नहीं होने देंगे। लड़ना पड़ा तो अँग्रेजों से दस साल और लड़ लेंगे पर उनके दूसरे साथी थक चुके थे। सच तो यह है कि अन्तिम समय में गाँधीजी का साथ उनके सेनानायकों ने ही छोड़ दिया। गाँधीजी ने संघर्ष की यह ऊर्जा दंगों के पीड़ितों के बीच गाँव–गाँव भटकने में लगा दी। आजादी के दिन वह व्यक्ति दुखी, अकेला और बिलकुल विस्मृत था ।

शुरू–शुरू में पाकिस्तान के नायक मुहम्मद अली जिन्ना तो एक राष्ट्रवादी थे। 1905 में बंगाल विभाजन का विरोध करनेवाले, 1909 में मुसलमानों के लिए पृथक निर्वाचक मण्डल का विरोध करनेवाले, काँग्रेस के राष्ट्रवादी व प्रगतिशील विचारों का विरोध करने की वजह से सैयद अहमद को नापसन्द करनेवाले व हिन्दू–मुस्लिम एकता के दूत समझे जानेवाले गोखले, फिरोजशाह मेहता और तिलक का साहचर्य और उनसे शक्ति पानेवाले जिन्ना, बाद में पाकिस्तान के 'भौतिक जनक' बने। जिन्ना का बाद का यह वैचारिक व भावनात्मक रूपान्तरण बहुत से प्रश्नों को जन्म देता है। जब यह बात उठेगी कि जिन्ना ही विभाजन के जिम्मेदार थे तब ये प्रश्न भी उठेंगे कि उनके इस रूपान्तरण के लिए जिम्मेदार कौन था ? काँग्रेस क्यों अन्ततः उनके लिए सिर्फ एक हिन्दू पार्टी रह गयी और क्यों काँग्रेस का बहुमत उन्हें 'हिन्दू राज' लगने लगा ? अपने इंग्लैण्ड के 5 साल के प्रवास के बाद जब जिन्ना वापस भारत लौटे तो 1937 के चुनावों में उन्होंने काँग्रेस और लीग के साथ मिलकर चुनाव लड़ने की बात रखी।

काँग्रेस को तो यह गुरूर था और यह मानती थी कि देश के मुसलमानों का प्रतिनिधित्व करनेवाला वह एकमात्र राजनीतिक दल है, ऐसे में काँग्रेस ने जिन्ना की माँग को ठुकरा दिया। काँग्रेस की इस ठोकर ने जिन्ना के मूल और आन्तरिक तन्तु 'दर्प' को बुरी तरह आहत किया। कॉग्रेस की इस ठोकर का जवाब जिन्ना ने बाद में जीवन भर दिया। जवाब में जिन्ना काँग्रेस को राष्ट्रीय दल से हिन्दू पार्टी में 'रिड्यूस' करते चले गये। वह काँग्रेसी नेताओं को 'हिन्दू नेता' और काँग्रेस को 'हिन्दुओं की पार्टी' कहने लगे। जब भी काँग्रेस ने किसी बिन्दु पर पूरे भारत का प्रतिनिधि होने की बात कही, जिन्ना वहीं अड़ गये। जिन्ना का यह 'आहतदर्प' ब्रिटिश सरकार के अनुकूल था। जैसे–जैसे जिन्ना काँग्रेस को सिर्फ हिन्दुओं का प्रतिनिधि बनाते गये, ब्रिटिश सरकार, जिन्ना और मुस्लिम लीग को मुसलमानों की एकमात्र प्रतिनिधि मानती गयी। जिन्ना का आहतदर्प था जिसने कुर्सी पर बैठकर कानून के लिए लड़नेवाले एक वकील को धधकते हुए भारत के बीच से पाकिस्तान को जन्म देनेवाला बना दिया।

जिन्ना के विरुद्ध जवाहर लाल नेहरू की भावनाएँ ऊब और कडुवाहट से इस हद तक भर चुकी थी कि 'सर दर्द से मुक्ति पाने के लिए वह सर कटवाने' को भी तैयार थे। जिन्ना की 'सीधी कार्यवाही' के बाद पटेल सार्वजनिक रूप से विभाजन की बात करने लगे थे। मुसलमानों को उनके अन्दर हमेशा एक छुपा ढका हुआ कट्टर हिन्दू दिखता था। मुस्लिम लीग का आक्षेप है कि विभाजन मुख्यतः पटेल की भावनाओं का ही परिणाम था। कुल मिलाकर अन्त में हम कह सकते है कि वास्तव में सब विभाजन चाहते थे। विभाजन का दायित्व अन्ततः सब पर था। शायद सबसे अधिक अविभाजित भारत की जनता पर था जो अपनी जड़ता, निरीहता और असहायता में 'हैमलिन के बाँसुरी वादक के पीछे चलनेवाले मन्त्रमुग्ध चूहों' की तरह अपने नेताओं का अन्धानुगमन करती रही।

एक प्रकार से भारत विभाजन राष्ट्रीय आन्दोलन की अवांछित व विकृत परिणति थी। उस संघर्ष का न तो वह लक्ष्य था, न ही दिशा थी। देश स्वतः धीरे–धीरे उस तरफ चला गया जिधर उसे जाना ही नहीं था। वे लोग, वे शक्तियाँ, वे स्थितियाँ ही अन्तिम रूप से निर्णायक हो गयीं जो अविभाजित भारत में अलक्षित, अस्तित्वहीन पड़ी थीं। ऐसी स्वतन्त्रता किसी के स्वप्न में भी नहीं थी। स्वतन्त्र होने के नाम पर करोड़ों मनुष्य उन अधिकारों, सुविधाओं और स्वप्नों से भी वंचित हो गये जो स्वतन्त्रता से पहले उन्हें गरिमापूर्ण और विश्वसनीय तरीके से सहज उपलब्ध थीं।

भारत का विभाजन लाभदायक रहा या हानिकारक, इस विषय में बहुत मतभेद हैं। प्रो0 पर्सीवल स्पीयर का कहना है– "यदि विभाजन न हुआ होता तो आपस के झगड़ों के कारण देश की औद्योगिक प्रगति रुक जाती, भारत की पंचवर्षीय योजनाएँ सफल न होतीं, केन्द्रीय सरकार दुर्बल होती और नेहरू के आदर्शों का आधुनिक भारत न बन पाता।" अन्त में, वह लिखते हैं – " सैद्धान्तिक रूप से विभाजन के लिए कितना भी अफसोस क्यों न किया जाय परन्तु यह, सम्भवतः, आवश्यक था और इस आधार पर देश के बड़े हितों के पक्ष में भी। इसी प्रकार, डॉ. लालबहादुर वर्मा भी लिखते हैं– "यदि विभाजन न होता तो मुसलमान सर्वदा प्रधान स्थिति में रहते और अपने अधिकार से अधिक जीवन की सुविधाएँ प्राप्त करते, क्योंकि काँग्रेस के इतिहास को देखने से यही स्पष्ट होता है। देश की अखण्डता उसी समय लाभप्रद हो सकती थी जब

मुसलमानों को सन्तुष्ट करने की नीति के स्थान पर सभी के साथ समान व्यवहार करने की नीति अपनायी जाती। काँग्रेस ऐसा नहीं कर सकती थी। इस कारण देश के विभाजन पर अधिक दुःख नहीं होना चाहिए।" उनके कथनानुसार, "सम्पूर्ण देश में मुस्लिम प्रभुता अथवा भारत माँ का विभाजन– हमें इन दो बुराइयों में से एक बुराई को चुनना था, और इस दूसरी स्थिति को चुनकर, सम्भवतः, हमने एक अपेक्षाकृत अच्छी बुराई को चुना। कुछ भी हो, भारत–विभाजन एक सत्य है और भारतवासियों की भूल और राजनीतिक विवशता का परिणाम है।

मूल्यांकन –

खैर जो भी हो, स्वतंत्रता के पश्चात देश के सामने अनेक गंभीर समस्याएँ थीं और देशवासियों में उन सबका सामना करने का अदम्य उत्साह और साहस भी था। जनता को आशा थी कि अब शीघ्र ही उसके दुःखों का अंत हो जाएगा। अतः स्वाभाविक था कि स्वतंत्रता का उत्सव, आजादी का जश्न देश के कोने–कोने में मनाया गया। उत्सवों का सबसे बड़ा केंद्र था राजधानी नई दिल्ली, जहां सत्ता का हस्तांतरण हुआ। किंतु, यह सब हर्षोल्लास अधिक समय तक न चल सका। अगले ही दिन सांप्रदायिक दंगों के फैलने के समाचार आने लगे और राजधानी में शोक छा गया। अपनी मृत्युशैय्या पर रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने ठीक ही कहा था कि अंग्रेज अवश्य ही भारत को छोड़ेंगे "लेकिन कैसा भारत वे छोड़ेंगे, कितना दुःख भरा ? जब सदियों पुरानी उनकी शासन की धारा अंत में सूख जाएगी तो अपने पीछे वे कितनी दलदली और कितनी कीचड़ छोड़ जाएंगे।"

एक व्यक्ति जो कहीं भी स्वतंत्रता दिवस के हर्षोल्लास में शामिल नहीं हुआ था पर जिसकी अनुपस्थिति सबको खली थी वह थे गॉधी। थके–हारे राष्ट्रपिता इस दिन भी दिल में कितना ही संताप लिए राजधानी से दूर गांव–गांव पैदल चलकर सांप्रदायिक हिंसा की विभीषिका के सताए परिवारों के अवशेषों को सांत्वना और सहानुभूति बांट रहे थे। यदि किसी के सपने सबसे अधिक टूटे थे तो वह व्यक्ति भी गांधी थे क्योंकि उन्होने जीवन–भर प्रेम और अहिंसा का पाठ पढ़ाया था तथा शांतिमय अहिंसात्मक उपायों से देश की एकता की रक्षा करने और उसे स्वतंत्र कराने के लिए संघर्ष किया था, पर आज जब स्वतंत्रता के साकार होने का क्षण आया तो देश में शांति, प्रेम और अहिंसा नहीं, अपितु, घृणा, हिंसा और आतंक का साम्राज्य था। औरों के लिए भले ही यह विजय का क्षण रहा हो पर महात्मा गॉधी के लिए इससे अधिक दुःखदायी वातावरण और क्या हो सकता था जबकि उनकी आंखों के सामने उनके सभी आदर्शों का खून हो गया हो। जिस सांप्रदायिकता और घृणा के दानव के विरुद्ध गांधीजी जीवनभर लड़े थे, इसी के हाथों, स्वाधीनता के कुछ ही महीने बाद 30 जनवरी 1948 को उनके दैहिक जीवन का अन्त हो गया।

देश का विभाजन और सांप्रदायिक हिंसा भी स्वाधीनता संघर्ष की कहानी से अलग नहीं देखे जा सकते। यह भी मानना पड़ेगा कि स्वाधीनता के विहान का श्रेय किसी एक व्यक्ति को अथवा दल को नहीं दिया जा सकता। इसमें दो राय नहीं हो सकती कि देश में स्वतंत्रता का विहान लाने का सबसे अधिक श्रेय महात्मा गॉधी को तथा उनके नेतृत्व में किए गए कांग्रेस के विभिन्न राष्ट्रीय आंदोलनों को मिलना चाहिए। यह भी सच है कि संसार के इतिहास में यह पहला अवसर था जब बिना हथियारों और लड़ाई

के, अहिंसात्मक आंदोलनों के द्वारा, किसी परतंत्र देश ने इतने विशाल और शक्तिशाली साम्राज्य को सफलतापूर्वक चुनौती दी हो और सदियों की दासता के बंधनों से मुक्ति पाई हो। किंतु यह इतिहास के प्रति अन्याय होगा, यदि हम यह स्वीकार न करें कि जहॉ एक ओर स्वतंत्रता का श्रेय कांग्रेस को दिया जाता है, यह भी स्मरण रखना आवश्यक है कि जब स्वतंत्रता आई तो उनके पीछे अनेक कारण थे जैसे – अंतर्राष्ट्रीय परिस्थितियों का दबाव, रूस और अमरीका का ब्रिटिश सरकार पर जोर, महायुद्ध के बाद ब्रिटेन की क्षीण शक्ति, भारतीयों सेनाओं, पुलिस और अन्य राजकीय सेवाओं में असंतोष के आसार और उनकी अंग्रेजी शासन के प्रति वफादारी से उठता हुआ विश्वास जिसमें 1946 के नोसेना विद्रोह की प्रमुख भूमिका थी, आजाद हिंद फौज और नेताजी का शौर्य, वीरता और त्याग, 1942 का भारतीय जनता का "भारत छोड़ो" आंदोलन तथा उससे पहले के कांग्रेस के आंदोलन, क्रांतिकारियों के त्याग तथा उदारवादियों के प्रयास। अंग्रेजी शासन के प्रारंभ से ही स्वतंत्रता के लिए जितने भी व्यक्तिगत तथा सामूहिक, शांतिमय अथवा क्रांतिकारी, हिंसात्मक अथवा अहिंसात्मक प्रयास किए गए, त्याग किए गए, उनमें से प्रत्येक को इस स्वतंत्रता का श्रेय है, उनमें से प्रत्येक का योगदान महत्त्वपूर्ण है और जो शहीद हो गए तथा स्वतंत्रता के फलों का उपभोग करने के लिए नहीं रहे, उनका त्याग और योगदान और भी अधिक वंदनीय है।

वस्तुतः स्वतंत्रता सतत सतर्कता मांगती है। देश की सुरक्षा के लिए आवश्यक लड़ाई तथा राष्ट्र निर्माण की लड़ाई कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। इसलिए हम यह कह सकते है कि 15 अगस्त, 1947 को स्वतंत्रता–संघर्ष का इतिहास समाप्त नहीं हुआ।

******